श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम्

भाषा-विवरणोपेतम् (द्वितीयो भागः)

गीताप्रमाणं हिन्दूधर्म-निर्वचनम्

गीता का दूसरा अध्याय

(श्लोक १-३८)- 2

(भाष्य के रूप में हिन्दूधर्म का प्रमाणिक निर्वचन)

लेखक

डा० गिरिधारी लाल चतुर्वेदी

बृजरानी पब्लिकेशन, छत्ताबाजार, मथुरा

डा. गिरिधारीलाल चतुर्वेदी की पुस्तक 'श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम्', अधुनातन सन्दर्भों में हिन्दूधर्म का प्रामाणिक विवरण है. गीताभाष्य-परम्परा को इससे एक सर्वथा नया आयाम मिला है. भाष्य के साथ हिन्दी विवरण भी दिया गया है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है. संस्कृत भाषा में, सम्भवतः हिन्दी में भी, धर्मदर्शन के क्षेत्र में यह प्रथम कोटि का मौलिक योगदान है, इसमें कोई सन्देह नहीं है.

डा. शिवशेखर मिश्र
प्रौफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष,
संस्कृतविभाग, लखनऊविश्वविद्यालय

श्रीमद्भगवद्गीता के ऊपर अब तक लिखे गये शतशः ग्रन्थों के मध्य *श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्य* अपना अलग से वैशिष्ट्य रखता है. इसमें गीता से सम्बद्ध पारम्परिक समस्याओं से हट कर उन विषयों को उद्‌घाटित किया गया है जिनका आज के हिन्दूधर्म और उसकी समस्याओं के साथ गहरा सम्बन्ध है. इस प्रयास के द्वारा भगवद्‌गीता जैसे शाश्वत महत्त्व के ग्रन्थ का वर्ण्यविषय की दृष्टि से नवीनीकरण के साथ धर्मदर्शन की गहनतम समस्याओं के ऊपर आधुनिक दृष्टि से पुनर्विचारणा का अवसर प्राप्त होता है. इस महान प्रयास के लिए इसके लेखक श्री चतुर्वेदीजी की जितनी प्रशंसा की जाय, पर्याप्त नहीं होगी. वे सर्वथा हमारे साधुवाद के पात्र हैं.

डा. सत्यप्रकाश सिंह,
निदेशक, धर्महिन्दुजा अन्तर्राष्ट्रीय भारतीयविद्या
शोधसंस्थान, दिल्ली

डा. चतुर्वेदि-महाभागेन विरचितं श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यमवधानेन परिशीलितम्. परम्परायां प्राप्तस्य शास्त्रस्य वर्तमानसन्दर्भे क्रोडीकृतानां विवेचनानाञ्च साधुपरीक्षणं कृत्वा तुलनात्मकधिया धर्मदर्शनश्रितभाष्यं निर्मितमित्यविकलं तत्त्वमुदञ्चति. नानाविकल्पाक्षेपनिरसनपुरः सरमध्यवसायमण्डितमिदं गीताभाष्यपरम्परायामभिनवदृष्ट्याचुम्बितां पद्धतिमाश्लिष्यति. ग्रन्थस्यास्य विश्वस्मिन् समादरो भविष्यतीति मदीयः प्रत्ययः.

डा.अमरनाथपाण्डेयः
पूर्वाचार्याध्यक्षः, संस्कृतविभागः
काशीविद्यापीठम्, वाराणसी

श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-
भाष्यम् (भाग-2)

त्वदीय वस्तु गोविन्द
तुभ्यमेव समर्पये

श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम्

भाषा-विवरणोपेतम् (द्वितीयो भागः)

गीताप्रमाणं हिन्दूधर्म-निर्वचनम्

गीता का दूसरा अध्याय

(श्लोक १-३८)

(भाष्य के रूप में हिन्दूधर्म का प्रामाणिक निर्वचन)

लेखक

डा. गिरिधारी लाल चतुर्वेदी

बृजरानी पब्लिकेशन, छत्ताबाजार, मथुरा

बृजरानी पब्लिकेशन
२७६, गली सेठ भीकचंद
छत्ता बाजार, मथुरा
सहयोग : नीताप्रकाशन, नई दिल्ली

वितरक :

१. इण्डियन बुक डिपो,
अमीनाबाद, लखनऊ

२. मोतीलाल बनारसीदास
चौक, वाराणसी

प्रथम संस्करण : २००९

मूल्य रु. ३५०/-

सर्वाधिकार लेखक में सुरक्षित

मुद्रक : हरिओम ऑफसेट प्रेस. दिल्ली-32

आत्मनिवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता- धर्मदर्शनभाष्यम् के दूसरे और तीसरे भागों का प्रकाशन मेरे लिए एक सुखद अनुभव है. सन् १९९८ में इस ग्रन्थ का पहला भाग (प्रथमसंस्करण) का प्रकाशित हुआ था.अब लगभग १० साल के अन्तराल पर इस ग्रन्थ के अनुपद भाग प्रकाशित हो रहे हैं. अध्ययन और मनन के एक लम्बे सत्र का परिणाम है यह कार्य. इसका आकलन तो सुधीजन ही करेंगे. लेकिन इस अध्ययन परिकल्प के बारे में मेरे पास कहने को बहुत कुछ है, जिसे यहां थोड़े में ही कहूंगा.

मैंने गीता को जिस रूप में देखा है, उस रूप में उसे अभी तक किसी ने नहीं देखा. आचार्य शङ्कर से लेकर आज तक का गीता का लगभग १३०० साल का व्याख्या-इतिहास है. वाबजूद इसके कि यह हिन्दुओं का प्रतिनिधि शास्त्र है, न तो कभी किसी ने इसमें हिन्दूधर्म को पहचानने की कोशिश की है और न ही यह जानने की कि हिन्दू की आस्था या यों कहें कि गीताधर्म संसार के अन्य धर्मों से किस प्रकार अलग है. केरल में ईसाई और मुसलमानों का आगमन आचार्य शंकर के समय में हो चुका था. सिन्ध पर मुसलमानों का कब्जा और कश्मीर में इस्लाम का क्षिप्र प्रचार उनके लिए अपरिचित घटनाएं नहीं रही होंगी. धरती की आस्था के लिए इन आक्रामक चुनौतियों का संज्ञान लेने के बजाय, उन्होंने अपनी ताकत बौद्धमत के खण्डन में लगाई जो अपने अन्तर्विरोधों के कारण स्वयं दम तोड़ रहा था, और फिर एक ऐसी विचारधारा के प्रचार में अपना समय लगाया जो अपने समय के लिए अप्रासंगिकता में बौद्धमत से बहुत भिन्न नहीं थी.

मुस्लिम आक्रमण केवल एक राजनैतिक घटना नहीं थी. यह धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में एक अप्रत्याशित चुनौती थी. हिन्दू धर्माचार्य इसके लिए तैयार नहीं थे. वे दर्शन के सिद्धान्तों

की बारीक से बारीक सम्भावनाओं को उकेरने में माहिर थे, लेकिन जमीनी सच्चाई के साथ संवाद के लिए जिस वैचारिक अनुशासन की जरूत पड़ती है, वह न तो उनमें था और न ही उन्होंने कभी उसे विकसित करने की कोशिश ही की. अतः बाद में आए आर्यसमाज जैसे कुछ विरल अपवादों को छोड़ कर, इस्लाम और ईसाइयत के साथ हिन्दू वैचारिक-परम्परा का संवाद स्थापित नहीं हो सका.

दूसरों के साथ संवाद की बात दीगर, स्वयं अपनी आस्था को परिभाषित करने की दिशा में हिन्दू की उदासीनता आश्चर्यजनक लगती है. उसका धर्मचिन्तन, जाति और सम्प्रदाय की विभाजक प्रतिबद्धताओं से ऊपर उठ कर, अपनी व्यापक अस्मिता से जुड़ने का साहस नहीं कर पाता. सनातन धर्म के रूप में आस्था के व्यापक स्वरूप की अवधारणा तो थी, हिन्दू नाम से उसमें भेदार्थ का भी निवेश हुआ; लेकिन स्वरूप में इस भेदार्थ के अनुसंधान के लिए, 'विधर्म' की जो समझ चाहिए वह हिन्दुओं में नहीं थी. इसके लिए कोई गम्भीर प्रयास भी नहीं हुए.

अतीत में कुमारिल भट्ट जैसे विद्वान् हुए, जिन्होंने बौद्धमत का खण्डन करने के लिए, वर्षों नालन्द में रह कर बौद्धमत का प्रामाणिक ज्ञान अर्जित किया. मुस्लिम दौर में कोई कुमारिल भट्ट पैदा नहीं हुआ. परिवेश से विमुख, हिन्दूमनीषा सदियों तक अपने ही सम्प्रदायों के दलदल में उछलकूद करती रही. तत्त्वदर्शन के बंधे बंधाए दायरे में उलझते रहना, घिसेपिटे सवालों को फिर फिर घिसना, जिसे पण्डित लोग बडे गर्व से शास्त्रार्थ कहते हैं, एक कृत्रिम बुद्धिविलास था, उस मेधा की अन्तिम शरणस्थली जो वास्तविक सामाजिक और बौद्धिक चुनौतियों का सामना करने का साहस खो चुकी होती है. न्याय, वेदान्त और व्याकरण की गुत्थियों पर गुत्थमगुत्था करते ऐसे शास्त्रार्थ कभी कभार अब भी देखने को मिल जाते हैं. ये इस माने में उपयोगी हैं कि इन्हें देख कर सहज अन्दाजा लगाया जा सकता है कि संस्कृत पाण्डित्य परिवेश से दूर हटने की कितनी दूरी तय कर चुका है.

कर्तव्य के लिए पुकारते यथार्थ से मुंह मोड़ कर, तत्त्वदर्शन में पलायन और विश्रान्ति तलाशने की परम्परा हमारे यहां बहुत पुरानी है, लेकिन इसमें मील का पत्थर तो आचार्य शङ्कर का तत्त्वदर्शनपरायण गीताभाष्य ही है. इसने जिन वैचारिक तेवरों को जन्म दिया वे आज हिन्दूमानस का स्थायीभाव बन चुके है.

उपदेश के अवतरण के लिए गीता युद्धभूमि का चुनाव करती है. वह एक ऐसी परिस्थिति की कल्पना करती है जो युद्ध का कोई विकल्प नहीं देती. आततायी यदि आस्था से आततायी है तो उसके साथ युद्ध एक निर्विकल्प कर्तव्य बन कर सामने आता है. इससे बचने के अर्जुन के तर्क बौद्धिक मिथ्याचार हैं, जिसे गीता अपनी विशिष्ट शैली में 'प्रज्ञावाद' नाम देती है. जब बाहरी आक्रान्ताओं से धरती भूलुंण्ठित हो रही हो, देवालय ध्वस्त किए जा रहे हों, जब धर्मनिर्णय शास्त्रार्थ से नहीं तलवार से होने लगे हों, ऐसे समय में, कर्तव्यविमूढ़ हो चले राष्ट्र के लिए गीता के इस संदेश से बेहतर कोई मार्गदर्शन नहीं हो सकता. किन्तु विधि की विडम्बना, कि इसी दौर में आचार्य शङ्कर ने गीता पर तत्त्वदर्शनपरायण भाष्य लिख कर, गीता के रूप में प्राप्त कर्तव्यबोध के सनातन स्रोत को न केवल अवरुद्ध कर दिया अपितु उसे तत्त्वदर्शन में पलायन और साम्प्रदायिक संकोच के आकर ग्रन्थ के रूप में स्थापित किया. इसने उस स्वरूपसिद्ध मार्गदर्शन को, जो गीता भारतीय जनमानस के लिए दे सकती थी, मूल में ही अप्रासंगिक बना दिया .

जिस कौम के रहनुमा गीता जैसे कर्तव्योंद्बोधन के शास्त्र में भी वेदान्त तलाशते हैं, उस कौम को तो पराभव से भगवान् भी नहीं बचा सकता. हिन्दुओं के पराभव के इतिहास का सम्बन्ध कहीं न कहीं उसके वैचारिक-नेतृत्व की विफलता से है. इसे हिन्दू समाज के अतीत के विश्लेषण से समझा जा सकता है. वर्तमान तो इसका साक्षात् निदर्शन है.

गीतार्थ का इस प्रकार करवट बदलना, कर्तव्योद्बोधन के मार्ग से हट कर, उसका इस प्रकार तत्त्वदर्शन में अपक्रम एक अभूतपूर्व घटना थी. महाभारत की कर्तव्यभूमि को छोड़ कर उपनिषदों में अपने लिए आश्रय तलाशते गीतार्थ ने अर्जुन के मोह को नए सिरे से जीते हुए उसे एक शश्वद् जातीय विभ्रम का आकार दे दिया. आचार्य शङ्कर से जो चिन्तन परम्परा प्रारम्भ हुई, उसने भारतीय मानस को साम्प्रदायिक अन्तर्मुखता में दीक्षित किया और पलायन के पाण्डित्य में प्रवीण बनाया. हिन्दूमानस आज भी इससे उबर नहीं सका है. कर्तव्य की चुनौतियों के बीच तत्त्ववाद में पलायन और साम्प्रदायिक-अन्तर्मुखता यदि आज हिन्दूमानस का स्थायीभाव बन चुका है तो निःसंदेह इसमें आचार्यपरम्परा के दबदबे का खासा योगदान रहा है.

इस मानसिकता का ही परिणाम है कि आस्था की जीवन्त समस्याएं कभी भी हिन्दू विचारकों के लिए गंभीर गवेषणा का विषय नहीं बन सकीं. तत्त्वदर्शन उनकी सहज रुचि था.

आस्था की प्रामाणिकता की समस्या, बहुदेववाद के कारण आस्था के विघटन तथा एकीभाव में उसके उद्धार की समस्या, आलम्बन रूप में मूर्तिपूजा की प्रामाणिकता, जातिभेद तथा उसका अनैतिक तत्त्वदृष्टिविसंवादी रूप, अस्पृश्यता, धर्मान्तरण, आस्थाबहुत्व और धर्मसमुदायों के बीच सामञ्जस्य जैसी सामाजिक समस्याएं — हिन्दू धर्माचार्यों के लिए ये कभी विचार के लायक समस्या नहीं थीं. गीता ने अपने खास अन्दाज में, इनमें से अधिकतर समस्याओं को विचार का विषय बनाया गया है. किन्तु तत्त्वचिन्तनप्रधान भाष्यों में गीता की धर्मदर्शनकेन्द्रित दृष्टि धूमिल होती चली गई, इस हद तक कि तिलक, श्री अरविन्द, गांधी और विनोबा के भाष्यों में भी इसका उद्धार नहीं हो सका. यही हमारे गीता-चिन्तन की पृष्ठभूमि है, उसका प्रस्थान और औचित्यबिन्दु भी.

हिन्दूबहुत्ववाद और उसमें एकीभाव के आधारों का अनुसंधान :
गीता के धर्मचिन्तन की केन्द्रीय समस्या :

हिन्दूआस्था के विशाल, विविधताओं से परिपूर्ण परिदृश्य को एकरूपता प्रदान करने वाले सूत्रों का अनुसंधान उच्चकोटि के सिद्धान्त चिन्तन के बिना सम्भव नहीं. यह सिद्धान्तचिन्तन गीता को धर्मग्रन्थ से आगे बढ़ कर धर्मदर्शन के शास्त्र का रूप देता है. इस दृष्टि से यह कथन एक हद तक सही है कि गीता किसी धर्मविशेष का ग्रन्थ नहीं है. लेकिन एक हद तक ही, क्योंकि गीता का धर्मदर्शन बहुत्ववादी हिन्दूपरिवेश को पूर्वकल्पित करता है, उसी में सार्थक होता है. हिन्दूधर्म की विविधताओं को एक व्यापक दार्शनिक परिकल्प में समेंट कर ही कहा जा सकता है. इसको अभिधान देने के लिए ही गीताशास्त्र का अवतरण हुआ है. जिसके नाम तक को लेकर विवाद हैं, जिसकी अनेकरूपता से घबरा कर कुछ लोगों ने जिसे एक अनबूझ पहेली कहना शुरू कर दिया है, तो कुछ इसे धर्म कहने की बजाय संस्कृति कहना पसंद करते हैं, उस हिन्दूधर्म को बयान करना कितनी बड़ी सैद्धान्तिक चुनौती है इसे योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से बेहतर कौन जानता था.

भगवान् ने गीता में हिन्दूधर्म का ही उपदेश किया है, और हिन्दूधर्म के द्वारा विश्वधर्म का. हां यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि विश्वधर्म की यह अवधारणा किसी धर्मान्तरण के मिशन से जुड़ी नहीं है. **जो अपनी आस्था में प्रतिष्ठित रहते हुए दूसरों की आस्था का सम्मान करते हैं, बहुत्ववाद को राजनैतिक मजबूरी से नहीं आस्था से स्वीकार करते हैं, धर्मान्तरण के द्वारा अपनी आस्था के सामाज्यविस्तार की आकांक्षा नहीं पालते, वे जहां हैं विश्वधर्म के, गी**

या यों कहें कि हिन्दूधर्म के ही अनुयायी हैं, बिना किसी धर्मान्तरण के. आस्था के इस वैश्विक परिकल्प का व्याख्यान ही गीता के अवतरण का प्रयोजन है. इसके अतिरिक्त गीता कहने का कोई प्रयोजन उपपन्न नहीं होता.

गीतार्थ का वेदान्तीकरण : सम्पूर्ण उपक्रम की समीक्षर्हता :

संयोग से गीता की जो भाष्य-परम्परा आज उपलब्ध है, वह मूलतः वेदान्ताचार्यों की है, जिन्होंने गीता को तत्त्वमीमांसा का शास्त्र मानते हुए, संदर्भ-निरपेक्ष, साम्प्रदायिक भाष्यों का प्रणयन किया. वेदान्त के आचार्य (शङ्कर,रामानुज, निम्बार्क और वल्लभ) युगपुरुष थे, असाधारण प्रतिभा, पाण्डित्य और प्रभाव के धनी. इनका दाय इतना प्रभावपूर्ण है कि इनके बिना भारतीयदर्शन की, विशेषकर गीता पाण्डित्य की कल्पना भी नहीं बनती. फिर भी यह बात किसी समझदार आदमी के गले नहीं उतरेगी कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वेदान्त पढ़ाने के लिए गीता का उपदेश किया था, कुरुक्षेत्र का युद्धस्थल न तो वेदान्त के उपदेश के लिए उपयुक्त स्थान था और न ही अर्जुन के मन में इसके लिए कोई विशेष जिज्ञासा, और यह भी कि वेदान्त के उपदेश के लिए पहले से ही विशाल वाङ्मय उपलब्ध था.

कर्तव्यजिज्ञासा, जिसमें गीतोपदेश जनमता है, की सहज गति धर्मदर्शन है, तत्त्वदर्शन नहीं. आस्था का दर्शन, तथा उसके प्रकाश में हिन्दूधर्म का प्रामाणिक निर्वचन ही गीता का मौलिक प्रयोजन हो सकता है. लेकिन वेदान्त के हथौड़े से पीट पीट कर इन विभूतियों ने गीता की शक्ल इस हद तक बिगाड़ दी है कि उसका मूल प्रयोजन बमुश्किल ही पहचान में आता है. (विशेष विचार के लिए देखें, 'भाष्यभूमिका : श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम् — प्रथमो भागः).

गीता के वेदान्तीकरण का काम बड़ी ही होशियारी के साथ किया गया. गीता के महाभारत पाठ में, *'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ... ...'* यह अध्यायान्त पुष्पिका प्राप्त नहीं होती. ऐसा लगता है यह पुष्पिका बाद में जोड़ी गई है. इस पुष्पिका के द्वारा पहले गीता को उपनिषद् की पहचान दी गई, और बाद में उसे वेदान्त के प्रस्थानत्रयी में स्थान दे दिया गया. जो कभी सम्पूर्ण धर्मपरिवेश का शास्त्र था उसे एक तत्त्वदर्शनकेन्द्रित-सम्प्रदायविशेष के शास्त्र के रूप में बांध कर रख दिया गया. इस प्रकार गीता के माध्यम से, स्वयं गीता के मौलिक संदेश के विरुद्ध, दायित्वबोध से पलायन को प्रामणिकता की सुखद छाया

देता तत्त्वदर्शन, हिन्दूसमाज का ऐकान्तिक अभिनिवेश बन गया.

यह आचार्य शङ्कर की परम्परा की ही देन है कि कुछ लोग आज गीता में धर्म को नहीं, आइन्स्टीन और क्वाण्टम फिजिक्स को तलाश रहे हैं. अब तो स्थिति यह आ चुकी है कि दर्शन के कुछ विद्वान् बड़े गर्व से यह कहते सुने जाते हैं कि भारत में धर्मचिन्तन तो है ही नहीं; यहां तो जो कुछ है, तत्त्वदर्शन ही है. इस तरह की बातें धर्मनिरपेक्षी कानों को भले ही सुहावनी लगती हों, कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति इन्हें सहजता से नहीं ले सकता. परम्परा को नए सिरे से देखने की जरूरत है.

*   *   *

सन् १९९८ में **'श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शनभाष्यम्'** का पहला भाग प्रकाशित हुआ. इसके प्रकाशित होते ही मुझे यह एहसास हो गया था कि मैंने एक ऐसा काम अपने हाथ में ले लिया है जिसका रास्ता आसान नहीं है. प्रतिष्ठित परम्परा के विरुद्ध अपने मार्ग को परिभाषित करने के कारण इसे सहज स्वीकारा नहीं किया जा सकता. इससे भी ज्यादा मुश्किल वाली बात यह कि यह ग्रन्थ गीता में हिन्दू को तलाशता है, और धर्मनिरपेक्ष भारत में हिन्दू की बात करने से अधिक अलोकप्रिय कोई काम नहीं हो सकता. बात अंग्रेजी में कही होती तो भी कोई बात नहीं थी; संस्कृत और हिन्दी में उन समस्याओं को कुरेदना, जिन से आज का हिन्दू आंख नहीं मिलाना चाहता, संस्कृत में उन समस्याओं को उठाना जिनकी चेतना उसके पारम्परिक दायभाग में है ही नहीं, यह एक ऐसा अध्यवसाय है जिसे आसानी से पचाया नहीं जा सकता.

इस पुस्तक को लेकर जो बेचैनी देखने को मिली, उसमें कुछ भी अप्रत्याशित बात नहीं है. पुस्तक के पहले भाग की भाष्यभूमिका में मैंने इस अध्ययन परिकल्प के औचित्य की विस्तार से चर्चा की है. फिर भी इसके प्रकाशन के बाद जो सवाल उठे हैं, उनका संक्षेप में संज्ञान लेना जरूरी है.

इस अध्ययन के बारे में उठाई गई आपत्तियों पर विचार :

अभिनव भाष्यपरिकल्प को ले कर जो सवाल उठाए गए, उनमें पहला यह था कि गीता में कहीं भी 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है; प्राचीन शास्त्रों में भी इसका प्रयोग नहीं मिलता.

अतः हिन्दूधर्म के शास्त्ररूप में गीता का व्याख्यान अप्रामाणिक है.

यह कि गीता तो समस्त मानव जाति के लिए है, केवल हिन्दुओं के लिए नहीं. यह एक सार्वभौमिक शास्त्र है. इसे हिन्दूधर्मग्रन्थ की पहचान देने से इसका सार्वभौमिक स्वरूप व्याहत होता है. यह कि अपनी पुस्तक में अर्जुन के व्यामोह को हिन्दूव्यामोह मानते हुए, हिन्दुओं के वैचारिक विभ्रम और उससे उत्पन्न उनकी त्रासदी का जो व्याख्यान किया गया है, उसे अनुचित मानते हुए, एक समीक्षक ने उसे ''धर्मग्रन्थ में राजनीति उतारने'' की संज्ञा दी है. कुछ विद्वानों ने पुस्तक की शैली के बारे में सवाल उठाए हैं. उनकी दृष्टि में पुस्तक की हिन्दी अत्यन्त गरिष्ठ है और संस्कृत आलेख अनावश्यक. इन आपत्तियों के सन्दर्भ में मेरा निवेदन इस प्रकार है :

'हिन्दू' संज्ञा की प्रामाणिकता :

'हिन्दू' ***नाम, अभ्रान्त व्यवहार से प्रमाणित संज्ञा है, वस्तुनिष्ठ और निर्विकल्प.*** यह सही है कि 'हिन्दू' शब्द हमारे प्राचीन शास्त्रों में नहीं मिलता. इसकी ऐतिहासिकता अभी भी गवेषणा का विषय है. इतना तय है कि भारत में इसका व्यवहार हजार, बारह सौ साल से अधिक पुराना नहीं है. सम्भवतः इस देश के निवासियों के लिए यह अरबों का दिया नाम है जो कालान्तर में यहां के धर्म और संस्कृति के लिए रूढ़ हो गया.

जैसा कि होता है, वस्तु पहले आती है, नाम बाद में आता है, और प्रयोग की आवश्यकतानुसार भिन्न पर्याय भी ग्रहण कर लेता है. आज 'हिन्दू' शब्द भारतीयमूल के जिस आस्था-पटल को कहता है, वह इस शब्द के चलन के हजारों साल पहले अस्तित्व में आ चुका था. महाभारत में आस्था के इस भूतार्थ को 'सनातनधर्म' नाम दिया गया. महाभारत में स्थान स्थान पर जो कहा गया है, ***'एष धर्मो सनातनः',*** वह समान मूल्यों के अनुसंधान और उस पर आधारित व्यापक धर्मचेतना के आविर्भाव की प्रक्रिया को दर्शाता है. स्पष्ट है कि 'सनातनधर्म' शब्द, भारतीय मूल के सभी सम्प्रदायों के संग्रह और सहभाग के परासाम्प्रदायिक परिवेश का अभिधान बन कर सामने आया. **यह सनातनधर्म ही कालान्तर में ऐतिहासिक कारणों से हिन्दूधर्म कहलाया. लेकिन दोनों में एक बारीक अन्तर है जिसे समझ लेना चाहिए. 'सनातनधर्म' आस्था के अविविक्त स्वरूप को बताता है जब कि 'हिन्दू' नामधेय, समय की मांग के अनुसार**

स्वरूप और भेद दोनों को.

नाम दो बातें बताता है, स्वरूप और इतरव्यावृत्ति (भेद). *सनातनधर्म* शब्द महाभारत काल में प्रचलित समस्त धर्मपर्यायों में विद्यमान सामान्य मूल्यपरिवेश का नाम था. कोई ज्ञात धर्मसम्प्रदाय ऐसा नहीं था जो इसके बाहर छूटा हो. सनातन धर्म का कोई भेद-प्रतियोगी था ही नहीं. अतः *सनातनधर्म* शब्द धर्म के भेदविमर्श से रहित, शुद्ध स्वरूप का अभिधान बना. सातवीं शताब्दी के बाद, इस्लामधर्म एक समर्थ भेदप्रतियोगी के रूप में सनातनधर्म के सामने आ कर खड़ा हुआ. इसका संज्ञान लेते हुए, सनातनधर्म का नए सिरे से आख्यान जरूरी हो गया. इस प्रकार सनातन 'स्वरूप' में भेद के संग्रह को दिखाने के लिए हिन्दू शब्द चलन में आया. यह भेदसंग्रह, एक व्यावहारिक जरूरत थी, सनातनधर्म के लिए भी और भेदप्रतियोगी इस्लामधर्म के लिए भी. दोनों को इसी रूप में बहुत समय तक एक साथ रहना था.

भेदार्थसंवलित सनातनधर्म का ही दूसरा नाम है हिन्दूधर्म. स्वरूप और भेद को सटीक अभिधान देने के कारण भारतीयमूल के धर्मपटल के लिए 'हिन्दू' शब्द एक प्रामाणिक संज्ञा है. प्रामाणिक इसलिए क्योंकि यह नाम के जो काम हैं, स्वरूपाभिधान और व्यावृत्ति दोनों को बखूबी करता है. नाम का उद्भव अक्सर यादृच्छिक होता है. अक्सर संयोग से नाम आकर व्यक्ति के साथ जुड़ जाते हैं. इससे नाम की प्रामाणिकता पर कोई असर नहीं आता. जो नाम चलन में है और व्यक्ति के बारे में अभ्रान्त व्यवहार को जन्म दे रहा है, उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि यह अप्रामाणिक है, क्योंकि हमारे शास्त्रों में इसका प्रयोग नहीं मिलता.

हिन्दू अभिधान अशास्त्रीय है, विधर्मियों द्वारा दिया हुआ है, फारसी भाषा में यह दस्यु का पर्याय है, अतः इसका परित्याग कर दिया जाना चाहिए. इस मान्यता के मुख्य पुरोधा रहे हैं, स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा स्वामी करपात्रीजी महाराज. जहां स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू शब्द के स्थान पर ''आर्यधर्म'' और "आर्यसमाज" जैसे शब्दों के प्रयोग को चलन दिया वहीं स्वामी करपात्रीजी ''सनातनधर्म'' संज्ञा के पक्षधर थे. कहने की आवश्यकता नहीं कि ये प्रयोग बुरी तरह असफल रहे. सघन, विविधतापूर्ण हिन्दूपरिदृश्य को अभिव्यक्ति दे सके, यह सामर्थ्य इनमें से किसी भी शब्द में नहीं थी. इस बात को, भले ही जीवन के अन्तिम दिनों में ही सही, स्वामी करपात्रीजी महाराज ने महसूस कर लिया था. उन्होंने हिन्दू अभिधान को मान्यता ही नहीं दी अपितु उसका

लक्षण भी प्रस्तुत किया. हिन्दूधर्म शब्द एक निर्विकल्प प्रामाणिक संज्ञा है; इसे केन्द्र में रख कर गीताभाष्य के प्रणयन में कुछ भी अनुचित नहीं है.

गीता का हिन्दू-यथार्थ और उसकी सार्वभौमिकता का रहस्य :

गीता के विद्वान् उपदेशक यह कहते नहीं थकते कि गीता तो सार्वभौमिक शास्त्र है. यह केवल हिन्दूधर्म का ग्रन्थ नहीं है; यह तो सारी मानवजाति का शास्त्र है. गीता में हिन्दू अर्थ को तलाशने का अर्थ है उसकी गरिमा को हलका करके पेश करना, सार्वभौमिक स्वरूप से अलग करके, उसे एक सम्प्रदायिक पहचान देना. यह गीताचिन्तन की स्वस्थ दिशा नहीं हो सकती. इस भाष्य के बारे में अक्सर यह आपत्ति सुनने को मिली है.

गीता किस अर्थ में सार्वभौमिक है और किस अर्थ में एक हिन्दूशास्त्र, बिना यह विश्लेषण किए, इस तरह की बातें जो उपदेशकों द्वारा प्रचारित की जाती हैं, वाग्विलास मात्र हैं, निरर्थक और आत्मसम्मोहित; आत्मसम्मोहित कुछ उसी तरह जैसे हिन्दुओं में हर कोई महन्त अपने को जगद्गुरू कहने लगता है, बिना एक क्षण के लिए भी यह सोचे कि यह जगत् कितना बड़ा है और इस जगत् में उसे जानने वाले कितने हैं, और उनमें भी उसे गुरू मानने वाले कितने; निरर्थक इसलिए कि इतर धर्मावलंबी भी, कुछ अधिक ही गंभीरता के साथ अपने अपने धर्मग्रन्थ के सार्वभौमिक स्वरूप के बारे में वही सब कहते सुने जाते है, जो गीता के बारे में कहा जाता है. उनमें से कुछ संख्याबल के आधार पर, कुछ युक्तिकौशल से तो कुछ अपने सेवा और प्रचार के तंत्र के आधार पर, यह साबित करने को तुले रहते हैं कि उनकी किताब ही सार्वभौमिक स्वीकृति का अधिकार रखती है. कुछ तो जब तर्क से काम नहीं चलता, तलवार के बल पर यह साबित करने को तैयार रहते हैं कि 'हमारी किताब सारी दुनियां की किताब, हमारी किताब आखिरी किताब'.

अपनी अस्मिता को नकार कर सार्वभौमिक बनने की जो ललक हिन्दुओं में पाई जाती है, उसकी मिसाल दुनियां में अन्यत्र मिलना मुश्किल है. ये लोग इस बात को कब समझेंगे कि गीता की सार्वभौमिकता तभी परिस्फुटित होगी जब एक विविधतापूर्ण धर्मपरिदृश्य के तात्त्विक एकीभाव में उद्धार के शास्त्र के रूप में गीता को समझा जाय. यह हिन्दूधर्म ही है जिसका बहुत्ववादी परिवेश, एकीभाव के तात्त्विक विमर्श को अपरिहार्य बनाता है. गीता की सार्वभौमिकता का रास्ता हिन्दूधर्म से हो कर जाता है, यह एक वास्तविकता है, और यह भी कि हिन्दूधर्म को गीता के द्वारा ही समझा

जा सकता है. हिन्दूधर्म के असमाहार्य बिखराव को बांधने की, बांध कर प्रस्तुत करने की सामर्थ्य अगर किसी शास्त्र में है तो वह गीता ही है. गीता को इस दृष्टि से देखे जाने की जरूरत है.

अपनी ऐकान्तिक प्रतिष्ठा के लिए आग्रह करने से कोई धर्म (या धर्मग्रन्थ) सार्वभौमिक नहीं होता. उसकी सार्वभौमिकता का रहस्य इस बात में है कि उसमें किस हद तक, दूसरों की आस्था के साथ संवाद के सैद्धान्तिक आधार मौजूद हैं. संवाद के आधार से तात्पर्य है, आस्थाबहुत्व की स्वीकृति और उसके प्रति सम्मान के सैद्धान्तिक आधार. अपनी आस्था में दूसरों की आस्था के लिए जगह बनाने की सामर्थ्य, बिना किसी मिशनरी गतिविधि के ही उस आस्था को सार्वभौमिक बना देती है. यह अलग बात है कि इससे कुछ समस्याएं भी पैदा होती हैं.

आस्था में 'पर' की मान्यता जिस अन्तर्विरोध को जन्म देती है, उसका परिहार, अपने मूर्तिमान् विग्रह के परे, वस्तुतः समस्त धर्मविग्रहों से परे, आस्था के एक व्यापक निराकार सर्वधर्मसामान्य परमार्थ के अनुसंधान को अपरिहार्य बना देता है. यह अनुसंधान ही धर्मदर्शन का रूप लेता है. बहुत्ववाद, धर्मदर्शन का पूर्वकल्प है. बहुत्ववादी हिन्दू-संदर्भ में ही गीता जैसे धर्मदर्शन के शास्त्र का प्रणयन सम्भव हो सका. जो लोग आस्था के स्तर पर बहुत्वाद को स्वीकार ही नहीं करते, जिनके लिए अपने धर्मविग्रह के अतिरिक्त अन्य सभी धर्म शैतानी भटकाव हैं, ऐसे किसी ऐकान्तिक पुस्तकपंथ के परिवेश में गीता जैसे धर्मदर्शन के शास्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती. गीता की सार्वभौमिकता का रहस्य उसके बहुत्ववादी हिन्दूपरिवेश में ही मुखर होता है.

श्रीमद्भगवद्गीता : धर्मदर्शन का एकमेवाद्वितीय शास्त्र :

शास्त्र और सम्प्रदाय-बहुत्व के असमाहार्य हिन्दू-परिदृश्य को किसी एक किताब, एक अवतारी पुरुष या उपासना-पद्धति में नहीं बांधा जा सकता. धर्म या धर्मों की विविधता में एकीभाव विधान का नहीं, अनुसंधान का विषय होता है. यह अनुसंधान आस्था के उच्चतर तल को, दार्शनिकविमर्श को, या यों कहें कि धर्मदर्शन को जन्म देता है. उपासना तथा शास्त्रों के वैविध्य में एकीभाव के अनुसंधान का शास्त्र है श्रीमद्भगवद्गीता. एकीभाव के अनुसंधान की पद्धति (साधना) और फल दोनों का तलस्पर्शी निर्वचन होने से यह धर्मदर्शन के एकमेवाद्वितीय शास्त्र के रूप में उभर कर आती है. जिन्हें हमारे यहां धर्मशास्त्र कहा जाता है, मनुस्मृत्यादि, वे तो वस्तुतः धर्मविधान

हैं, धार्मिक कानून की किताबें. आस्था के दर्शन का शास्त्र तो संसार में एक ही है और वह है श्रीमद्भगवद्गीता.

गीता का यह रूप मुखरित होता, इससे पहले ही इसे उपनिषद् की पहचान पहना दी गई और वेदान्त के प्रचार में नियोजित कर दिया गया. भगवान् श्री कृष्ण को कृष्णद्वैपायन व्यास जैसे उत्तराधिकारी मिले जिन्होंने श्रीकृष्ण के उपदेश को अनवद्य छन्दोमय प्रस्तुति के द्वारा संसार को उपलब्ध कराया. कृष्णद्वैपायनव्यास का दाय अपनी चिन्तन परम्परा विकसित करता, इससे पहले ही बादरायणव्यास के शिष्यों ने इसे अपने हाथों में ले लिया, वेदान्त का प्रस्थानग्रन्थ बताते हुए इसकी अपनी पहचान को वेदान्त में आत्मसात् कर लिया. जिस तरह बादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्र को केन्द्र मान कर वेदान्त परम्परा विकसित हुई, उस तरह भगवान् श्रीकृष्ण और कृष्णद्वैपायनव्यास की परम्परा में, महाभारत के संदर्भों में जीवन्त, गीता-केन्द्रित धर्मचिन्तन की परम्परा विकसित नहीं हो सकी. अपने स्वरूप में गीता की मान्यता हो, धर्मदर्शन के आकर शास्त्ररूप में उसकी अपनी परम्परा विकसित हो, यही मेरे भाष्य लेखन का प्रयोजन है.

मौलिक स्वरूप के उद्धार की समस्या :

गीता के मौलिक स्वरूप के उद्धार का अर्थ है, वेदान्त की आरोपित पहचान से मुक्त, धर्मदर्शन के शास्त्र के रूप में गीता की प्रतिष्ठा. यह कार्य केवल अनिर्बन्ध गीता व्याख्यान लिखने से नहीं होगा, जैसा कि कुछ लोग समझते है. इसके लिए आवश्यक है एक स्वतंत्र शास्त्रानुशासन रूप में धर्मदर्शन की परिकल्पना, और वह भी शास्त्रभाषा अर्थात् संस्कृत में, ताकि परम्परा में उसकी प्रामाणिकता का आकलन हो सके.

प्रत्येक अभिनव शास्त्रानुशासन अपने साथ लाता है, एक अभिनव चिन्तन शैली, अपनी विशिष्ट शब्दावली और कहने का खास अन्दाज. गीता और महाभारत जैसे धर्मदर्शन के अप्रतिम शास्त्रों के वाबजूद, इनके आधार पर धर्मचिन्तन की कोई परम्परा उपलब्ध नहीं है. अतः धर्मदर्शन-भाष्य का लेखन, इन सब का संग्रह करते हुए, अनेकतलीय आलेख को परिकल्पित करता है.

यहां गीता भाष्यों के बीच एक नए गीता भाष्य का नहीं, बल्कि भाष्य के माध्यम से एक नए शास्त्रानुशासन का सृजन हो रहा है. एतदर्थ पारिभाषिक शब्दों का गढ़न, पुरानी शब्दावली

का नए अर्थों में नियोजन अपरिहार्य हो जाता है. जिन्हें चिन्तन का अभ्यास है, उन्हें कोई खास समस्या नहीं होगी, लेकिन जो अनभ्यस्त हैं, उन्हें नए विचारप्रत्यय, और अपरिचित शब्दावली के कारण भाषा और समझ की समस्याएं पैदा हो सकती हैं. इस ग्रन्थ को गीता पर किसी साधूसन्त का प्रवचन समझ कर कोई पढ़ता है तो यह उसकी गलती है. यह पुस्तक हिन्दू-आस्था की दार्शनिक विवेचना है. जिन्हें हिन्दूधर्म के बारे में जिज्ञासा है; इसके बिखराव और अव्यवस्था से विचलित, जो इसकी एकता के केन्द्र की तलाश में बेचैन हैं. ऐसे लोगों के लिए यह गीता-व्याख्यान निश्चित रूप से उपयोगी होगा.

* * *

चिन्तन के अखिल-भारतीय-माध्यम की समस्या :

यह ग्रन्थ गीता पर संस्कृतव्याख्या और उस पर हिन्दी विवरण के रूप में है. ग्रन्थ के द्विभाषी आलेख को ले कर कतिपय सवाल उठाए गए हैं. कुछ के लिए द्विभाषी लेखन अनावश्यक पुनरुक्ति है, कुछ के लिए परम्पराव्यामोह है, तो औरों के लिए अतिरिक्त भाषाज्ञान का दिखावा मात्र. वास्तविकता यह है कि इस शैली का वरण बहुत सोचविचार कर, आज के वैचारिक परिदृश्य में इसकी उपयुक्तता को ध्यान में रख कर किया गया है. आपत्तियों को देखते हुए इस उपयुक्तता का खुलासा करना आवश्यक है.

आज का वैचारिक परिदृश्य और भारतीय भाषाओं की स्थिति :

मेरे जीवन का बड़ा हिस्सा भारतीय दर्शन के एक ठेठ अनुसन्धान कर्मी के रूप में बीता है. इस अवधि में भारतीय चिन्तन और अनुसंधान के स्वदेशी माध्यम का अभाव मुझे अक्सर खलता रहा. मेरा अपना प्रारम्भिक कार्य अंग्रेजी में हुआ; कार्य की सराहना भी हुई, मान्यता भी मिली. अंग्रेजी में लेखन के अपने लाभ हैं; वह रचना को क्षेत्रीय संकोच से बाहर निकाल कर उसे अनायास अखिलभारतीय अपितु वैश्विक पाठक मंच से जोड़ देता है. वैश्विक मानकों पर आकलन, मान्यता, पुरस्कार, बड़ा बाजार और कल्पनातीत आर्थिक लाभ — ये ऐसे आकर्षण हैं, जिनके मोह को आसानी से छोड़ा नहीं जा सकता. सहज लाभ के प्रलोभनों से बंधा भारतीय बुद्धिजीवी तेजी से अंग्रेजी से जुड़ रहा है. संस्कृत और भारतीय दर्शन को अंग्रेजी में रूपान्तरित करके परोसा जा रहा है. अब

तो भारतीयों की एक ऐसी पीढ़ी तैयार हो गई है जो अंग्रेजी में ही कविता, कहानी और उपन्यास लिख रही है. सर्जनात्मक साहित्य, जिसका सहज माध्यम मातृभाषा ही हो सकती है, अंग्रेजी में लिखा जा रहा है, भले ही वह नितान्त कृत्रिम और सतही क्यों न हो.

भारतीय-भाषाओं की बढ़ती अप्रासंगिकता और मौलिक चिन्तन का दारिद्र्य :

भारतीय मनीषा के इस अन्धाधुन्ध अंग्रेजीकरण के जो विपरिणाम सामने आ रहे हैं, वे अप्रत्याशित नहीं हैं. इनमें पहला और सर्वाधिक दूरगामी विपरिणाम है, संस्कृतसहित सभी भारतीय भाषाओं की बढ़ती अप्रासंगिकता, परस्परभाव का क्षरण और अवसरों के अभाव में मौलिक चिन्तन का दारिद्रय. हीनभाव से ग्रस्त भारतीय भाषाएं आज खुद अपनी निगाहों में पिछड़े और गंवारों की भाषाएं हैं, जिनमें चिन्तन के नाम पर हैं राजनैतिक नारे और नारे जैसे ही सतही, प्रतिक्रियात्मक, जातीयविद्वेषमूलक साहित्य का अम्बार.

अप्रासंगिकता की त्रासदी से जनमी अगंभीरता, हिन्दी-चिन्तन की पहचान बन चुकी है.(अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में भी स्थिति कमोबेश ऐसी ही होगी ऐसा मेरा ख्याल है). अब विचारक होने के लिए, इतिहास, दर्शन और संस्कृत जैसी गंभीर, उपजीव्य विधाओं का अध्ययन जरूरी नहीं है. महज कहानीकार होना काफी है. अपने फूहड़ लेखन से साहित्य में कुरुचि की प्रतिष्ठा करने के बाद, कहानीकार से विचारक बने ये विचारक विचारों के जो गुब्बारे उड़ा रहे हैं, वे अपने आप में खासी मनोरंजन की सामग्री उपलब्ध करा रहे हैं, उनकी कहानियों की ही तरह. कुछ नमूने इस तरह हैं : 'हनुमान दुनियां के पहले आतंकवादी थे'. 'राम और हनुमान तो हुए ही नहीं; ये महज कवि-कल्पना हैं.' 'तुलसीकृत रामायण में लिखा है कि राम सुरापान करते थे'. 'मुहम्मद गजनवी एक महान् समाजवादी था; उसने सोमनाथ मंदिर पर जो हमला किया था, वह मंदिर तोड़ने के लिए नहीं बल्कि मंदिर की दौलत से अपनी रियाया की गरीबी दूर करने के लिए किया था.

' एक अन्य कहानीकार- विचारक ने विचार की और लम्बी छलांग लगाई. उनका कहना है कि 'मध्ययुग में हिन्दुओं के जो मंदिर तोड़े गए, वे आक्रान्ता मुसलमानों ने नहीं बल्कि मुसलमान बने दलितों ने तोड़े थे. मंदिरो का ध्वंस इस प्रकार इस्लामी विचारधारा का नहीं दलित आक्रोश का परिणाम था'. अब यह ढूंडना आपका काम है कि महमूद गजनवी की सेना में कितने दलित थे. (सच तो यह है कि इन तथाकथित विचारकों को मध्यकालीन इतिहास के इस मामूली तथ्य

की भी जानकारी नहीं है, कि मुस्लिम काल में धर्मान्तरण के बाद भी, दलित दलित ही रहा और आज भी है. (धर्मान्तरित मुसलमानों में भी निर्णयक हैसियत ऊंची जाति वालों की ही थी, विशेषकर राजपूतों की). थोड़े में कहें तो इस प्रकार का सतहीपन आज भाषायी चिन्तन की पहचान बन चुका है. निःसंदेह इस परिदृश्य में कुछ अपवाद भी हैं, लेकिन मोटे तौर पर स्थिति यही है कि विचारक के रूप में हमारे सामने ऐसे लोग हैं जिन्हें न कोई चिन्तन का प्रशिक्षण है, न इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा का ज्ञान. ऐसे लोग अपनी सतही बतकही से चिन्तन की शून्यता को भर रहे हैं

तथाकथित हिन्दूवादी-चिन्तन भी उतना ही सतही और अगंभीर है जितना आस्थाहीन कथाकार-चिन्तन. हाल ही में, द्रविण नेता करुणानिधि ने भगवान् राम की ऐतिहासिकता को नकारते हुए जब उन्हें एक कविकल्पना बताया, तो आस्थावान् लोगों का आहत होना स्वाभाविक था. यहां विचारशील धर्मवेत्ताओं के लिए एक सार्थक भूमिका के लिए अवसर था. उन्हें कलैगार करुणानिधि को गंभीर संवाद के लिए आहूत करना चाहिए था. समाचार पत्र और टीवी चैनलों के रूप में आज ऐसे सेंकडों साधन हैं, जो बड़े उत्साह से ऐसे संवाद को प्रायोजित कर सकते हैं. वैमत्य के साथ संवाद और शास्त्रार्थ हमारी परम्परानुमोदित पद्धति है. लेकिन इसका सहारा न ले कर, एक हिन्दूवादी महात्माजी ने, मुसलमानों की नकल करते हुए करुणानिधि के विरुद्ध मौत का फतवा दे डाला. नकल वही करते हैं, जिन्हें अपनी परम्परा की न समझ है, न उसमें आस्था. तथाकथित प्रगतिशील विचारक हों या साधूसन्त, सबके सब अपने उथलेपन को ही उलीच रहे हैं. निर्विशेष रूप में यह सतहीपन भारतीय चिन्तन की बढ़ती विपन्नता को रेखांकित करता है, जो अंग्रजी के वर्चस्व की तार्किक परिणति है, सीधी और अपरिहार्य.

हालत यहां तक पहुंच गई है कि हिन्दी में मौलिक चिन्तन के लिए शङ्कर-पुरस्कार जैसा प्रतिष्ठित पुरस्कार अब शब्दकोष और विश्वविद्यालयों की घिसीपिटी थीसिसों को दिया जा रहा है. यह मौलिक चिन्तन के अभाव से उपजी विवशता का पैमाना है. भारतीय भाषाओं का यह दारिद्र्य अंग्रेजी के वर्चस्व का सीधा परिणाम है, जो अपनी बेहतर सम्भावनाओं के कारण श्रेष्ठ प्रतिभाओं को अपनी ओर खींच रही है.

यहां सवाल केवल भाषा का नहीं चिन्तन की प्रामाणिकता का भी है. सम्प्रति अंग्रेजी में जो भारतीय विद्याओं का अध्ययन हो रहा है, वह तो नाम भर का भारतीय है. सच तो यह

है कि नाम को सार्थक करने भर की भारतीयता भी उसमें नहीं है, क्योंकि ऐसे समस्त उपक्रमों का उद्देश्य होता है, विदेशी पाठकों की रुचि के लिए देसी विचार व्यंजनों को परोसना, अन्तर-राष्ट्रीय बाजार में प्रचार, आर्थिकलाभ और पाण्डित्य के लिए विदेशी विद्वानों के प्रमाणपत्र हासिल करना. अंग्रेजी के माध्यम से एक ठेठ बाजारू किस्म का पाण्डित्य अस्तित्व में आ रहा है. इस काम में बहुत लोग लगे हैं, इनमें से दो उपक्रमों को मैं जानता हूं, जिन्होंने बाजार के पाण्डित्य के प्रसार में उल्लेखनीय योगदान किया है. एक है, आई.सी.पी.आर.(भारतीय दर्शन अनुसंधान परिषद्) और दूसरा है, स्वनामधन्य मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन. भारतीय भाषाओं को अप्रासंगिक और मुकम्मिल तौर पर निकम्मा बनाने में इन उपक्रमों ने यादगार काम किया है.

वह दिन दूर नहीं जब आने वाली पीढ़ी, अंग्रेजी में लिखी पुस्तकों से यह जाना करेगी कि हमारे शास्त्रों में क्या लिखा है. अंग्रेजी के द्वारा हम अपनी विरासत को किस तरह समझ रहे हैं इसका एक दिलचस्प उदाहरण कुछ दिन पहले सामने आया, जब स्वनामधन्य अखबारी विद्वान् खुशबन्तसिंह ने अपने नियमित कालम में बड़ी गंभीरता के साथ यह सवाल उछाला कि गायत्रीमंत्र में जो *स्वाहा* शब्द आया है, उसका अर्थ क्या है. यह अंग्रेजी के माध्यम से गायत्री मंत्र को पढ़ने का कमाल है कि खुशबन्तसिंह ने *स्वः* को *स्वाहा* करके पढ़ा और फिर अपने विभ्रमप्रसाद को हजारों हजारों अखबारी पाठकों में उदारतापूर्वक वितरित किया. इस तरह की चीजों को रोकने की कोई तो कोशिश हो. सफल हो न हो, वह हमारे जीवित होने का प्रमाण तो होगी.

संस्कृत सूत्रों पर भाषाविवरण : भारतीयचिन्तन के लिए एक आदर्श भाषाकल्प :

ऊपर गिनाई गई चुनौतियों का एक ही उत्तर हो सकता है : अधिक से अधिक मौलिक चिन्तन भारतीय भाषाओं में हो, संस्कृत में सारलेखन सहित. भारतीय भाषाओं के बीच सम्पर्कभाषा के रूप में अंग्रेजी के स्थान पर संस्कृत के प्रयोग को बढ़ावा दिया जाय. यही एक मात्र समाधान है. इसी आदर्श से अनुप्राणित है मेरा साम्प्रतिक लेखन. संस्कृत एक क्षेत्रीयभाषा नहीं है, भले ही उसके जानने वाले थोड़े ही रह गए हैं, संस्कृत में अखिलभारतीय वैचारिक संवाद की भाषा होने की समस्त सम्भावनाएं मौजूद हैं.

मेरी पूजी बहुत संक्षिप्त है, ज्ञान की भी और भाषा की भी. लेकिन जिस उद्यम में मैं इसका निवेश कर रहा हूं, उसकी दिशा और उद्देश्य बिल्कुल साफ हैं. चिन्तन के एक ठेठ भारतीय

विग्रह की स्थापना, जिसमें भारतीय चिन्तन, भारतीय भाषा में अपनी पहचान गढ़े. देशी, विदेशी भाषाओं में इसका अनुवाद हो, कोई आपत्ति नहीं, लेकिन मौलिक चिन्तन भारतीय भाषा में ही हो, जो संस्कृत सारलेखन के द्वारा अखिलभारतीय विद्वत्परिवेश से जुड़ा हो. इस प्रकार के लेखन से भारतीय भाषाओं में आत्मविश्वास जागेगा, पारस्परिक समझ बनेगी, मौलिक-चिन्तन के अवरुद्ध स्रोत खुलेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है. यही इस भाष्य-विवरण की द्विभाषी विधा के चुनाव का स्पष्टीकरण है.

* * *

गीता धर्मग्रन्थों के बीच एक धर्मग्रन्थ नहीं है. यह मूलतः धर्मदर्शन का ग्रन्थ है. यही इसके संदेश की सार्वभौमिकता का रहस्य है. यह अर्जुन के लिए, और उसके माध्यम से प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए, प्रामाणिक आस्था के अनुसंधान की पद्धति का उपदेश करती है. इस दृष्टि से इसे धर्म के विज्ञान का शास्त्र भी कहा जा सकता है. हिन्दूधर्म का बहुत्ववादी परिवेश इस विज्ञान की प्रयोगशाला है. यह बहुत कठिन जिम्मेदारी है. दुनियां का कोई दूसरा धर्म अपने को प्रयोगशाला बनाने की अनुमति नहीं देता. योग जैसी उपलब्धियां, जिनसे आज सारा संसार लाभान्वित हो रहा है, हिन्दुओं को आसानी से नहीं मिलीं. कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग की साधना-विधाओं का विकास सदियों तक चले अनुसंधानों का परिणाम हैं, जिनके क्रम में मंहगे प्रयोग और भटकाव के दौर भी शामिल हैं. अपने जातीय हितों के प्रति उदासीन रह कर आस्था के सार्वभौमिक अर्थ के अनुसंधान में हिन्दू मानस का समर्पण सम्पूर्ण और ऐकान्तिक था, इस हद तक कि इसकी कीमत अन्ततः हिन्दुओं को अपनी अस्मिता और स्वाधीनता को खो कर चुकानी पड़ी. गीता के उपदेश हिन्दू-प्रयोगशाला के निष्कर्ष हैं, इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी को उलझन नहीं होनी चाहिए.

गीता के अध्ययन के इन उपेक्षित पक्षों को ध्यान में रखते हुए मैंने ''श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शनभाष्यम्" की परिकल्पना की. पहले अध्याय की भाष्य-भूमिका में इस व्याख्या-परिकल्प के सैद्धान्तिकपक्ष का विस्तार से प्रतिपादन किया है. दूसरे अध्याय पर दो भागों में लिखा यह भाष्य, सिद्धान्त के परामर्श का, उसके व्यवहार का निकट निदर्शन है. इस प्रकार व्याख्याकल्प की स्थापना, तदनुसार दो अध्यायों पर भाष्य के द्वारा इसकी व्यावहारिकता के निदर्शन के साथ

यह कार्य सम्पन्न होता है. उम्र और सामर्थ्य ने साथ दिया तो आगे के अध्यायों पर लिखेंगे, लेकिन यह सम्भव न भी हो तो स्थापना की समग्रता पर कोई असर नहीं आता. सघन चिन्तन, वह एक श्लोक पर हो या एक अध्याय पर, अपने आप में सम्पूर्ण होता है. उससे यह अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि पूरे १८ अध्यायों पर लिखा जाए तभी इसका पूरा होना माना जाएगा.

गीता का दूसरा अध्याय न केवल कलेवर में बहुत बड़ा है अपितु इसका कथ्य इतना जटिल और विविधतापूर्ण है कि यह आसानी से किसी अध्ययन परिकल्प को स्वीकार नहीं करता. कथ्य के वैविध्य को मान्यता देते हुए, साम्प्रतिक व्याख्या में दूसरे अध्याय की अर्थराशि को ५ प्रकरणों में विभाजित करके अध्ययन का विषय बनाया गया है, जो क्रमशः आर्यधर्मसमारम्भ, सांख्यविचार, शास्त्रबुद्धिविचार, योग-विचार और स्थितप्रज्ञविचार — इन पांच परिच्छेदों का आधार हैं. इन परिच्छेदों के अपेक्षाकृत एकरूप-परिवेश में वैचारिक इकाइयों की पहचान करते हुए, उनमें प्राप्त श्लोकों की यथाक्रम व्याख्या की गई है.

द्वन्द्वात्मक-संरचना में गुम्फित, उक्त सम्पूर्ण अर्थ राशि आस्था के हिन्दू-परिवेश को रेखांकित करती है. व्यापक चिन्तन-परिवेश से व्याप्य-विचारैकक पर्यन्त चिन्तन की एकरूपता बनी रहे, इस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए अध्याय-भूमिका, उपोद्घात, परिच्छेद-समारम्भ और एकक-विमर्शों का समावेश किया गया है. इनमें कुछ पुनरुक्ति हो सकती है, लेकिन इससे जो लाभ है — विस्तृत चिन्तन का अपने व्यापक प्रयोजन की चेतना में सतत जागरण — उसको देखते हुए यह दोष उपेक्षणीय है. ये आलेख के तटबंध हैं, उसके सावधान प्रहरी. प्रहरी की हांक उबाऊ हो सकती है; जो सोने के आदी हैं उनके लिए परेशानी का सबब भी. किन्तु इससे प्रहरी की उपयोगिता कम नहीं हो जाती. इस ग्रन्थ को कोई कहीं से भी पढ़े, प्रामाणिक आस्था के अनुसंधान के मौलिक प्रयोजन की चेतना से जुड़े बिना नहीं रह सकता.

इस कार्य के प्रारम्भिक दौर में मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और बाद में भारतीयदर्शन-अनुसंधान परिषद से सम्बद्ध रहा. मेरा प्रथम कृतज्ञताज्ञापन इन संस्थाओं के ही लिए है, जिनकी सहायता से एक लम्बी अनुसंधानयात्रा का सूत्रपात हुआ, जो अभी तक चल रही है. वर्तमान रूप में यह कार्य एक विशुद्ध एकाकी अध्यवसाय है.

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को आचार्य पं. वंशीधरजी ने देखना प्रारम्भ किया. लेकिन गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण वे इसे अधिक समय नहीं दे सके. बाद में मेरे परम सुहृद प्रौफेसर भगवानदीन मिश्र (भाषाविज्ञान-विभाग, सागर विश्वविद्यालय) तथा प्रो. कृष्णकुमार मिश्र (संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) ने मनोयोग से पाण्डुलिपि को देखा और अपने मूल्यवान् सुझावों से मुझे उपकृत किया. प्रो. भूमित्रदेवजी (सम्प्रति कुलपति, मंगलायतनम् विश्वविद्यालय) के सुझाव और मार्गदर्शन में ग्रन्थ के पहले भाग के लिए, कठिन शब्दों का अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोष तैयार हुआ. मैं अपने इन विद्वान् मित्रों का ऋणी हूं, और हृदय से इनका आभार मानता हूं. मैं गीताप्रेस गोरखपुर का भी आभारी हूं जहां के पुस्तकालय और सन्दर्भग्रन्थों का मैंने खुल कर उपयोग किया है. श्री जगजीवन यादवजी, लगभग १० वर्ष से मेंरे इस कार्य से जुड़े हैं. मैं उनके योगदान को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूं और उनके उज्वल भविष्य की कामना करता हूं.

इस ग्रन्थ को पढ़ कर जीवन्त सन्दर्भों में गीतार्थ की और उसके द्वारा हिन्दूधर्म की वस्तुनिष्ठ समझ बनेगी, ऐसा लेखक का विश्वास है.

गिरधारीलाल चतुर्वेदी,
२७१, बिड़लाहाल, राणाप्रताप मार्ग,
मोतीमहल, लखनऊ-२२६००१

कार्तिक १५, संवत्-२०६५

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

आत्मनिवेदन ... १-१८

विषयानुक्रमणिका ... १९-३०

गीता का दूसरा अध्याय : एक भूमिका ... ३१-८२

उपोद्घातः ... ८३-९०

प्रथम-परिच्छेदः

आर्यधर्मप्रमुखः (श्लो. १-१०) ९१-१३७

परिच्छेद समारम्भः ... ९१ -९२

प्रथम एककः (श्लो. १-३) ... ९३-११०

भाष्यम् : ... ९३-९५

हिन्दी व्याख्या : ... ९५-११०

एकक विमर्श : ... ९५

१. 'तं तथा कृपयाविष्टम् ...' :
अर्जुन के शरीर और मन की अवस्था : एक रेखाचित्र ... ९५-९६

२. *'कुतस्त्वा कश्तलमिदं ... त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप'* :
आर्यधर्म की ओर आवाहन : प्राथमिक उपचार ... ९६-९७

२.१. व्याख्येय सन्दर्भ में 'आर्य' और 'अनार्य' शब्दों के अर्थ ९७

२.२. आर्य-जीवनादर्शों की पहचान ... ९८-९९

२.३. गीता में आद्योपदेश के रूप में आर्यधर्म की चर्चा के निहितार्थ ... ९९-१००

३. आर्य-जीवनादर्शों की ओर आवाहन हिन्दूधर्म के विस्मृतप्राय, जातीय-ऐतिहासिक स्वरूप का उद्बोधन : ... १००-१०१

४. धर्म की जातीय (कबीलाई) अवधारणाः जातीय आदर्शों का धार्मिकीकरण : धर्मदर्शन की दृष्टि से इसके निहितार्थ ... १०१-१०४

४.१. जातिभाव और इसके मूलतत्त्व : ... १०१-१०२
४.२ धार्मिक संस्कारों में रूपान्तरित जातीय आदर्शों की पहचान : ... १०२-१०३
४.३. आस्था के साकार (पुस्तकीय) विग्रह : उनमें
हिलोरें लेती वैश्विक वर्चस्व की कबीलाई आकांक्षा ... १०३-१०४
५. शास्त्रविजड़ित आस्था के उद्धार के लिए तत्त्वदर्शन और योग का उपदेश : १०४-१०५
६. हिन्दू की जातीय अस्मिता : आस्था में उसकी भूमिका : ... १०५-१०७
६.१. आस्था की द्वन्द्वात्मक-संरचना के स्थित्यात्मक धुरे के रूप में : ... १०५-१०६
६.२. तत्त्वदर्शन की विनियोग भूमि के रूप में : ... १०६-१०७
७. आर्यधर्म प्रस्थान :
उसके तारतम्य में दूसरे अध्याय में विषय प्रवर्तन का क्रम : ... १०८-११०
संग्रह और उपसंहार : ... ११०

द्वितीय एकक: (श्लो. १-१०) ... **१११-१३०**
भाष्यम् : ... **१११-११४**
हिन्दी-व्याख्या : ... **११४-१३०**
एकक विमर्श : ... **११४-११५**
१. अर्जुन की मुख्य चिन्ता ... **११५-११६**
२. श्रीकृष्ण के उलाहने के विरुद्ध अर्जुन का युक्तिवाद ... **११६-११७**
३. *'कथं भीष्ममहं संख्ये ...'* :
आर्यजीवनादर्शों के जीवन्त प्रतीक : भीष्म और द्रोण : ... **११७-११८**
४. प्रज्ञावाद : अर्थ और व्यवहार : ... **११८-१२३**
४.१. आदर्शों का प्रतिमाकरण : ... ११८-१२०
४.२. श्रद्धेय प्रतीकों का सुविधाजनक प्रयोग : ... १२०
४.३ भाषा के आलंकारिक प्रयोग के द्वारा आस्था का सन्नियमन : ... १२०-१२१
४.४. *'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके...'*
भैक्ष्यचर्या का रूमानी आकर्षण ... १२१-१२२
४.५. दुर्बल आस्था की अन्तिम शरणस्थली : ... १२२-१२३
५. प्रज्ञावाद के भावानुबंध : ... **१२३-१२४**
५.१. विभ्रम, दैन्य और क्षणस्थायि-समर्पण : १२३-१२४

५.२. प्रज्ञावाद एक विघटित व्यक्तित्व की त्रासदी : ... १२४
६. *"कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव"* :
मार्गदर्शन के लिए आर्त पुकार : ... १२४-१२८
६.१. श्लोक की व्याख्या : ... १२५-१२७
६.२. धर्मदर्शन की दृष्टि से श्लोक का महत्त्व : : ... १२७-१२८
७. *'न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात् ...'*
समर्पण के बाद भी पुनर्विचार : ... १२८-१२९
८. अर्जुन : जगद्गुरू का एक निराला शिष्य : ... १२९-१३०

तृतीय एकक: (श्लो. १०) ... १३१-१३७
भाष्यम् : ... १३१-१३२
हिन्दी व्याख्या: ... १३२-१३७
एकक विमर्श : ... १३२-१३३
१. **''सेनयोरुभयोर्मध्ये ...''** :
समस्याग्रस्त व्यक्तिक्षेत्र का निरीक्षण : ... १३३-१३४
२. *''तमुवाच हृषिकेश प्रहसन्निव भारत''* :
उदास, गुरुगम्भीर धर्मप्रवर्तकों की भीड़ में मुस्कुराते श्री कृष्ण का बिम्ब : ... १३४-१३५
३. आध्यात्मिक उपचार की सम्पूर्ण प्रक्रिया का एक बिम्ब में संग्रह ... १३५-१३६
४. सांख्य (तत्त्वज्ञान) के उपदेश की भूमिका : ... १३६-१३७

द्वितीय-परिच्छेद:

सांख्यबुद्धिविचार (श्लो. ११-३०) १३९-२५६

परिच्छेद-समारम्भ: ... १३९-१४८
प्रथम एकक: (श्लो. ११) ... १४९-१६०
भाष्यम् : ... १४९-१५०
हिन्दी-व्याख्या : ... १५०-१६०
एकक विमर्श : ... ११५०-१५१

१. गीता में आत्मविचार :
इसका मूल धर्मजिज्ञासा है, तत्त्वजिज्ञासा नहीं ... १५१-१५२
२. प्रज्ञा-प्रज्ञावादविवेक ... १५२
३. महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दावली : ... १५२-१५७
३.१. 'प्रज्ञावाद' का अर्थ : ... १५३-१५४
३.२. 'प्रज्ञा' का स्वरूप : ... १५४-१५५
३.३. 'पण्डित' शब्द का अर्थ : ... १५५-१५६
३.४. 'पण्डित' और 'तत्त्वदर्शी' : ... १५६-१५७
४. आत्मसन्दर्भ : संदेहवाद के विरुद्ध एक विश्वसनीय रक्षाकवच : ... १५७
५. आस्था की सार्वभौमिक प्रामाणिकता की समस्या : ... १५८
६. तत्त्वदर्शन में धर्म के सार्वभौमिक आधार की खोज : ... १५८-१५९
७. आत्मसन्दर्भ : आस्था का अप्रत्याख्येय, सार्वभौमिक आलम्बन : ... १५९-१६०
८. दूसरे अध्याय के ११वें श्लोक का केन्द्रीय महत्त्व : ... १६०

द्वितीय एकक: (श्लो. १२-१५) ... १६१-१७६
भाष्यम् : ... १६१-१६२
हिन्दी व्याख्या : ... १६२-१७६
एकक विमर्श : ... १६२-१६३
१. आस्था के सनातन मूल्यों का अनुसंधान : ... १६३-१६४
२. आत्मा की नित्यता : '*नत्वेवाहं जातु नासं...*' : ... १६४-१६५
२.१. शास्त्रीय निर्वचन : ... १६४
२.२. शास्त्रार्थ का सरल रूपान्तरण : ... १६४-१६५
३. व्याख्येय श्लोक के बारे में कुछ ध्यान देने योग्य बातें : ... १६५-१६६
३.१. विचारप्रत्यय की अभिनीत प्रस्तुति : ... १६५
३.२. पुनर्जन्म की मान्यता का संकेत : ... १६५
३.३. आत्म-विवेक की सक्रम अवधारणा : ... १६६
४. देहात्म-विवेक : आत्मविवेक का प्रथम विमर्श : ... १६६-१६८
४.१. '*देहिनोऽस्मिन् यथा देहे ...*' :
उपमा के द्वारा देहात्म-विवेक का उद्भावन : ... १६६-१६७

४.२. *'तथा देहान्तरप्राप्तिः'...* :
मृत्यु और पुनर्जन्म को संकेत में कहता निरापद शब्दचयन : ... १६७-१६८
४.३. विवेक का प्रज्ञा में रूपान्तरण (धीरस्तत्र न मुह्यति) : ... १६८
५. मन और इन्द्रियसंघात से आत्मा का पार्थक्य : ... **१६९-१७१**
५.१. आत्मविवेक का दूसरा विमर्श : उसके नैतिक पर्याय : ... १६९
५.२. *मात्रास्पर्शस्तु कौन्तेय...'* : 'मात्रास्पर्श' पद का अर्थ : ... १६९-१७०
५.३. *'मात्रास्पर्श'* एक ध्यान देने योग्य पारिभाषिक शब्द : ... १७०
५.४. इन्द्रियवित्त का ज्ञान में, ज्ञान का शील में रूपान्तरण : ... १७१
६. *'तांस्तितिक्षस्व भारत ---'* ... **१७१-१७२**
६.१. आत्मविवेक से प्राप्त प्राथमिक मूल्यबोध : ... १७१
६.२. ज्ञान के मूल्य में रूपान्तरण की प्रक्रिया : ... १७१-१७२
६.३. नैतिक मूल्य रूप में तितिक्षा का आकलन : ... १७२
७. मूल्य विमर्श के धरातल : तात्त्विक और लौकिक : ... **१७२-१७४**
७.१. तितिक्षा का सम्पूर्ण अर्थ : आपतित का विमूल्यन और स्वीकृति : १७३
७.२. अमृतत्व के द्वार खोलती तितिक्षा की साधना : ... १७४
८. 'यं हि न व्यथयन्त्येते...' ... **१७४-१७६**
८.१. तितिक्षा के द्विधा व्यवसाय : समभाव और धैर्य : ... १७४-१७५
८.२. अमृतत्त्व की साधना : ... १७५-१७६
संग्रह तथा विचार्यमाण प्रसंग के साथ संगति : ... **१७६**

तृतीय एकक: (श्लो. १६-१८) ... **१७७-२०४**
भाष्यम् : ... **१७७-१८२**
हिन्दी-व्याख्या : ... **१८२-२०४**
एकक विमर्श : ... **१८२**
(क) गीता का अपना तत्त्वदर्शन : ... **१८२-१९१**
१. तत्त्व की द्वन्द्वात्मक अवधारणा : *'नासतो विद्यते भावो ...'* :
'सत्', 'असत्' और 'भाव' की त्रिपुटी : ... **१८३-१८५**
१.१ सांख्य और वेदान्त से गीताचिन्तन का वैशिष्ट्य : ... १८४
१.२. सृष्टि की द्वन्द्वात्मक समझ : मौलिक हिन्दूदृष्टि : ... १८४-१८५

२. तत्वदर्शी : अन्तिम परिणति पर्यन्त जो द्वन्द्वात्मकता के मर्म को देख सके : ... १८५-१८७

२.१. *'अन्तः'* पद के अर्थ से प्राप्त 'भाव' और 'मूल्य' के विमर्श : ... १८५

२.२. 'भाव'-प्रपंच का निर्वचन : ... १८५-१८६

२.३. *'अविनाशि तु तद्विद्धि ...'* : आत्मा की दोहरी भूमिका : विमर्श के अनुयोगी तथा तज्जन्य 'भाव' के अधिष्ठान के रूप में : १८६-१८७

३. श्लोक *'अन्तवन्त इमे देहाः ...'* : ... १८८

३.१. तत्त्वदर्शन और युद्धविधि की एकीकृत प्रस्तुति : ... १८८

३.२. श्लोक के विचारबिन्दु : ... १८८

४. व्याख्येय श्लोक में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली : ... १८८-१९१

४.१. 'शरीरी', 'अविनाशी', तथा 'अप्रमेय' शब्दों के निहितार्थ : ... १८८-१८९

४.२. आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की गुत्थी : ... १८९-१९१

(ख) तत्त्वदर्शन से युद्धविधि की प्राप्ति : ... १९१-२०४

५. युद्धविधि से सम्बन्धित विचारबिन्दु : ... १९१-१९२

६. युद्ध के निर्णय में तत्त्वदर्शन का विनियोग और उससे उत्पन्न समस्याएं : १९२

७. गीता में इस प्रकार के प्रयोगों का सर्वेक्षण : ... १९२-१९३

८. समस्या का शास्त्रीय समाधान : ... १९३-१९४

९. तत्त्वचिन्तन के विनियोग की परिस्थिति : कर्तव्यविचार में तत्त्वदर्शन के लिए द्वार खोलता अर्जुन का स्वजन व्यामोह ... १९४-१९५

१०. मृत्यु के तथ्य को नकारता तत्त्वदर्शन : उससे उत्पन्न विसंगतियां ... १९५-१९७

१०.१. मृत्यु संघात की होती है, न कि शरीर या आत्मा की : ... १९६

१०.२. अर्जुन की चिन्ता अस्तित्व को लेकर है, आत्मा या शरीर को लेकर नहीं : ... १९७

११. तत्त्वज्ञान के द्वारा कर्तव्यविनिश्चय : प्रामाणिकता की समस्या : ... १९७-१९८

१२. आस्था में तत्त्वदर्शन का संग्रह क्यों जरूरी है? ... १९८

१३. प्रामाणिक विनियोग की शर्तें और सम्भावित दायरे : ... १९८-२००

१३.१. अवरोधनिवर्तक विनियोग : ... १९८

१३.२. तत्त्वदर्शन से साक्षात् मूल्यदोहन : ... १९९-२००

१४. धर्म में तत्त्वज्ञान के अप्रामाणिक विनियोग : ... **२००-२०४**

१४.१. कर्तव्यबोध का अपलाप :
अप्रामाणिक विनियोग का पहला प्रकार : ... २००-२०१

१४.२. श्रीमद्भगवद्गीता :तत्त्वदर्शन के कुयोग
के विरुद्ध चेतावनी का शास्त्र : ... २०१

१४.३. मिथ्याचार : तत्त्वदर्शन के दुर्विनियोग का दूसरा रूप : ... २०१-२०३

१४.४. विपर्यस्त कर्तव्यबुद्धि को जन्म देता तत्त्वदर्शन का तीसरा दुर्विनियोग २०४

संग्रह और उपसंहार : ... **२०४**

चतुर्थ एकक: (श्लो. १९-२१) ... **२०५-२१८**

भाष्यम् : ... **०५-२०७**

हिन्दी-व्याख्या : ... **०७-२१८**

एकक विमर्श : ... **२०७-२०८**

१. तत्त्वदर्शन की सन्दर्भचेतना में वापसी : ... **२०८-२११**

१.१. विकार : नैमित्तिक और स्वाभाविक : ... २०९

१.२. *'य एनं वेत्ति हन्तारं'* :
आत्मा में नैमित्तिक विकार का निषेध : ... २०९-२१०

१.३. *'न जायते म्रियते वा कदाचिद्...'* :
अविकार का निर्विशेष संग्रह : ... २१०-२११

२. आत्मा में कर्म-सम्बन्धों का निषेध :
निषेधविमर्श से प्राप्त द्वन्द्वात्मक तत्त्वदर्शन : ... **२११-२१५**

२.१. आत्मा के व्यावहारिक कल्प को मानने की अपरिहार्यता : ... २१२-२१३

२.२. मृत्यु का अर्थ : वह कौन है, जिसका जन्म और मृत्यु होती है?... २१४

२.३. *'वेदाविनाशिनं नित्यं ...'* :
विकारी-भावों की आत्मा में अनुपपत्ति : २१४-२१५

३. परमार्थ के अभिधान की समस्या : भाषा की सम्भावनाएं : ... **२१६-२१८**

३.१. गीता की पद्धति : ... २१६-२१७

३.२. *''कथं स पुरुष: पार्थ: कं घातयति हन्ति कम्''* : परमार्थ के
निर्वचन में अनुपपत्ति का सुविचारित प्रयोग : ... २१७-२१८

उपदेश के काव्यमय उपसंहार की भूमिका : ... २१८

पंचम एककः (श्लो. २२-२५) ... २१९-२४०

भाष्यम् : ... २१९-२२३

हिन्दी-व्याख्या : ... २२३-२४०

एकक विमर्श : ... २२३-२२४

१. श्लोक *'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय...'* :

शश्वदात्मा और नश्वर शरीर के बीच की गुत्थी : ... २२४-२२८

१.१. उपमा के द्वारा शरीरात्म-सम्बन्ध का निरूपण : ... २२५

१.२. आत्मा का अविकारी स्वरूप :

शरीर का आरोप और पुनर्जन्म की अवधारणा : ... २२५-२२६

१.३. *'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि ...'*

उपमाओं के द्वारा अविकार के अर्थ का सृजन : ... २२६

१.४. वाक्यार्थ का विशेषण में अवकुञ्चन : एक लम्बी

छलांग की तैयारी : ... २२७-२२८

२. श्लोक *'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्...'* : आत्मतत्त्व

के मनन प्रसंग का रेखाचित्र : ... २२८-२३२

२.१. *'अव्यक्तोऽयम्'* : आत्मा के नित्य स्वरूप का व्याख्यान : ... २२९-२३०

२.२. *'अचिन्त्योऽयम्'* : पूर्व श्लोक में आए *'सर्वगतः'* पद की व्याख्या : २३० २३१

२.३. *अविकार्योऽयमुच्यते'* :

पूर्व श्लोक में आए 'स्थाणुः' और 'अचलः' पदों की व्याख्या २३१

२.४. तत्त्वज्ञानोपदेश का काव्यमय उपसंहार : ... २३१-२३२

३. व्यक्तित्व के उद्धार में तत्त्वदर्शन के काव्य की विशिष्ट भूमिका ... २३२-२३६

३.१ व्यक्तित्व के बिखराव की समस्या : गीता में निदर्शन : ... २३३-२३४

३.२. धर्मविधानों में ढले, विकृत, एकांगी व्यक्तित्व : ... ४-२३५

३.३. व्यक्तित्वसंग्रह : विधि का नहीं उपचार का विषय होता है : ... २३५

३.४. गीता में व्यक्तित्व संग्रह की साधना : ... २३५-१३६

४. तत्त्वज्ञान का काव्यानुभव : व्यक्तित्व-संग्रह का सहज उपाय : ... २३६-२३७

५. **गीता :एक उत्कृष्ट दार्शनिक काव्य :** ... २३७-२४०

५.१. काव्यार्थ का उद्देश्यपूर्ण नियोजन : ... २३७-२३८

५.२. तत्त्वदर्शन का अभिनव भूमिका के लिए रूपान्तरण : ... २३९-२४०

उपसंहार ... २४०

षष्ठ एकक: (श्लो. २६-३०) ... २४१-२५६

भाष्यम् : ... २४१-२४४

हिन्दी-व्याख्या : ... २४४-२५६

एकक विमर्श : ... २४४

१. **आत्मा के बारे में वैनाशिक एवं पदार्थवादी मतों का संग्रह :** ... २४४-२४८

१.१. पूर्वोक्त निष्कर्ष के समर्थन में इसका प्रयोग : ... २४४

१.२. अनात्मवाद का दर्शन : ... २४५

१.३. पुनर्जन्म का सिद्धान्तः
आत्मवाद का अपरिहार्य अभ्यूह (corollary) ... २४५-२४६

१.४. *अथ चैनं नित्यजातं ... नत्वं शोचितुमर्हसि* : व्याख्या : ... २४६-२४७

१.५. वैनाशिक तत्त्वदृष्टि के संग्रह के निहितार्थ : ... २४७

१.६. श्लोक *'अव्यक्तादीनि भूतानि...'* :
आत्मा के विभिन्न तात्त्विक विनिश्चयों के बीच समान
आचारमूल्यों का अनुसंधान : ... २४७-२४८

२. **श्लोक** *'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं ...'* **:**
आत्मा की आश्चर्यसम्पदा : ... २४८-२४९

३. **श्लोक में आए 'आश्चर्यवत्' पद की व्याख्या :** ... २४९-२५३

३.१. आत्मा एक विराट् विरुद्धार्थ ग्रन्थि : ... २४९

३.२. दृष्य की विरुद्धार्थता : *'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्'* : ... २४९-२५०

३.३. श्रवण और निर्वचन की विरुद्धार्थता : ... २५०-२५१

३.४. विरुद्धार्थता अर्थावगति की : *श्रुत्वाप्येवं न वेद कश्चिद्* : ... २५१-२५२

३.५. द्वन्द्वात्मकता : आत्मा का आश्चर्यमूल : ... २५२-२५३

४. **उपसंहार का एक श्लोक :** *'देही नित्यमवध्योऽयं ...* ... २५३-२५५

४.१. पूर्वोक्त कथ्य का सूत्ररूप में संग्रह : ... २५४

४.२. आत्मशाश्वतवाद से प्राप्त निष्कर्षों का अनुमोदन : ... २५४-२५५

५. गीता का तत्त्वचिन्तन : उसके हिन्दूनिहितार्थ : ... २५५-२५६

उपसंहार तथा संगति ... २५६

तृतीय-परिच्छेदः

शास्त्रबुद्धिविभागः (श्लो. ३१-३८) ... २५७-३०६

परिच्छेद-समारम्भः ... २५७-२६२

प्रथम एककः (श्लो. ३१-३७) ... २६३-२८६

भाष्यम् ... २६३-२६७

हिन्दी-व्याख्या ... २६८-२८६

एकक विमर्श : ... २६८

१. सकामधर्माचरण : उसकी निसर्ग निश्चयात्मकता : ... २६८-२६९

२. न्यूनतम मूल मान्यताएं : ... २६९-२७३

२.१ काम्य में श्रेयबुद्धि : ... २६९-२७०

२.२. सामाजिक-व्यक्तित्व की परिकल्पना : ... २७०

२.३. श्लोक ***'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य ...'*** : व्यक्ति की वर्ण के रूप में पहचान : तन्निरूपित स्वधर्म की अवधारणा : ... २७०-२७१

२.४ कर्म का मूल्य में रूपान्तरण : धर्मशास्त्रों की भूमिका : ... २७१-२७२

२.५. ***'यदृच्छया चोपपन्नम् ...'*** : युद्ध में श्रेय की अनायास उपपत्ति : ... १७२-२७३

३. अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यम् ... व्यतिरेकी युक्ति : युद्ध से पलायन का अश्रेयस्कर रूप : ... २७३-२७७

३.१. ***'अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्'*** : ... २७४-२७५

३.२. ***'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'*** : ... २७६

३.३. *'भयाद्रणादुपरतं ...'* : निन्दा से उत्पन्न त्रास के दो रूप : ... २७६-२७७

४. *'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् ...'* : युद्ध का निर्विकल्प श्रेयान्वयन : ... २७७-२७८

५. **'स्वधर्म' और 'धर्मयुद्ध' : इन शब्दों के निहितार्थ :** ... २७८

६. ***'स्वधर्म'* के अर्थ : शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक :** ... २७९-२८०

६.१. वर्णधर्म ही व्यक्ति का स्वधर्म : धर्मशास्त्रों की व्यवस्था : २७९

६.२. गुण-कर्मोपादानों से प्राप्त स्वधर्मविनिश्चय : ... २७९

६.३. वर्णधर्म का यथार्थ-विसंवाद : ... २७९

६.४. स्वधर्म की मनोवैज्ञानिक (गत्यात्मक) अवधारणा : ... २७९-२८०

६.५. नैतिक निर्णयों के द्वारा अपने को परिभाषित करता 'स्वधर्म' : ... २८०

७. **धर्मयुद्ध का स्वरूप :**

'धर्मयुद्ध' और 'धार्मिक-युद्ध' में अन्तर ... २८०-२८३

७.१. धर्मयुद्ध का अर्थ : ... २८०-२८१

७.२ धार्मिक-युद्ध और उसकी मूल-मान्यताएं : ... २८१

७.३. धर्मशास्त्रों में धर्मबान्धवत्वाश्रित जातीय-अस्मिता (कौम) की अवधारणा का अभाव : ... २८१-२८२

७.४. अनन्यगत्या हिन्दूदायित्वबोध को वेवल आपद्धर्म का सहारा ... २८२

७.५. सिख पंथ का आविर्भाव : आपद्धर्म का निकट निदर्शन : ... २८३

८. **'धार्मिकयुद्ध' की आपद्धर्मरूप में मान्यता के निहितार्थ :** ... २८३-२८४

९. **महाभारत धर्मयुद्ध था, धार्मिक-युद्ध नहीं :** ... २८४-२८५

१०. **वर्णधर्म की अतिविशेष में विकृति :** ... २८५

संग्रह और उपसंहार : ... २८६

द्वितीय एकक: (श्लो. ३८) ... २८७-३०६

भाष्यम् ... २८७-२९१

हिन्दी व्याख्या : ... २९१-३०६

एकक विमर्श : ... २९१-२९२

१. ***'सुख दुःखे समे कृत्वा...'* : एक उलझन में डालने वाला परामर्श** ... २९२-२९४

१.१. सुख-दुःख को समान करने का अर्थ : ... २९३

१.२. प्राकृत मूल्यानुबंधों से विषयों को मुक्त करना ही उन्हें 'समान करना' है : ... २९३-२९४

२. फलश्रुति : *'नैवं पापमवाप्स्यसि'* ... २९४-२९५

३. **समत्वबुद्धि : योग की अवतरणिका :** ... २९५-२९६

४. **समत्वबुद्धि के बारे में आपत्तियां :** ... २९६-२९८

४.१ व्यावहारिक आपत्ति : ... २९६

४.२. मनोवैज्ञानिक आपत्ति : ... २९६-२९७

४.३ नैतिक आपत्ति : ... २९७-२९८

५. **आपत्तियों का प्रसंगोपात्त समाधान :** ... २९८-२९९

६. **विशेष विचार :** ... २९९-३०२

६.१. समत्वयोग : व्यक्तित्व के रूपान्तरण की साधना : ... २९९-३००

६.२. समभाव का अर्थ अगंभीरता नहींः : ... ३०१

६.३. समत्वाचार : दायरे और नैतिकता : ... ३०१-३०२

७. **प्रसंगसापेक्ष समाधान की अपर्याप्तता :** ... ३०२-३०३

८. **कर्मयोग के सिद्धान्त के विकास का क्रम :** ... ३०३-३०५

८.१. 'नित्यकर्म' की वैदिक अवधारणा :
'कर्मयोग' का ऐतिहासिक विचारबीज : ... ३०३-३०४

८.२ नित्यकर्म के विचारमूल का समत्वयोग में रूपान्तरण : ... ३०४-३०५

९. **समत्व की साधना :**
आस्था के परापुस्तकीय वैभव की ओर एक कदम : ... ३०५-३०६

सन्दर्भ-ग्रन्थाः ... ३०७-३०८

शब्दानुक्रमणिका ... ३०९-३१६

■ ■ ■

गीता का दूसरा अध्याय : एक भूमिका

श्रीमद्भगवद्गीता का दूसरा अध्याय अपने काव्यमय-आध्यात्म और आत्मा की अमरता के संदेश के लिए विशेष लोकप्रिय है. *'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'* तथा *'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः'* जैसे लोकप्रसिद्ध उद्धरण इसी की देन हैं. यह अध्याय आर्यधर्म की ओर आवाहन के साथ शुरू होता है. आर्यधर्म के जातीय (कबीलाई) मूल्य अर्जुन को आश्वस्त नहीं कर पाते. इस पृष्ठभूमि में अवतरित होते हैं 'सांख्य' और 'योग' के उपदेश, जो पारम्परिक आस्था को उसकी क्रमशः सार्वभौमिक और अन्तरंग सम्भावनाओं से परिचित कराते हैं. इस प्रकार, गीता का दूसरा अध्याय, आस्था के उस व्यापक द्वन्द्वात्मक फलक को प्रारम्भ में ही रेखांकित करके रख देता है, जो १८ अध्यायों के गीता धर्मचिन्तन का मूलाधार है. साम्प्रदायिक परिच्छित्तियों से मुक्त इस आस्थाफलक को हिन्दू नाम दिया जा सकता है.

आस्थाफलक के आविर्भाव की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का रेखांकन, आस्था के एकीभाव की समस्या का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, धर्म के परा-पुस्तकीय आदर्श की परिकल्पना तथा 'स्थितप्रज्ञ' में इसकी सिद्धि और निदर्शन — ये कुछ ऐसे विचारबिन्दु हैं, जो गीता धर्मदर्शन के निर्माण में इस अध्याय की केन्द्रीय भूमिका को रेखांकित करते हैं.

अध्याय का प्रयोजन और मुख्य कथ्य :

गीता का दूसरा अध्याय, हिन्दू आस्था के उस व्यापक आस्था-फलक के अनुसंधान और रेखांकन को समर्पित है, जिसे आस्तिक और नास्तिक, वैदिक और अवैदिक, वैनाशिक और

शाश्वतवादी सभी सम्प्रदाय स्वीकार कर सकते हैं. इस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए, दूसरे अध्याय में किसी अवतरित शास्त्र या पुरुष की मान्यता को आस्था के केन्द्र के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है. यहां तक कि ईश्वर की अवधारणा का भी इसमें कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है. उद्देश्य सुव्यक्त है. गीता का समारम्भ, न्यूनतम सहमति पर आधारित, आस्था के उस व्यापक फलक को रेखांकित करने को समर्पित है, जो वैदिक और अवैदिक, आस्तिक और नास्तिक सभी सम्प्रदायों को स्वीकार्य हो सके, जिसके व्यापक उत्संग में साम्प्रदायिक इकाइयां बिना विरोध और टकराव के अपने हिन्दू स्वरूप को सार्थक बना सकें.

* * *

अध्याय-संरचना :

७२ श्लोकों का, गीता का दूसरा अध्याय, अठारहवें अध्याय को छोड़ कर, जिसमें ७३ श्लोक हैं, विस्तार में सभी अध्यायों से बड़ा है. अध्याय न केवल विस्तार में बड़ा है अपितु वैचारिक दृष्टि से, यह गीता का सर्वाधिक चुनौती भरा, सर्वाधिक उलझा हुआ अध्याय है. इसका वस्तुगर्भ बेहद जटिल है, पारे की तरह बिखरने वाला पदार्थ, जो अध्ययन की किसी भी स्कीम (योजना) को सहज स्वीकार नहीं करता. एक विभाग का कथ्य दूसरे में इस तरह पिरोया हुआ है कि बुद्धि चकरा जाती है, विश्लेषण बुद्धि हार कर बैठ जाती है. अध्याय का कथ्य स्वयं अपने विभागवचन *'एषा ते ऽभिहिता सांख्ये... ...'* का भी पालन कर रहा है या नहीं इसे समझने के लिए भी एक व्याख्याकल्प की जरूरत पड़ती है. आश्चर्य नहीं कि आचार्य शङ्कर को दूसरे अध्याय के भाष्य के साथ एक लम्बी भूमिका देना जरूरी हो गया. नीचे दिए विश्लेषण से अध्याय की अर्थसम्पदा और उसकी जटिल संरचना को समझने में मदद मिल सकती है.

कथ्य के दो भाग :

७२ श्लोकों के इस अध्याय को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित करके देखा जा सकता है. (क) श्लोक १ से १० तक का भाग जिसमें अर्जुन आसन्न युद्ध के सम्बन्ध में अपनी आपत्ति का पुनराख्यान करता है, और इसके अनुपद (ख) भगवान् श्री कृष्ण का उपदेश जो, ११ से ले कर श्लोक ७२ तक अर्थात् अध्यायान्त तक चलता है.

(क) प्रथम भाग : अध्याय समारम्भ (श्लो. १-१०) :

१० श्लोकों का समारम्भ, अर्जुन को अपने अन्तर्द्वन्द को नए सिरे से रखने का अवसर देता है. पहले अध्याय के कथ्य का यह संक्षिप्त पुनराख्यान, दूसरे अध्याय को पहले अध्याय से जोड़ता है और कथा के क्रम को बनाए रखता है.

(ख) दूसरा भाग : मुख्य उपदेश (श्लो. ११-७२) :

इसके दो विभाग : सांख्यबुद्धि और योगबुद्धि : मुख्य उपदेश (११-७२) के मध्य यह विभाग-वचन आता है - ***"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु" — यह तेरे प्रति सांख्यबुद्धि कही गई, अब इस योगबुद्धि को सुन.*** यह ३९वें श्लोक का पूर्वार्ध है. उत्तरार्ध में विवेच्य विषय, योगबुद्धि के फल को बताया है. इस विभाग वचन से स्पष्ट है कि श्लोक ११ से ३८ तक सांख्य का उपदेश हुआ है. ३९वें श्लोक का पूर्वार्ध विभाग वचन है. इसके उत्तरार्ध से ७२ वें श्लोक पर्यन्त योग का निर्वचन है.

सांख्य और योग में प्रत्येक के अवान्तर विभाग :

१. सांख्य के अन्तर्गत 'शास्त्रबुद्धि-विभाग' : श्लोक ११ से ३८ तक सांख्य का उपदेश हुआ है. सांख्य के ही अन्तर्गत, अवान्तर विभाग की प्राप्ति होती है. ८ श्लोकों के इस विभाग को (३१-३८) हमने शास्त्रबुद्धि-विभाग नाम दिया है. कथ्य के वैशिष्ट्य तथा संक्रमबिन्दु की भूमिका के कारण सांख्यबुद्धि और योगबुद्धि के बीच शास्त्रबुद्धि विभाग की मान्यता, अर्थ के युक्तियुक्त विवरण के लिए अपरिहार्य हो जाती है.

२. योग के अन्तर्गत 'स्थितप्रज्ञ-विभाग' : मूल विभागवचन के अनुसार श्लोक ३९ से ७२ तक, ३४ श्लोकों का योगबुद्धि विभाग है. इसी के अन्तर्गत १९ श्लोकों का (५४-७२) स्थितप्रज्ञ प्रसंग आता है. सामान्यतया व्याख्याकारों ने इसे योग का ही फलितार्थ मानते हुए व्याख्या की है. किन्तु निकट से देखा जाय तो स्थितप्रज्ञविचार सांख्य और योग दोनों का सामान्य फलितार्थ है : ***यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते.*** अतः योगबुद्धि विभाग के अन्तर्गत स्थितप्रज्ञप्रसंग को अवान्तर विभाग के रूप में स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है.

दूसरे अध्याय के कथ्य का संग्रहीत विवरण :

उक्त भाग, विभाग और अवान्तर विभागों का संग्रह करते हुए, दूसरे अध्याय के ७२ श्लोकों के आभोग का विश्लेषित विवरण इस प्रकार बनता है.

१. **आर्यधर्म की ओर आवाहन**

२. **सांख्यबुद्धि-विचार**

३. **शास्त्रबुद्धि-विचार**

४. **योगबुद्धि-विचार**

५. **स्थितप्रज्ञ-विचार**

*　　　　*　　　　*

हिन्दूधर्म आस्था के शास्त्रनिबद्ध, एक आयामी धर्मों से अत्यन्त विलक्षण है, इस बात को सभी स्वीकार करते हैं. इसके बहु-आयामी विस्तार और वैविध्य से घबरा कर जहां निन्दक इसे एक 'अनबूझ पहेली' 'अन्तर्विरोधों का पिटारा' जैसे नामों से नवाजते हैं, वहीं इसके पस्तहिम्मत किशोरबुद्धि रहनुमा *'हिन्दूधर्म, धर्म नहीं, संस्कृति है',* यह कह कर इसका बचाव करते हैं. इस तरह के आतुर निष्कर्ष इस बात को रेखांकित करते हैं कि हिन्दू-आस्था की संरचना को ले कर पर्याप्त सिद्धान्त चिन्तन अभी तक नहीं हुआ है.

हिन्दू-धर्म की द्वन्द्वात्मक-संरचना :

आस्था की संरचना दो प्रकार की हो सकती है. एक आयामी आस्था, जिसमें एक उपास्य, एक किताब और एक अवतारी पुरुष की मान्यता के द्वारा आस्था अपने एकीभाव को साकार करती है. इस्लामादि सामी-पृष्ठभूमि के धर्मों में तथा हिन्दुओं के अनेक सम्प्रदायों में आस्था के इस एक आयामी स्वरूप को सहज पहचाना जा सकता है. किन्तु जहां शास्त्रों के, उपासना, उपास्य और अवतारीपुरुषों के अपरिमेय बहुत्व के बीच एकीभाव की जिज्ञासा हो, वहां उसे किसी एक किताब, एक पैगम्बर या एक उपासनापद्धति में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता. बहुत्ववादी परिवेश में एकीभाव की सिद्धि द्वन्द्वात्मकविमर्श के द्वारा होती है.

द्वन्द्वात्मकता का मूल : आस्था में अनुभव (विवेक) का संग्रह :

शास्त्र और विवेक के सम्बन्ध के आधार पर संसार के सभी धर्मों का तीन कोटियों में वर्गीकरण किया जा सकता है. शास्त्रविरुद्ध अनुभव और विवेक अस्वीकार्य हैं, यह प्रथम कल्प है. आस्था का स्रोत केवल शास्त्र होने से शास्त्र और अनुभव का विरोध उपेक्षणीय है क्योंकि दोनों के क्षेत्र अलग अलग हैं, यह दूसरा तथा यह कि शास्त्र में अनुभव और विवेक के संग्रह की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहनी चाहिए. यह तीसरा कल्प है. इनमें प्रथम पक्ष इस्लाम का है, दूसरा ईसाई धर्म का और तीसरा हिन्दूधर्म का है. इस प्रकार, ईसाई, इस्लाम और हिन्दूधर्म आस्था के तीन आधारभूत प्रकारों का निदर्शन कराते हैं. यह वर्गीकरण सामान्यलक्षण के रूप में निर्विवाद है. यह अलग बात है कि इसके अन्तर्गत सम्प्रदायभेद से अलग अलग रुझानें देखने को मिलती हैं. हिन्दूधर्म के अन्तर्गत कुछ सम्प्रदाय ऐकान्तिक शास्त्रवादी हैं और इस रूप में वे इस्लाम या ईसाई मानसिकता के निकट हैं.

जातीय-पुरागाथाएं, आप्तपुरुष और उनके द्वारा प्रवर्तित शास्त्र सभी धर्मों का प्रारम्भ बिन्दु है. यह आस्था के शैशव काल को, उसके अपरिपक्व रूप को बताता है. यहूदी (जूडा) और इस्लाम धर्म आस्था के इस शैशव काल का सहज निदर्शन हैं, तो इसलिए कि उनका समस्त सृष्टि-चिन्तन और मूल्यबोध यहूदियों की कबीलाई पुरागाथाओं में रूढ़ हैं; इसमें से बाहर निकलने की बात वे सोच भी नहीं सकते. आस्था में विवेक के संग्रह की समस्या बाद की बात है और सभ्यता के विकास को परिकल्पित करती है. इसे सभ्यता के साथ आस्था के विकास के रूप में निरूपित किया जा सकता है. सभ्यता के विकास के साथ हिन्दूधर्म और ईसाइयत में इसके क्रमशः अलग अलग रूप देखने को मिलते हैं.

हिन्दूधर्म के एक पक्ष में, मीमांसादि सम्प्रदाय है, जो शास्त्रविधान के अतिरिक्त धर्म के किसी अन्य अर्थ में स्वीकार नहीं करते. अनन्तर, एक ओर वे मत आते हैं जो शास्त्रों में अनुभव का संग्रह करने का प्रयास करते हैं, तो दूसरे छोर पर बौद्धचिन्तन है जो 'शब्द' की प्रामाणिकता को नकारते हुए अनुभव को ही परम प्रमाण मानता है. इस सम्पूर्ण परम्परा का, जिसे कालक्रम में 'हिन्दू' नाम मिला, शास्त्र में अनुभव का संग्रह केन्द्रीय वैशिष्ट्य बन कर उभरा. समस्या यह थी कि ऐसा संग्रह बने कैसे? गीता आस्था के पारम्परिक, शास्त्रनिबद्ध स्वरूप को अस्वीकार

नहीं करती. किन्तु अनुभव में उसके उद्धार के लिए, सांख्य(तत्त्वदर्शन) और योग की साधना पद्धतियों का उपदेश करती है. इस प्रकार आस्था की एक द्वन्द्वात्मक संरचना जनम लेती है. इस संरचना का निरूपण ही दूसरे अध्याय का प्रतिपाद्य है.

आस्था की द्वन्द्वात्मकता का अर्थ : द्वन्द्वात्मकता उस प्रक्रिया का नाम है जिसमें एकीभाव 'स्व' में विजड़ित हो कर नहीं रह जाता, अपितु 'पर' के विमर्श के द्वारा उच्चतर चेतना में जागृत होता है. स्पष्ट है कि यहां आस्था की ऐकान्तिक आलम्बननिष्ठा इतनी ऐकान्तिक नहीं होती कि वह विवेक के प्रति भी निरपेक्ष हो जाय. विवेक को स्वीकार करते ही आस्था में गुणात्मक अन्तर आ जाता है. आस्था में विवेक के संग्रह का अर्थ है दूसरे को मान्यता देना, दूसरे के वैमत्य के अधिकार को मान्यता देना. यह दोहरी मान्यता पूर्वशर्त है उच्चतर चेतना में आस्था के जागरण की. यहां से प्रारम्भ होती है विमर्श के द्वारा उच्चतर धरातल पर 'पर' का संग्रह करते हुए 'स्व' के पुनराख्यान की प्रक्रिया. जो लोग तलवार या मिशनरी गतिविधियों के द्वारा 'पर' के उच्छेद के द्वारा 'स्व' की ऐकान्तिक प्रतिष्ठा की बात करते हैं, उन्होंने तो सच पूछें तो कभी विवेक में आंखें खोली ही नहीं : *हमारी किताब के सिवा कोई किताब नहीं, हमारा धर्म ही एक मात्र प्रामाणिक धर्म है; उससे व्यतिरेक, वह धार्मिक हो या फिर विज्ञान से प्राप्त, कुफ्र है, शैतानी भटकाव है.*

जब शास्त्र उक्त रूप में विवेक से मुंह मोड़ कर अपनी ऐकान्तिक प्रतिष्ठा करता है, तो विध्वंस और आतंक ही निर्विकल्प धर्मपथ बनकर सामने आता है. देवप्रतिमाओं का विध्वंस, सांस्कृतिक धरोहर का विध्वंस, भिन्न मतावलंबियों का उत्पीड़न, लूट और हत्या — ये सब ठेठ पुस्तकपंथ में एक धार्मिक अनुष्ठान का रूप ले सकते हैं. इधर, अपने घरों के वीसीआर और टेलीविजन सैटों को सरे बाजार तोड़ कर, उनमें आग लगा कर ईमान की रक्षा का एक नया रूप भी सामने आया है. यह त्रासदी है उस ठेठ किताबी आस्था की, जो विध्वंस के सिवा अपने उद्धार का कोई और रास्ता नहीं जानती, जिसका हवामहल, मानवीय विवेक के हर उच्छ्वास पर थरथराने लगता है. आस्था को इस भय से मुक्त करने का सहज तरीका हो सकता है, उसमें मानवीयविवेक और संवेदनाओं का सुविचारित संग्रह.

आस्था में विवेक के संग्रह का प्रयास गांधी ने किया था. गांधी से पहले, कबीर और नानक जैसे सन्तों में, भक्त कवियों और सूफी सन्तों की परम्परा में इसे देखा जा सकता है. लेकिन

शास्त्रनिबद्ध, संस्थागत-आस्था में वैमत्य के संग्रह की परम्परा एक ठेठ हिन्दू तेवर है, जिसके क्रम को वैदिक वाङ्मय तक रेखांकित किया जा सकता है. आर्यों के कर्मकाण्ड-केन्द्रित वैदिकधर्म को यदि हम हिन्दूधर्म का ऐतिहासिक प्रस्थान बिन्दु मानें, तो उपनिषदों में ही जो वेद का ही एक भाग हैं, हमें कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था की झलक देखने को मिल जाती है. यह अनास्था उपनिषदों के तत्त्वानुसंधान को जन्म देती है, जो आत्मा की स्वरूपावगति को आस्था के परम प्राप्तव्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है. वेदान्तदर्शन में इन दोनों का संग्रह करने का प्रयास हुआ है. पुनः वैदिक कर्मकाण्ड और उपनिषदों के आत्मवाद, दोनों को नकारते हुए, जैन बौद्धादि श्रमण धर्मों का आविर्भाव होता है. इन अवैदिक परम्पराओं से प्राप्त उपासना और आचरण के मूल्यों को आत्मसात् करने का कार्य इतिहास और पुराणों के द्वारा सम्पन्न होता है.

वैमत्य के विवेकपूर्ण संग्रह की यह प्रक्रिया रुकती नहीं है. मुस्लिम दौर में सिखपंथ, और भक्ति के निर्गुण सम्प्रदाय तथा बाद में आए ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज जैसे आन्दोलनों में 'पर' की चेतना और संग्रह में साकार होती इस द्वान्द्वात्मकता को सहज देखा जा सकता है. यह द्वान्द्वात्मकता हिन्दूधर्म का, या यों कहें कि गीताधर्म का स्वरूप लक्षण है. इस द्वान्द्वात्मिका भूमि से जुड़े व्यक्ति के लिए प्रामाणिक-आस्था अनुसंधान का विषय होती है, जब कि एक ठेठ पुस्तकपंथ के लिए यह सिर्फ अनुपालन का विषय होती है; एक आयामी संरचना में आस्था स्वीकार या अस्वीकार का विषय होती है, अनुसंधान का नहीं.

यथोक्त द्वन्द्वात्मकता न केवल हिन्दूधर्म के असमाहार्य लगते विस्तार को एकात्मक आधार देती है अपितु संसार के सभी धर्मों के संग्रह के लिए एक माडल हो सकती है. गीता के दूसरे अध्याय के कथ्य का ऊपर दिया विश्लेषण, हिन्दू-आस्था की द्वन्द्वात्मक-संरचना का मानचित्र है, जो उसके विस्तार और विविधताओं को अपने में समेंटते हुए, उसे एक समग्र धर्मदर्शन का रूप देता है.

आस्था का जातीय, पुरागाथाकल्पित रूप : निकट से देखें तो सभी धर्मों के शास्त्र, किसी न किसी जातीय-परिवेश में जनमते हैं, जातीय पुरागाथाओं और उनके वीरपुरुषों को आप्त आदर्श के रूप में निरूपित करते हैं. उनके विधान जातीय परम्पराओं और रीतिरिवाजों को संहिताबद्ध करते हैं तथा वैभव और वर्चस्व की जातीय आकांक्षा को ही धार्मिक मूल्य के रूप प्रस्तुत करते हैं. जातीय अनुशासन के द्वारा, जहां सम्भव हो राज्यानुशासन के द्वारा ये पुस्तकपंथ अपने पुस्तकीय

विग्रह में आस्था (एकीभाव) को सुनिश्चित करते हैं.

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो संसार में सर्वत्र ही धर्म का प्राथमिक अवतरण जातीयचेतना के रूप में, तन्निरूपित समाजव्यवस्था के नियामक विधान के रूप में प्राप्त होता है. अर्जुन के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण के उपालम्भ में संकेतित 'आर्यधर्म' वस्तुतः उपलक्षण है धर्म के जातीय, नृतत्त्वशास्त्रीय समारम्भ का. गीता में इसकी एक अलग किस्म की भूमिका है, जिसकी चर्चा आगे करेंगे.

आर्यधर्म-चर्चा से गीतोपदेश के समारम्भ के निहितार्थ :

यह मात्र संयोग नहीं है कि गीता का दूसरा अध्याय, आर्यधर्म के जातीय आदर्शों की ओर आवाहन से प्रारम्भ होता है.

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥३॥

यह समारम्भ जहां गीता के धर्मचिन्तन को ऐतिहासिक तारतम्य देता है, वहीं अर्जुन की दृष्टि में आर्यधर्म की समीक्षार्हता ही उसे गीतोपदेश का प्रस्थानबिन्दु बनाती है. अपने आर्य पूर्वजों के आदर्शों की पुकार के प्रति बेचैन करने वाली अर्जुन की बेरुखी श्रीकृष्ण को विवश कर देती है, आस्था की एक ऐसी अवधारणा का उद्घाटन करने के लिए, जो असंदिग्ध हो, सार्वभौमिक होते हुए भी वैयक्तिक संदर्भों के प्रति संवेदनशील हो. आर्यधर्म की समीक्षार्हता, तदुपलक्षित पारम्परिकधर्मों की समीक्षर्हता ही गीतोपदेश का प्रवृत्तिनिमित्त है.

जातीय सन्दर्भ : आस्था की द्वन्द्वात्मक-संरचना का स्थित्यात्मक धुरा :

हिन्दूधर्म में आस्था के इस नृतत्त्वशास्त्रीय उपादान की एक विशेष भूमिका है. जूडा, ईसाई और इस्लाम जैसे ठेठ पुस्तकपंथों में जातीय इतिहास और पुरागाथाओं से प्राप्त मूल्य धर्म के परमार्थ रूप में प्रतिष्ठित हैं. इससे सर्वथा भिन्न, गीताधर्म में, तदनुसार हिन्दूधर्म में यह आस्था की संरचना का स्थित्यात्मक धुरा है. इसके विरुद्ध प्राप्त वैमत्य का विवेकपूर्ण संग्रह आस्था की

द्वन्द्वात्मक संरचना को जन्म देता है. आर्यधर्म की ओर आवाहन स्थित्यात्मक सन्दर्भ है, जब कि उसके प्रति अर्जुन की उदासीनता अपेक्षित निमित्त, जिन्हें परिकल्पित करते हुए गीता में सांख्य और योग के उपदेशों का अवतरण होता है.

लुप्तप्राय जातीय सन्दर्भ :

उसके बिना गीतार्थ और हिन्दूधर्म को समझने की समस्या : यह एक विचित्र विरुद्धार्थग्रन्थि (पैराडाक्स) है, कि पद पद पर जातीयविभाजनों से संत्रस्त हिन्दूधर्म की अपनी कोई जातीय चेतना शेष नहीं है. वर्णव्यवस्था इसका प्रमुख कारण माना जाता है. इसका एक दूसरा कारण भी है, जिसकी ओर कम ही ध्यान जाता है. हिन्दुओं की जातीय अस्मिता के क्षरण का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है आस्था के केन्द्र में तत्त्वदर्शन (वेदान्त) की प्रतिष्ठा.

तत्त्वदर्शन (वेदान्त) की निरपेक्ष प्रतिष्ठा हिन्दुओं की जातीय अस्मिता को तो इस तरह लील गई जैसे वह कभी थी ही नहीं. तत्त्वदर्शन के व्यापक परिवेश में जातीय पहचानें धूमिल होती जाती हैं. इसमें कुछ भी अप्रत्याशित नहीं था. जो विचित्र बात थी वह यह कि तत्त्वदर्शन से स्थानच्युत जातीय अस्मिता ने हजारों टुकड़ों में विखण्डित हो कर हिन्दूसमाज के भीतर अपना स्थान बना लिया. आर्यरूप में या यों कहें कि हिन्दूभाव के रूप में जो प्रामाणिक जातीय सन्दर्भ था वह तो नष्ट हो गया, लेकिन भेदभाव की व्यवस्था के रूप में जो जातिवाद था वह बना रहा और दिनानुदिन मजबूत होता चला गया. आचार्य शङ्कर अपने अद्वैत तत्त्वचिन्तन के अनुकूल भेदभाव से मुक्त समाज-व्यवस्था का परिकल्प प्रस्तुत नहीं कर सके. उनके बारे में डा. अम्बेडकर की हताशा भरी कड़वी टिप्पणी को बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता. किन्तु निकट से देखें तो समाज की विभाजक जड़ता के सामने डा. अम्बेडकर का बुद्धिवाद भी उतना ही असफल, उतना ही असहाय दिखता है जितना आचार्य शङ्कर का अद्वैतदर्शन. कारण जरूर दोनों के अलग हैं.

आचार्य शङ्कर में व्यवस्था को चुनाती देने का साहस नहीं था तो डा अम्बेडकर का अतिसाहस उन्हें प्रतिक्रियात्मक जातिवाद की ओर ले गया. उनका बुद्धिवाद, उसकी समस्त मानववादी प्रतिबद्धताएं, उनके उग्र प्रतिक्रियात्मक जातिवाद के सामने एक कोने में खड़ी, निरर्थक और असहाय, चिन्तन के हाशिए की सजावट जैसी दिखती हैं. बाबासाहब अम्बेडकर को आज के भारत में जातिवाद के सबसे बड़े मसीहा के रूप में याद किया जाएगा. अम्बेडकर का यह

प्रतिक्रियात्मक-जातिवाद समाज के उन व्यापक दायरों में भी संक्रमित हुआ जो अब अपने को पिछड़ा वर्ग कहता हैं. अम्बेडकर ने मनु की व्यवस्था से लड़ने का नाटक किया, वास्तव में वे उसमें अधिकारों के हिसाब किताब को केवल नए क्रम से रख रहे थे. यह अलग बात है कि हिन्दू-समाज के विभाजन की इस अभिनव प्रक्रिया को तथाकथित धर्मनिरपेक्ष-राजनेताओं का भरपूर समर्थन मिला, क्योंकि वे मानते हैं, और उनका मानना एक हद तक सही है कि जातीय दायरों से मुक्त होते ही हिन्दू-अस्मिता, जो अभी तक सुप्त है, स्वतः मुखर हो उठेगी और तब वह धर्मनिरपेक्षी नेताओं से उसी प्रकार अपने साथ हुई ज्यादतियों का हिसाब मांगेगी जैसे आज दलित हिन्दूसमाज से मांग रहा है.

तत्त्वदर्शनाश्रित दृष्टि में कोई अपना पराया नहीं होता, शोषक और शोषित, आक्रान्ता और आक्रान्त, न्यायी और अन्यायी का भेद वहां नहीं बनता. *'यत्र सर्वमात्मैवाभूत्तत्र कः केन पश्येत्.* 'जिनके कान जन्म से ही सृष्टि की तात्त्विक एकता की बातें सुनने के अभ्यस्त हैं,, उपासनाबहुत्ववाद में अन्तर्निहित सहिष्णुता जिनका संस्कार है, जिनके लिए कोई काफिर नहीं है, ऐसे लोगों में आस्था पर आधारित जातीय चेतना को जगाना, इतिहास के क्रम में हुए अन्यायों के विरुद्ध समूहिक प्रतिकार के लिए उन्हें एकत्रित करना असंभव न भी हो तो एक बेहद मुश्किल काम जरूर है. मुसलमानों के शासनकाल में हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त किया गया. मंदिरों के स्थान पर बलात् मस्जिदों का निर्माण करा दिया गया. हिन्दूओं के साथ हुए अन्याय के इन प्रतीकों को हटाकर उनके स्थान पर पुनः मंदिर निर्माण की मांग में कुछ भी गलत नहीं है. किन्तु इस मांग का सर्वाधिक मुखर विरोध, मुसलमानों से कहीं ज्यादा हिन्दू ही कर रहे हैं. उनमें से कुछ तत्वचिन्तन-परायण यह कहते मिल जाऐंगे : "राम तो सर्वव्यापी हैं, अजन्मा हैं, उनके जन्मस्थान का मंदिर बनाने के लिए आग्रह क्यों? मंदिर और मस्जिद तो केवल उपासना भेद को बताते है. अयोध्या में मंदिर हो या मस्जिद तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं आता". कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दुओं के बीच इस प्रकार के सिद्धान्ताभास तत्त्वदर्शन के धर्मविसंवादी, अप्रामाणिक विनियोग का निकट निदर्शन हैं.

ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दूमानस के इस इतिहास-निरपेक्ष, परिवेशनिरपेक्ष, कर्तव्यपराङ्मुख तत्त्वदर्शन के विनियोगों के विरुद्ध ही गीताशास्त्र अपने चिन्तनपथ को परिभाषित

करता है. आस्था का जातीय प्रस्थान, उसमें आत्मालोचन की प्रक्रिया में स्फुरित तत्त्वचिन्तन, तन्मुखेन आस्था के सार्वभौमिक अर्थ में प्रवेश — आर्यों की जातीय आदर्शों के हिन्दूआस्था में रूपान्तरण की यात्रा — हिन्दू आस्था के द्वन्द्वात्मक विकास का इतिहास है जिसे गीता नापने का प्रयास करती है. इसमें परिकल्पित है उद्धार की दोहरी प्रक्रिया : जातीय आदर्शों का तत्त्वज्ञान के व्यापक सन्दर्भ में उद्धार तथा स्वयं तत्त्वज्ञान का इतिहास-चेतना के अनुशासन से प्राप्त दायित्वचेतना में नियोजन :

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥

इस अविनाशी, अप्रमेय, नित्य जीवात्मा के ये शरीर अन्तवाले कहे हैं. इसलिए हे भरतवंशी! तू युद्ध कर(१८).

यहां आत्मा के नित्य, अविनाशी स्वरूप के ज्ञान का विनियोग युद्धकर्तव्य के उद्धार में हो रहा है (तस्माद्युध्यस्व भारत). यह गीता में तत्त्वदर्शन के विनियोग की नियमविधि का निदर्शन है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप से इस नियम का विधान करती है कि जहां भी तत्त्वदर्शन का उपदेश हो उसे कर्तव्य के उद्धार के लिए होना चाहिए, उच्छेद के लिए नहीं. यह नियमन गीता का सुविचारित मन्तव्य है.

उक्त रूप में नियमन के द्वारा आस्था के स्थानीयविग्रह और सार्वभौमिक तत्त्वदर्शन के बीच परस्पर संवाद और उद्धार में साकार होती है प्रामाणिक आस्था के अनुसंधान की पद्धति. इस प्रकार अपनी ऐतिहासिक प्रतिबद्धताओं में जहां हिन्दूधर्म एक सिद्ध वस्तु है, वहीं प्रत्येक युग के लिए, उसकी सामाजिक, आध्यात्मिक मांग के अनुरूप प्रामाणिक आस्था के अनुसंधान के रूप में यह एक साध्य भी है, सिद्ध होनेवाली आस्था है. यह एक प्रक्रिया है जो युगप्रमाण आस्था की सिद्धि करके ही विरत नहीं हो जाती, जहां मांग है, बेचैनी है वहां व्यक्तिप्रमाण धर्म के अनुसंधान पर्यन्त चलती है. गीता में अर्जुन के धर्मसंकट के सन्दर्भ में आस्था की विभिन्न सम्भावनाओं (योगों) का आकलन वस्तुतः व्यक्तिप्रमाण धर्म के अनुसंधान की प्रक्रिया का ही निदर्शन है.

कुछ लोगों के लिए आस्था का ऐतिहासिक (जातीय) विग्रह ही धर्म का परमार्थ है तो कुछ के लिए यह प्रामाणिक आस्था के अनुसंधान की द्वन्द्वात्मक पद्धति का स्थित्यात्मक सन्दर्भ.

हर स्थिति में, किसी भी धर्म के स्वरूप को समझने की कुंजी है उसके ऐतिहासिक विग्रह की समझ. समस्या तब पैदा होती है जब कोई धर्म अपनी प्रामाणिक जातीय पहचान खो चुका हो और उसने उसके स्थान पर अनेक छोटी छोटी जातीय पहचानों की बुनावट ओढ़ रखी हो. हिन्दूधर्म के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है.

हिन्दूधर्म और उसकी जातीय अस्मिता :

हिन्दूधर्म के लिए ऐतिहासिक (जातीय) सन्दर्भ का महत्त्व तीन बातों में है : पहली यह कि जातीयविग्रह हिन्दू आस्था की द्वन्द्वात्मक संरचना का स्थित्यात्मक ध्रुव है, जिसके विरुद्ध ज्ञान और योग की साधनाएं अपना पथ परिभाषित करती हैं. जहां ज्ञान और योग की साधनाएं आस्था की संहिताबद्ध जड़ता का व्यापक सन्दर्भों में उद्धार करती हैं वहीं ऐतिहासिक विग्रह का अनुशासन यह तय करता है कि तत्त्वज्ञान का आस्था में विनियोग कब, कहां, कितना और कैसे हो. विरोधी ध्रुवों का यह संवाद ही आस्था की द्वन्द्वात्मकता है, स्वारस्य प्रामाणिक आस्था के अनुसंधान का.

जातियों वे जंगल से प्रामाणिक जातीय-अस्मिता को खोज निकालना, यह हिन्दूधर्म की पहली चुनौती है. दूसरी, सूक्ष्मतर चुनौती यह समझने और समझाने की है कि ऐतिहासिक (जातीय) सन्दर्भ और तत्त्वदर्शन हिन्दूधर्म की द्वन्द्वात्मक संरचना के दो ध्रुव हैं. इनमें से किसी एक को हिन्दूधर्म का परमार्थ समझने की गलती नहीं की जानी चाहिए. इस गलती का एक रूप तत्त्वदर्शन परायण वेदान्तचिन्तन में देखने को मिलता है तो दूसरा आर.एस.एस. और हिन्दूमहासभा के चिन्तन में, जो इतिहास और भूगोल को हिन्दूधर्म के लक्षण के रूप में प्रस्तुत करते हैं.

आधुनिक युग में हिन्दू-अस्मिता की तलाश :

आधुनिक युग में हिन्दू आस्था को परिभाषित करने के जो प्रयास हुए हैं, उनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती, वीर सावरकर तथा राष्ट्रिय- स्वयंसेवक-संघ का चिन्तन ध्यान देने के योग्य है. ये सभी विचारक सुसंगठित, कबीलाई धर्मों की असहिष्णु, परधर्मोच्छेदक, आत्मप्रसार की चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए, हिन्दूआस्था के तत्तद् उपादानों को केन्द्र में रखकर उसे एक संगठन के योग्य आकार देने का प्रयास करते हैं. इन सभी प्रयासों की एक युगसापेक्ष प्रामाणिकता है और औचित्य भी. किन्तु जहां तक हिन्दूआस्था के प्रामाणिक लक्षण की बात है, ये नितान्त

अपर्याप्त हैं, इसलिए नहीं कि हिन्दूधर्म अपरिभाष्य है अपितु इसलिए कि ये हिन्दूधर्म के बहुआयामी द्वन्द्वात्मक विस्तार को, उसके विलक्षण गत्यात्मक स्वरूप का संज्ञान नहीं ले पाते. ये हिन्दूधर्म को एक स्थिर, जातीय, भौगोलिक या सांस्कृतिक इकाई के रूप में परिभाषित करते हैं.

इन परिकल्पों में हिन्दूधर्म के केवल स्थित्यात्मक स्वरूप का ही संज्ञान लिया जा सकता है. किन्तु उसका जो गत्यात्मक पक्ष है, यह कि हिन्दूधर्म प्रत्येक युग के लिए, वस्तुतः देशकालविनिश्चित प्रत्येक चेतन बिन्दु के लिए, प्रामाणिक आस्था के अनुसंधान की पद्धति का नाम है, जिसमें उसका स्थित्यात्मक पदार्थ केवल उपादान का काम करता है, इस प्रकार की परिभाषाओं में सहज छूट जाता है. अतः इनके द्वारा परिभाषितकल्प हिन्दूधर्म का समग्र परिचय तो नहीं बन सके, किन्तु अपनी सामयिक प्रसंगिकता के कारण ये एक आन्दोलन को, हिन्दूधर्म के ही भीतर एक नए सम्प्रदाय को जरूर जन्म दे जाते हैं.

हिन्दूसमाज के सामने गंभीर सामाजिक और धार्मिक चुनौतियों के बीच आर्यसमाज आर्यों के मूल धर्म, वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा का संदेश देता है. उसके अनुसार, कालक्रम में एकत्रित होती अनार्ष परम्पराओं के बोझ से मुक्त, अपने मूल रूप में वैदिकधर्म हिन्दू आस्था का प्रामाणिक स्वरूप भी है और वर्तमान समस्याओं का समाधान भी. ज्ञातव्य है वैदिक धर्म आर्यों का जातीय धर्म रहा है, कुछ उसी तरह से जैसे इस्लाम अरब कौम का. धर्म के मुस्लिम और ईसाई प्रतिमानों को सामने रखते हुए आर्यसमाज आस्था के एकमात्र प्रामाणिकशास्त्र के रूप में वेद और अद्वितीय प्रामाणिक आस्था के रूप में वैदिकधर्म की प्रतिष्ठा करता है और वेदेतर समस्त वाङ्मय को अनार्ष तथा अश्रद्धेय मानते हुए, इस्लामी मूलवाद की तर्ज पर आर्यधर्म की ओर वापसी का संदेश देता है.

इसमें सन्देह नहीं कि वैदिकधर्म हिन्दूधर्म का मूलरूप है. इसका सरल विधान, जातीय श्रेष्ठता के आदर्श और उनसे प्राप्त प्रभुत्व और आत्मप्रसार की आकांक्षाएं, बहुत कुछ वैसी ही हैं जैसी ईसाई तथा इस्लाम आदि कबीलाई धर्मों की. अतः आर्यसमाज को इस्लाम तथा ईसाई धर्मों की आक्रामक, प्रसारवादी महत्वाकांक्षाओं की चुनौतियों से लगभग एक हजार वर्ष से जूझते, थके, असहाय हिन्दूधर्म का सामयिक रूपान्तरण कहा जा सकता है. एक लंबे अन्तराल के बाद, आर्यसमाज ने शुद्धि आन्दोलन के द्वारा अन्य धर्मावलंबियों के लिए हिन्दूधर्म के द्वार खोले और इस प्रकार आत्मरक्षा और आत्मप्रसार की जातीय आकांक्षा से हिन्दूधर्म को जोड़ा, जो अभी तक केवल मिशनरी धर्मों का विशेषाधिकार थी.

यह सब समय की आवश्यकता थी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, साथ ही इन्कार इस बात से भी नहीं किया जा सकता कि यह मूलवाद हिन्दूआस्था की प्रकृति नहीं है. जो धर्म, शास्त्र की समीक्षा, पुनर्व्याख्यान तथा युगप्रमाण मूल्यविधान के अनुसंधान की अनुमति देता है, वह धर्म कभी भी मूलवादी नहीं हो सकता. **हिन्दूधर्म में कुछ भी अनार्ष नही है. परम्परा में संग्रहीत उपादान(शास्त्र), देश, काल और पात्र के अनुसार केवल प्रासंगिक और अप्रासंगिक ही हो सकते हैं, आर्ष और अनार्ष नहीं समाज को राह दिखाने वाले युगद्रष्टा महापुरुष, किसी भी काल के हों, ऋषि कहलाने के अधिकारी हैं.** इनके द्वारा परम्परा की युगानुरूप व्याख्या आर्ष परम्परा का अंग है. आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द निःसंदेह ऐसे ही एक युगप्रवर्तक मनीषी थे जो मन्त्रदृष्टा वैदिक ऋषियों से चली आ रही, भगवान् बुद्ध, महावीर, कुमारिलभट्ट, शङ्कर प्रभृति आचार्यों के चिन्तन से समृद्ध, मध्ययुग में सन्त कवियों द्वारा पोषित तथा बलिदानी सिख गुरुओं द्वारा संरक्षित, आधुनिक युग में स्वामी रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द तथा श्री अरविन्द पर्यन्त अविकल ऋषि-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं. इनके बीच आर्ष अनार्ष का अन्तर करना नितान्त अनुचित है.

आर्यसमाज ने जो किया और जो वह कर सकता था वह यह कि वर्तमान की चुनौतियो को ध्यान में रखते हुए, वैदिकधर्म रूप में हिन्दू आस्था का ऐसा समसामयिक व्याख्यान प्रस्तुत करना जो सामने खड़ी चुनौतियों का मुकाबला करने में उसे समर्थ बना सके. वर्तमान युग में हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान में आर्यसमाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है. किन्तु जहां तक हिन्दूधर्म को समझने की बात है,, वह हमारी विशेष मदद नहीं करता. आर्यसमाज का चिन्तन हिन्दूधर्म को समझने को नहीं झुठलाने को समर्पित है.

बाद के जो विचारक हुए उन्होंने हिन्दूधर्म के विस्तार और विविधता के पक्ष को कभ ओझल नहीं होने दिया. **वीर सावरकर ने हिन्दूधर्म के बहुआयामी स्वरूप को ध्यान में रखते हुए समस्त हिन्दूसम्प्रदायों के भारतीय-उद्भव को हिन्दुत्व का सामान्य लक्षण मानते हुए इसे भारत व राष्ट्रीय आस्था के रूप में परिभाषित किया है. इसी क्रम को आगे बढाते हुए रा. स्व. संघ सिद्धान्तकारों ने भारत की सांस्कृतिक अस्मिता के रूप में हिन्दूधर्म की व्याख्या की है. भूगोल अ इतिहास के आधारों में हिन्दूअस्मिता को परिभाषित करने के ये प्रयास सम्पूर्ण हिन्दूधर्म को यथाव स्वीकार करते हैं, और इस मायने में उनकी हिन्दूधर्म की समझ आर्यसमाज की तुलना में अधि**

थार्थवादी और वस्तुपरक है. किन्तु किसी भी धर्म को इतिहास और भूगोल की सीमाओं में नहीं बांधा ा सकता.

'पितृभूमि', 'पुण्यभूमि' 'सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद' पुरागाथाएं और इतिहास — ये स्थानीय तत्त्व कसी भी धर्म के मूर्त स्वरूप के, उसके संस्थागत अर्थ के अवयव तो हो सकते हैं, किन्तु स्थानीय, तिहासिक प्रतीकों से परे यदि धर्म तत्त्वदर्शन (आध्यात्म) और मनोविज्ञान (योग) जैसे सार्वभौमिक नुशासनों का आस्था में संग्रह करता है, जैसा कि हिन्दूधर्म में है, तब धर्म के ये इतिहास और भूगोल उसका निर्दुष्ट लक्षण नहीं हो सकते. जो व्यक्ति आत्मा को आस्था के प्राथमिक परिकल्प के रूप में स्वीकार करता है, ज्ञान भक्ति या योग के साधन विकल्पों को स्वीकार करता है, वह हिन्दू ही है उसकी 'पितृभूमि', 'पुण्यभूमि' या 'सांस्कृतिकभूमि' कुछ भी हो. जो व्यक्ति सृष्टि की तात्त्विक एकता को स्वीकार करता है, अपनी आस्था में बहुत्ववाद को मान्यता देता है वह हिन्दू ही है बिना किसी धर्मान्तिरण के, उसकी जन्म और संस्कृति की प्रतिबद्धताएं कुछ भी हों.

जातीय इतिहास के प्रतीकों को केन्द्र में रख कर बनाए गए मूर्त संस्थागत वितान अपने स्थानीय चरित्र का अतिक्रमण नहीं कर सकते, कभी सार्वभौमिक नहीं हो सकते. किन्तु वे आस्था के सार्वभौमिक अर्थ के अनुसंधान का साधन अवश्य बन सकते हैं, बशर्ते कि उनमें अपनी सार्वभौमिक मान्यता के लिए कोई आग्रह न हो. स्थानीय कभी सशरीर सार्वभौमिक नहीं हो सकता, वह केवल प्रतीक बन सकता, साधन बन सकता आस्था के सार्वभौमिक अर्थ की अवगति का, और वह साधन भी एक मात्र साधन नहीं अपितु बहुत से साधनों में से एक. यह छोटी सी बात मिशनरी धर्मों की समझ में की न आई और आज भी वे अपने पैगम्बर, अपने उद्धारक को मनवाने के लिए समस्त सभ्य संसार के विरुद्ध जेहाद में जुटे हैं.

यह हिन्दूधर्म का अनन्य वैशिष्टय है कि उसने आस्था के समस्त मूर्त आलम्बनों की, स्वयं अपने आस्था पर्यायों की भी सीमित अर्थवत्ता को रेखांकित करते हुए, उनके सार्वभौमिक अर्थ के साथ संवाद के रहस्य को समझा. किस प्रकार एक स्थानीय आलम्बन सार्वभौमिक अर्थ के अनुसंधान का माध्यम बन जाता है और किस प्रकार सार्वभौमिक तत्त्वदर्शन स्थानीय अवतरण में अपनी प्रासंगिकता तलाशता है, यह एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है जिसको ठीक से समझना ही हिन्दूधर्म को समझना है.

पारम्परिक चिन्तन की भाषा में कर्म (विधि) और ज्ञान के केन्दु में रखते हुए आस्था के दो मौलिक आधार प्राप्त होते हैं, जो उसके क्रमशः नैतिक और तात्त्विक परिकल्पों को जन्म देते हैं. ये आस्था के एक आयामी, साम्प्रदायिक रूप हैं जिन्हें आसानी से समझा और समझाया जा सकता है. किन्तु इनसे भिन्न, एक तीसरा कल्प भी हो सकता है, जो आस्था की द्वन्द्वात्मक संरचना में दोनों पूर्व कल्पों का संग्रह करता हो. बहुआयामी और गत्यात्मक होने से, इस द्वन्द्वात्मकता को जिस आसानी से जिया जा सकता है उस आसानी से कहा नहीं जा सकता. एक-आयामी व्याख्या परिकल्पों में फिसलती गीता की भाष्यपरम्परा इसका जीवन्त निदर्शन है. इस विषम स्थिति में मार्गदर्शन के लिए सीधे गीता की ही शरण लेनी चाहिए.

धर्म का जातीय-पुरागाथा कल्पित शास्त्रनिष्ठ स्वरूप :

दूसरे अध्याय का अविकल पूर्वपक्ष : ऊपर दिए गए अध्याय के विश्लेषण को ध्यान से देखें तो यह बात मन को आकर्षित किए बिना नहीं रह सकती कि अध्याय का प्रत्येक प्रसंग आस्था के पुस्तकानुबंध अथवा उसके जातीय उद्भवमूल को पूर्वपक्षरूप में परिकल्पित करते हुए, उसके विरुद्ध अपने पथ को परिभाषित करता है. नीचे दिए उद्धरणों से यह बात सहज स्पष्ट हो जाती है :

१. ***सांख्यविचार के पूर्वपक्ष रूप में जातिधर्म का प्रवर्तन :***

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

उस विषादग्रस्त अर्जुन के प्रति भगवान् मधुसूदन ने यह कहा : इस कठिन समय में तुममें यह मनोविकार कहां से आ गया? अनार्य-सेवित यह (विकार) स्वर्ग से वंचित करने वाला और अपकीर्ति देने वाला है. हे अर्जुन! तुम नपुंसक मत बनो. यह तुम्हारे योग्य नहीं है. हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोड़ कर, उठ कर खड़े हो जाओ.

२. धर्मशास्त्रों की व्यवस्था, योगबुद्धि के अवतरण की पृष्ठभूमि :

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

(तथा अपने धर्म को देखकर भी (तू) भय करने योग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध से दूसरा (कोई) कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है (३१). हे पार्थ! दैवयोग से प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग (ही) पाते हैं(३२).

३. योग के निर्वचन के क्रम में पुस्तकपंथ की समीक्षा :

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः।।४२।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

(हे पृथानन्दन! जो कामनाओं में तन्मय हो रहे हैं, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं, वेदों में कहे हुए सकाम कर्मों में प्रीति रखने वाले हैं, भोगोंके सिवाय और कुछ है ही नहीं, ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकी मनुष्य इस प्रकार की जिस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणी को कहा करते हैं, जो कि जन्मरूपी कर्म-फल को देनेवाली है तथा भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बहुत-सी क्रियाओं का वर्णन करनेवाली है.(४२-४३).

४. योग के उपसंहार और स्थितप्रज्ञ-प्रसंग के उपक्रम से पूर्व योग के द्वारा शास्त्रों के दलदल के व्यतितरण की चर्चा :

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचलाबुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

(जब तेरी बुद्धि मोह के दलदल को पार कर जाएगी, तब तू सुनने योग्य और सुने हुए के प्रति वैराग्य को प्राप्त होगा(५२). शास्त्रों के कारण विभ्रमित तुम्हारी बुद्धि जब समाधि में अचल और स्थिर हो जाएगी, तब तू योग को प्राप्त होगा(५३).

ऊपर दिए उद्धरणों से स्पष्ट है कि गीता के दूसरे अध्याय का सम्पूर्ण चिन्तन पुस्तकपंथों की समीक्षार्हता पर टिका है. इनके भोगैश्वर्य- लोलुप कबीलाई जीवनादर्शों की अपर्याप्तता, दण्ड के भय और दिव्यभोगों के आश्वासन पर टिके इनके धर्मविधानों के अधूरेपन की चेतना में जनमते हैं गीता में सांख्य और योग के रूप में अभिनव आस्थाकल्प के अनुसंधान. अतः दूसरे अध्याय को ठीक से समझने के लिए कितावी धर्मों के स्वरूप को, जिन्हें प्रकाशितधर्म (revealed religions) अवतरित धर्म या शास्त्रनिष्ठा आदि नामों से जाना जाता हैं, निकट से समझ लेना जरूरी है.

* * *

शास्त्रनिष्ठा का स्वरूप और मूल-मान्यताएं :

१. प्रकाशित शास्त्र (revealed text) की अवधारणा : सभी पुस्तकपंथ सामान्य रूप से यह मानते हैं कि शास्त्र दिव्य अर्थात् ईश्वर द्वारा प्रकाशित अलौकिक वचन हैं. लौकिक वाक् की दुर्बलताओं से मुक्त, दिव्य उद्भव के कारण परम विश्वसनीय, शास्त्रवचन आस्था का सनातन आलम्बन है. अधिकतर धर्म यह मानते हैं कि ईश्वर, कुछ चुने हुए लोगों के सामने अपने स्वरूप और संदेश का प्रकाशन करता है. इन्हें संसार गुरू, पैगम्बर अथवा अवतारी पुरुषों के रूप में जानता है. अपने अन्तःकरण में प्रकाशित ज्ञान को सुरक्षित रखने, तथा उसे संसार तक पहुंचाने के लिए, ये विभूतियां उसे संहिताबद्ध करती हैं, उसे शास्त्र का रूप देती हैं. ये शास्त्र आस्था को आकार और पहचान देते हैं. वेदादिशास्त्र, अवेस्ता, पुराने और नए नियमों के रूप में बाइबिल तथा कुरान शरीफ, तत्तद् धर्मों के लिए आस्था के निर्विकल्प आलम्बन हैं. लौकिक ग्रन्थों से अलग करने के लिए इन्हें दिव्य या प्रकाशित ग्रन्थ (revealed texts) तथा इन पर आधारित आस्था को प्रकाशितधर्म (revealed religion) कहा जाता है. **'प्रकाशित धर्म'** शब्द आज पुस्तकपंथ का पर्याय बन चुका है.

यह नामकरण तभी सार्थक हो सकता है, जब यह मान लिया जाय कि ईश्वर केवल शब्द के द्वारा ही अपने को प्रकाशित करता है. वास्तविकता यह है कि ईश्वर अनन्त रूपों में अपने को प्रकाशित करता है, अनन्त रूपों में मानव की सहायता और मार्गदर्शन करता है. किन्तु इस नामकरण की अपनी उपयोगिता है. 'प्रकाशित-धर्म' यह नाम बड़े ही दिलचस्प तरीके से पुस्तकपंथ के आग्रहों को रेखांकित करता है, जो अपने परमात्मा पर यह पाबन्दी लगाता है कि वह माध्यमविशेष (संदेशवाहक), उसके द्वारा अवतरित शास्त्रविशेष, और उस शास्त्र में विहित उपासनापद्धतिविशेष के अलावा, किसी और तरीके से इंसान के साथ सम्पर्क नहीं कर सकता. सभी पुस्तकपंथ, अपने प्रवर्तक पुरुष, प्रवर्तितशास्त्र और उसमें विहित उपासना के आलम्बनों में साकार, आस्था के मूर्तिमान् विग्रह को धर्म का ऐकान्तिक परमार्थ मानते हैं, इस हद तक कि उनमें से प्रत्येक के लिए, अपने सिवा जो कुछ भी है, पुस्तकीय, अपुस्तकीय और परा-पुस्तकीय — वह सब न केवल पूरी तरह अप्रामाणिक है, अपितु भटकाव और पाप है.

२. मूलवाद, पुस्तकपंथ का सहज व्यवहार : वर्तमान युग के अखबारी चिन्तन ने एक नितान्त भ्रामक शब्द को चलन दिया है, वह है 'मूलवाद' (fundamentalism). इस शब्द का प्रयोग इस तरह किया जाता है, मानो यह कोई आगन्तुक बुराई हो जो अभी अभी कुछ धर्मों में घुस आई हो. वास्तविकता यह है कि *मूलवाद* आस्था के पुस्तकीय रूप का प्रामाणिक व्यवहार है. वाक्-विशेष की जब दिव्य-वाक् रूप में प्रतिष्ठा की जाती है तो उस वाक् का मूल अर्थ (शब्दार्थ) ही धर्म में प्रमाण और अनुशास्ता होता है. देश-काल के प्रभाव से, मानवीय विवेक के हस्तक्षेप से इस मूल अर्थ में, परिष्कार, क्षरण और विजातीय तत्त्वों के संग्रह की प्रक्रिया चलती रहती है. इन विजातीय तत्त्वों का निराकरण करते हुए, शब्दमूल की ओर लौटना — यह एक आत्मोद्धार की प्रक्रिया है, जो पुस्तकीय आस्था का सहज व्यवहार है, कोई विकृति नहीं. इस्लामधर्म को *मूलवादी* कह कर जो इसकी आलोचना की जाती है वह इसलिए अनुचित है क्योंकि इस्लामधर्म ही नहीं, सभी पुस्तकपंथ, यहूदी, ईसाई, इस्लाम तथा हिन्दुओं के आर्यसमाज और सिख जैसे सम्प्रदाय — सभी प्रकृत्या मूलवादी हैं. जहां किताब ही धर्म का परमार्थ है, वहां पुस्तकमूल की ओर लौटना, सहज व्यवहार है कोई विकृति नहीं.

३. आस्था का अनुबंधरूप : शास्त्र के रूप में आस्था एक लिखित करार है, ईश्वर (अलौकिक सत्ता) और मानव के बीच का, या यों कहें सृष्टि की नैतिक व्यवस्था और मानव के बीच. दूसरे विकल्प को अनीश्वरवादी भी स्वीकार कर सकते हैं. दोनों ही स्थितियों में, अनुबंधरूपा आस्था की यह मूल मान्यता है कि कुछ कर्म खास प्रकार से किए जाने पर, अलौकिक फल की सामर्थ्य रखते हैं, ऐसे फल दे सकते हैं, जो लौकिक कर्म की सामर्थ्य के बाहर हैं. **जिस फल को लौकिक उद्यम नहींदे सका, उसे विहित अनुष्ठान के द्वारा अलौकिक की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है, यह विश्वास मानव के नैतिक और धार्मिक आचरण का सनातन आधार रहा है. इस विश्वास को शास्त्र जब लिखित करार का रूप देते हैं तो एक विशेष प्रकार की आस्था का उदय होता है. अलौकिक आश्वासन के रूप में 'यह करोगे तो यह मिलेगा' इस अनुबंध रूपा आस्था को ही गीता में 'वेदवाद' नाम दिया है.**

४. जातीय विग्रह : सभी पुस्तकपंथ मूलतः जातीय हैं. उनके शास्त्र किसी न किसी जातीय इकाई को ही संबोधित होते हैं. वेद आर्यों के शास्त्र हैं; अपने पुराने और नए अवतरणों में, बाइबिल यहूदी जाति को तथा कुरान-शरीफ अरब कौम को सम्बोधित है. ये सभी शास्त्र, जातीय पुरागाथाओं को मानव के उद्भव के इतिहास के रूप में प्रस्तुत करते हैं, तथा अपनी अपनी जाति के पुरोधाओं को सम्पूर्ण मानवजाति के उद्धारक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं. इनकी परमेश्वर की अवधारणा एक ऐसे **देवता** की होती है जो जाति विशेष का संरक्षक होता है, समय समय पर दण्ड और पुरस्कारों के द्वारा उसे धर्म में अनुशासित करता है, कठिन परिस्थितियों में उसकी रक्षा और मार्गदर्शन करता है, तथा उसके शत्रुओं का विनाश करता है. अपनी जिस नैतिक व्यवस्था को ये पुस्तकपंथ सीधे आसमान से उतरा हुआ बताते हैं, उसका अधिकांश, समकालीन कबीलाई परम्पराओं का ही संहिताकरण होता है. किसी भी पुस्तकपंथ के स्वरूप में जातीय परमेश्वर, जातीय मसीहा और जातीय शास्त्र की इस त्रिपुटी को सहज पहचाना जा सकता है. यह जातीय त्रिकोण एक पुस्तकपंथ का साकार विग्रह है.

यहूदी, ईसाई और इस्लाम — ये तीनों ही धर्म पैगम्बरवादी हैं. इन धर्मों में — ईश्वर, पैगम्बर और उसके द्वारा 'प्रकाशितविधान' — इस धर्मत्रिपुटी का आधार है यहूदियों का धर्मग्रन्थ **तौरात** जो **'ओल्ड टैस्टामेंट' 'पुराना नियम'** आदि नामों से प्रसिद्ध है. इस ग्रन्थ के अनुसार ईश्वर (यहोवा)

मिश्र देश की गुलामी से यहूदी जाति का उद्धार करता है, और भविष्यदृष्टाओं के माध्यम से यहूदी जाति के साथ पारस्परिकता की संधि में वचनबद्ध होता है. यहूदी इस बात के लिए वचनबद्ध होते हैं कि वे परमेश्वर (यहोवा) के समय समय पर नबियों के माध्यम से भेजे जाने वाले आदेशों के प्रति समर्पित रहेंगे, और बदले में परमेश्वर (यहोवा) यह वाचा बांधता है कि वह यहूदी जाति का मार्गदर्शक और संरक्षक बन कर रहेगा; उन्हें मुसीबतों से बचाएगा और उनके शत्रुओं का विनाश करेगा.

यह ईश्वर और उसकी चुनी हुई बिरादरी के बीच संविदा पर टिकी, धर्म की एक ठेठ जातीय अवधारणा है, जो जातीय/कबीलाई मूल्यों को धर्ममूल्यों में रूपान्तरित करती है. ईश्वर के साथ करार में प्रवेश करने के बाद, जातीय परम्पराओं और जीवनादर्शो को ***अपने परमात्मा*** का संरक्षण मिल जाता है, और कुछ परिष्कारों के साथ, वे धार्मिक मूल्यों का रूप ले लेते हैं.

कौम के रूप में धर्म की अवधारणा, अपने धर्म की श्रेष्ठता का भाव, अपने उपास्य में ऐकान्तिक निष्ठा, अन्य धर्मों में पापबुद्धि, उनके विरुद्ध घृणा और अनवरत संघर्ष की कर्तव्यता, उन्हें जीत कर, उनकी लूट के द्वारा स्वधर्मावलंबियों के लिए भोगों का संग्रह, इतर धर्मावलंबियों के देवालयों को ध्वस्त करके, अपने धर्म की, अपने उपास्य और उपासना पद्धति की बलपूर्वक प्रतिष्ठा की प्रतिबद्धता — भोग और ऐश्वर्य की आदिम लालसा से प्राप्त ये कुछ कबीलाई धर्ममूल्य हैं, जो ओल्ड टेस्टामेंट में संहिताबद्ध हैं, और ईसाई तथा इस्लाम के धर्म विधानों में, कहीं यथावत् तो कहीं कुछ परिष्कारों के साथ आज भी सुरक्षित हैं.

५. आस्था का साकार विग्रह : मूर्तिपूजा बनाम पुस्तकपंथ :

(बुतपरस्ती बनाम किताबपरस्ती) : अपने साकार विग्रह में प्रतिष्ठित पुस्तकपंथ, मूर्तिपूजा से कुछ ही बेहतर (या कमतर) हैं. दरअसल बुतपरस्ती और किताबपरस्ती, दोनों ही माध्यम भेद से अलग अलग धरातलों पर साकार होती आस्था के ही मूर्तरूप हैं, अन्तर है तो केवल इतना कि बुतपरस्ती (मूर्तिपूजा) का व्यापक आस्था में उद्धार सम्भव है, अक्सर हो भी जाता है, किन्तु किताबपरस्ती का उद्धार लगभग असम्भव है, क्योंकि बुतपरस्ती केवल उपासनांश में साकार होती है, जबकि किताबपरस्ती सम्पूर्ण आस्था को एक मूर्तविग्रह का रूप दे देती है; मूर्तिपूजा केवल उपासना को विजड़ित कर सकती है, किन्तु पुस्तकपरस्ती तो सम्पूर्ण आस्था को हमेशा के लिए विजड़ित किए बिना नहीं छोड़ती. धर्मशास्त्रों की भेदभावपूर्ण व्यवस्थाएं तथा मुस्लिम उलेमा के अजीबोगरीब

फतवे इस यथार्थ का सहज निदर्शन हैं.

मूर्ति की उपासना, काफी हद तक वैयक्तिक उपासना होती है; इससे भिन्न, शास्त्रों के विधान, एक सम्पूर्ण समाज की आस्था का आलम्बन होते हैं. बुतपरस्ती, यदि सीमित दायरे में, उपासना का जड़ाचार है तो, पुस्तकपंथ, एक सम्पूर्ण समाज की मानवीय संवेदनाओं को जड़ों तक स्तम्भित करता, सिद्धान्तों का जड़ाचार है.

प्रतीक में, अपने से परे, जिसका वह प्रतीक है, उस अर्थ की चेतना सदा बनी रहती है. अतः अपनी सीमित अर्थवत्ता की चेतना में विनम्र, मूर्तिपूजा का तात्त्विक अर्थ में विसर्जन भी सम्भव है और उद्धार भी. किन्तु अपने लिखितविग्रह और जातीय आलम्बन के कारण, पुस्तकपंथ में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने की कोई सामर्थ्य नहीं होती. लिखितविग्रह में लिखे से आगे देखने समझने की अनुमति नहीं होती. वह केवल अनुपालन की अनुमति देता है और जैसा है जिस रूप में है उसी की सार्वभौमिक प्रतिष्ठा के लिए अड़ जाता है.

कोई मूर्ति नहीं कहती कि सारा संसार मुझे पूजे, कोई मूर्तिपूजक यह नहीं कहता कि जिस विग्रह की वह पूजा करता है, सारी दुनियां उसी को पूजे, किन्तु एक पुस्तकपंथ के सारे प्रयास संसार पर छा जाने के लिए ही होते हैं. सभी पुस्तकपंथ आस्था के आत्मसम्मोहित विग्रह हैं, विमर्शशून्य और आचारपार्यन्तिक. अपने विग्रह की सीमाओं का अतिक्रमण करके उच्चतर चेतना में अपना उद्धार करने की इनमें कोई सामर्थ्य नहीं होती. इनमें से प्रत्येक संसार के उद्धार के लिए उतावला दिखता है, लेकिन सच यह है कि अपने ऐतिहासिक विग्रह में कबीलाई मूल्यों की जिस छोटी सी पूजी को ये बड़े जतन से सहेज कर रखे रहते हैं, उसमें तो वे, दुनियां के उद्धार की बात छोड़िए, खुद अपना उद्धार करने भर की सामर्थ्य भी नहीं पाते. आजकल योरुप और अमेरिका के देशों में क्रिश्चियन-योग की चर्चा ईसाई उपदेशकों का प्रिय विषय है. यह प्रकारान्तर से इस बात की स्वीकारोक्ति है कि किताब आस्था का परमार्थ नहीं है और यह कि जो किताबी-आस्था सारे संसार का उद्धार करने का दावा करती है, वह स्वयं अपने उद्धार के लिए, योग जैसे परापुस्तकीय साधनों का सहारा लेती हैं, और जब वह ऐसा नहीं करती तब आत्मप्रसार का व्यापार — मिशनरी गतिविधियां और जेहाद जैसे युद्धोद्यम ही उनकी नियति होते हैं.

६. पुस्तकपंथ का प्रसारवादी (मिशनरी) स्वरूप :
सार्वभौमिक अर्थ की कमी को पूरा करने के लिए सार्वभौमिक वर्चस्व की तलाश :

सभी पुस्तकपंथ आस्था के मूर्त विग्रह हैं. इनके स्थानीय-ऐतिहासिक विग्रह में सार्वभौमिकता अर्थतः व्याहत है. कोई आश्चर्य नहीं कि सार्वभौमिक अर्थ के इस दारिद्र्य को सार्वभौमिक-वर्चस्व के द्वारा पूरा करने की कोशिश की जाती है. सार्वभौमिक अर्थ के बिना सार्वभौमिक प्रतिष्ठा की ललक, पुस्तकपंथों की सबसे बड़ी दुर्बलता है, एक असमाहार्य विरुद्धार्थग्रन्थि (paradox) है, जो उनके प्रसारवादी (मिशनरी)चरित्र में खुल कर सामने आती है. अपनी आस्था के कबीलाई विग्रह में जब सार्वभौमिक अर्थ कहीं ढूंड़े नहीं मिला तो उस स्थानीय विग्रह की ही बलपूर्वक सार्वभौमिक प्रतिष्ठा के लिए जुट गए. जिस सार्वभौमिक प्रतिष्ठा को वे अपने अन्तरंग अर्थवैभव से प्राप्त नहीं कर सके, उसे धन के प्रलोभन और तलवार के बल पर पाने की ललक, इन मिशनरी पुस्तकपंथों को, आर्थिक और राजनैतिक वर्चस्व के लौकिक उद्यमों की कोटि में ला कर खड़ा कर देती है. किन्तु ऐश्वर्य की तलाश, स्वयं आस्था के लिए किस हद तक घातक हो सकती है, उसमें विक्षेप उत्पन्न करके उसे अपने ही मूल में किस प्रकार अस्थिर कर सकती है, इस बारे में गीता का चिन्तन बिल्कुल स्पष्ट है :

भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिकाबुद्धि समाधौ न विधीयते।।

७. शब्द-प्रमाण से शक्ति-प्रमाण तक : सवाल ये है कि किसी भी शास्त्र के दिव्य शास्त्र होने में मानक क्या है? एक शास्त्र का वचन दूसरे से व्याहत हो जाने से शब्दप्रमाण इसमें नियामक नहीं हो सकता, और मुश्किल यह है कि शब्दप्रमाण से अन्यत्र कहीं यह नियामकता ठहर भी नहीं सकती. समस्या जितनी गंभीर है, उसका जो समाधान खोजा गया है वह भी कम दिलचस्प नहीं. प्रमुख पुस्तकपंथ, बीच भंवर में पड़ी शब्दप्रमाण की नाव को छोड़ कर, अपने ईश्वरीय उद्भव को सिद्ध करने के लिए सीधे शक्तिप्रमाण पर उतर आते हैं. अपनी कौम की विजय को वे, दूसरों के उपास्यों पर *अपने उपास्य* की श्रेष्ठता का, इतर धर्मग्रन्थों के विरुद्ध अपने धर्मग्रन्थ के ऐकान्तिक 'प्रकाशधर्मिता' का प्रमाण मान लेते हैं, जब कि दूसरों के पराभव को वे उनकी अप्रामाणिक आस्था और उससे उत्पन्न पाप के लिए ईश्वर के दण्ड के रूप में निरूपित करते हैं.

इस प्रकार, अपनी प्रामाणिकता की तलाश में निकले ये पुस्तकपंथ, अन्ततः पशुजगत् के निसर्ग सिद्धान्त "ताकत ही न्याय है" (Might is right) पर जाकर ही ठहरते हैं. वस्तुतः ईसाइयों की मिशनरी गतिविधियां और इस्लाम का जेहाद, धन और पशुबल की सहायता से सार्वभौमिक वर्चस्व की तलाश के ही रूप हैं, जिनका सहारा लेना पुस्तकपंथों की सैद्धान्तिक विवशता है.

ईसाई चर्च यह नहीं जानता कि अत्मप्रसार की मिशनरी गतिविधियों के सिवा और किस तरह अपनी सार्वभौमिक स्वीकृति को सुनिश्चित करे. इस्लामधर्म यह नहीं जानता कि जेहाद के सिवा, जो अब संसार में आतंक का पर्याय बन चुका है, आखिर किस तरह अपने को संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म साबित करे. अपने जिस स्थानीय, कबीलाई विग्रह की ये धर्म सार्वभौमिक प्रतिष्ठा चाहते हैं वह कभी संभव नहीं क्योंकि स्थानीय, सार्वभौमिक का प्रतीक तो हो सकता है, स्वयं कभी सार्वभौमिक नहीं हो सकता.

"ईश्वर एक है", यह एक सार्वभौमिक कथन हो सकता है. किन्तु ***'भगवान् श्री कृष्ण एक सम्पूर्ण अवतार हैं', 'ईसा मसीह खुदा के बेटे हैं', 'मुहम्मद साहब खुदा के पैगम्बर हैं',*** और ***'कुरान शरीफ परमात्मा द्वारा भेजी आखिरी किताब है,*** ये मान्यताएं तथा बाइबिल और विभिन्न धर्मों के पुराणों में सृष्टि और मानव के उद्भव की गाथाएं, कभी भी सार्वभौमिक मान्यता की अधिकारी नहीं हो सकतीं. मूलतः स्थानीय और जातीय इतिहास की धरोहर होने के कारण, इन मान्यताओं में संसार के अन्यान्य समाजों की कोई दिलचस्पी या सहभाग नहीं हो सकता. अपने स्थानीय विग्रह में सार्वभौमिक प्रतिष्ठा की चाह, सशरीर स्वर्ग में प्रवेश करने की चाहत की तरह एक असंभव कल्प है. दुर्भाग्य की बात है कि जो सार्वभौमिक स्वीकृति पुस्तकपंथों में स्वरूपतः व्याहत है, उसे वे बलात् पाने की कोशिश करते हैं, पैसे और तलवार के बल पर.

मानवता के इतिहास को इन पुस्तकीय धर्मों की महत्त्वाकांक्षाओं ने किस कदर लहूलुहान किया है, इसकी चर्चा यहां नहीं करेंगे, किन्तु इससे स्वयं इन धर्मो के स्वरूप में जो विकृति आती है वह ध्यान देने योग्य है. यदि सार्वभौमिक वर्चस्व ही किसी धर्म की सार्वभौमिकता में प्रमाण है, तो धर्म, प्राकृत, पशुजगत् का ही अनुवाद है, और जो प्राकृत है, स्वभाव से प्राप्त है उसके लिए किसी आसमानी किताब की क्या जरूरत? लट्ठ का राज, निसर्ग धर्म है, बिना किताब के चलता है. ताकत और वर्चस्व में धर्म की प्रामाणिकता की तलाश, अन्ततः धर्म को अनावश्यक

और अप्रासंगिक बना देती है. भोग और ऐश्वर्य की जिन पशु-वृत्तियों से इंसान का उद्धार करने के लिए किताबों के रूप में जो आसमानी संदेश उतरे, वे अधिक समय अपने को आसमानी बनाए नहीं रख सके, और पशुवृत्तियों से इंसान का उद्धारक बनने के बजाय, उनके संवाहक बन कर रह गए. गलती कहां हुई?

हर पुस्तकपंथ उद्धारक ही नहीं, *'एक मात्र उद्धारक'* बनना चाहता था. प्रत्येक पुस्तकपंथ, जिनके उद्धार के लिए उसे भेजा गया था, उन्हीं तक सीमित रहने के बजाय, सारे संसार का उद्धारक बनने के सपने देखता था. तत्तद् धर्मों के शास्त्र, देश काल की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, विभिन्न जातियों को भेजे गए संदेश हैं, यह सभी पैगम्बरवादी धर्मों की सामान्य मान्यता है. इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक पुस्तकपंथ सीमित सन्दर्भों में ही सार्थक हो सकता है. उनमें से किसी एक की सारे संसार में ऐकान्तिक प्रतिष्ठा परमात्मा को भी अभीष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि वे सब के सब, चुने हुए, सीमित सन्दर्भों को ही सम्बोधित थे. धरती पर आते ही ये आसमानी किताबें, वर्चस्व की कबीलाई आकांक्षा के सक्रमण से अपने को बचा नहीं सकीं, जिसने उन्हें, ऐकान्तिक वर्चस्व के उग्र अध्यवसाय का रूप दिया.

आसमानी के दुनियांदारी में पतन की त्रासदी का रहस्य था उसमें अनधिकृत महत्त्वाकांक्षा का संक्रमण, ऐश्वर्य की ललक, जिससे निकलने की, अपना उद्धार करने की, उनमें से अधिकांश में सामर्थ्य नहीं थी. आसमान से गिरे का जो पतन होता है वह ऐसा ही होता है. भर्तृहरि ने बड़े ही सुन्दर ढंग से इसे कहा है. स्वर्ग से गंगावतरण का वर्णन करते हुए वे कहते हैं :

शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं,
महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।। (नीतिशतकम्- ११)

(स्वर्ग से भगवान् शिव के शिर पर, शिव के सिर से पर्वत पर, उत्तुंग पर्वतशिखर से धरती पर और धरती से सागर की ओर, यह गंगा एक-एक कदम नीचे गिरती जाती है. सच ही है, जो विवेकभ्रष्ट हैं, वे सैकड़ों रास्तों से पतन को प्राप्त होते हैं.)

श्रीमद्भगवद्गीता का वैशिष्ट्य उसकी इस चेतना में है कि मूर्त आलम्बनों पर टिका कोई भी धर्म विश्वधर्म नहीं हो सकता. पुस्तक, पैगम्बर, धर्मगुरू और अवतारी पुरुषों को केन्द्र में रखकर

धर्म की कोई भी अवधारणा न तो सार्वभौमिक हो सकती है और न ही आस्था के एकीभाव का विश्वसनीय आधार. अत: आस्था की सार्वभौमिक विश्वसनीयता के आधार की खोज, देशकाल-निरपेक्ष, इतिहास-निरपेक्ष अनुशासनों में होनी चाहिए. गीता की यह अन्तर्दृष्टि उसे तत्त्वदर्शन और मनोविज्ञान की ओर उन्मुख करती है. ये अनुशासन ही गीता में सांख्य और योग के निर्वचन के आधार हैं.

* * *

१. गीता में सांख्य (तत्त्वज्ञान) का उपदेश : स्वरूप और प्रयोजन :

गीता में आत्मतत्त्वविचार, तत्त्वजिज्ञासा से नहीं धर्मजिज्ञासा से प्रवृत्त होता है. वेदान्त में शील आत्मज्ञान की जिज्ञासा में निमित्त बनता है, यथा — *नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थ भोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत् मुमुक्षुत्वञ्च.* इससे बिल्कुल उलट है गीता का क्रम. यहां आत्मज्ञान शील का उपकारक बन कर आता है : *अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः, अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत.* यह अन्तर है तत्त्वदर्शन और धर्मदर्शन का.

गीता में सांख्य का उपदेश वेदान्त या सांख्यदर्शन की शिक्षा देने के लिए नहीं बल्कि आस्था में आत्मविवेक के संग्रह के प्रयोजन से हुआ है. इस प्रयोजन के प्रमुख अनुबंध इस प्रकार हैं : (१)विरुद्ध धर्मभावों के बीच तात्त्विक-एकीभाव का निदर्शन कराते हुए आस्था के सार्वभौमिक परिकल्प की स्थापना (२) मूल्यबोध के मौलिक स्रोत के रूप में आत्मतत्त्वदर्शन की सम्भावनाओं का अनुसंधान, (३) विविधताओं के बीच हिन्दूधर्म के लिए एकीभाव का आधार उपलब्ध कराना (४) व्यापक चेतना में पुस्तकपंथों का उद्धार. यहां संक्षेप में इनकी चर्चा यहां करेंगे.

१. आस्था का आत्म-सन्दर्भ :

समस्त चिन्तन के अधिष्ठान के रूप में आत्मतत्त्व अप्रत्याख्येय है. संसार की समस्त वस्तुओं पर संदेह किया जा सकता है, किन्तु आत्मा को संदेह अथवा प्रत्याख्यान का विषय नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि संदेह अथवा प्रत्याख्यान(खण्डन) स्वयं चिन्तनरूप होने से, समस्त चिन्तन के कर्ता (अधिष्ठान)रूप में आत्मतत्त्व की सत्ता की पुष्टि में ही पर्यवसित होते हैं. इस युक्ति

का सहारा लेते हुए, भारत में औपनिषदिक तत्त्वचिन्तन और उसकी परम्परा में आचार्य शंकर जैसे मनीषियों ने तथा पश्चिम में दकार्ते जैसे विचारकों ने, आत्मज्ञान को तत्त्वमीमांसा की प्राथमिक, स्वतःसिद्ध मूलमान्यता के रूप में स्थापित किया है. श्रीमद्भगवद्गीता मूल्यदर्शन के क्षेत्र में तत्त्वमीमांसा की इस आधारभूत मान्यता की सम्भावनाओं पर विचार करती है.

आत्मज्ञान जिस प्रकार तत्त्वमीमांसा का मूलभूत सिद्धान्त है, उसी प्रकार क्या धर्मदर्शन के स्वतःप्रमाण आदिप्रत्यय के रूप में भी इसकी प्रतिष्ठा की जा सकती है ? वस्तु (fact) और मूल्य (value) को सामान्यतया दार्शनिक सर्वथा भिन्न और असम्बद्ध अनुशासनों का विषय मानते रहे हैं. जहां वस्तु अनुभव का विषय है वहीं आचारमूल्य शास्त्रों से अर्थात् ईश्वरीय विधान से प्राप्त होते हैं, ऐसी पश्चिम के दार्शनिकों की मान्यता है. यह श्रीमद्भगवद्गीता की अनन्य अन्तर्दृष्टि है कि वह आत्मज्ञान के रूप में तत्त्वमीमांसा और मूल्यदर्शन के बीच एक ऐसे सामान्य परिकल्प का उद्घाटन करती है जो एक साथ वस्तु के मूल्यानुबंध और मूल्य के वस्तुनिष्ठ आधार का रूप ले सकता है.

भारतीय तत्त्वमीमांसा में आत्मा की चर्चा मुख्यतया दो रूपों में मिलती है : **आत्म-शाश्वतवाद** और **अशाश्वतवाद,** जिसे भ्रमवश अनात्मवाद भी कहा जाता है. गीता में धर्मचिन्तन आत्मवाद के इन दोनों ही पक्षों को ध्यान में रखकर, आस्था के लिए आत्मवाद की सम्भावनाओं पर विचार करता है. दूसरे अध्याय के श्लोक १२-२५, आत्मशाश्वतवाद की और श्लोक २६, अशाश्वतवाद की चर्चा को समर्पित हैं. संसार के अधिसंख्य धर्म किसी न किसी रूप में आत्मशाश्वतवाद का ही समर्थन करते हैं. अशाश्वतवाद की मान्यता मुख्यतया बौद्धों में है. पदार्थवादी, जिनके लिए पदार्थ ही परमार्थ है, वे भी अशाश्वतवाद की कोटि में ही आते हैं. **इस प्रकार विचार करके देखें तो दूसरे अध्याय का सांख्य प्रसंग, वेदान्त से लेकर पदार्थवादी नैतिकता पर्यन्त संसार में आस्था की जितनी भी भंगिमाएं हो सकती हैं, उन सबके बीच धर्म के एक सामान्य वस्तुनिष्ठ आधार का अनुसंधान करता है. श्रीमद्भगवद्गीता में जिस रूप में और जिस क्रम में इनकी चर्चा हुई है वह एक प्रकार से विश्व के धर्म परिदृश्य की समानुपाती है. धर्मदर्शन के मौलिक अप्रत्याख्येय परिकल्प के रूप में आत्मा की स्थापना, गीता में सांख्य (आत्मतत्त्व) के उपदेश का पहला प्रयोजन है.**

आस्था में आत्मविवेक की प्रतिष्ठा के निहितार्थ :

आत्मज्ञान केवल तत्त्वज्ञान नहीं, स्वयं में एक मूल्यवान् अनुभव है, प्राप्तव्य अर्थात् शील है. आचरण का अन्तरंग नियामक होने से यह निरपवाद अनुशास्ता है, साथ ही कर्ता और भोक्ता रूप में समस्त मूल्यों का अनिवार्य सन्दर्भ भी. अतः यह बात सहज समझ में आती है कि अर्जुन के धर्मसंकट का समाधान, प्रस्तुत चुनौतियों के बीच उसके लिए प्रामाणिक-आचरण अर्थात् धर्म के अनुसंधान की प्रक्रिया उस आत्मतत्त्व के विचार के साथ प्रारम्भ होती है जो समस्त मूल्यचिन्तन का मौलिक सन्दर्भ है.

गीता में तत्त्वज्ञान (आत्मविवेक) का नैतिक विनियोग तीन रूप लेता है. कर्तव्य की उपपत्ति (*अन्तवन्त इमे देहाः नित्यस्योक्ता शरीरिणः, अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत*), कर्तव्य में उपकारक मनोदशा की उपपत्ति (नानुशोचितुमर्हसि), तथा धैर्य, समभाव तथा तितिक्षा जैसे सनातन मूल्यों की प्रतिष्ठा (*यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ, सम दुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते*).

कर्तव्यबोध के उद्धार में तत्त्वदर्शन की दो ध्यान देने योग्य भूमिकाएं :

भूतार्थ (तत्त्वज्ञान) से विध्यर्थ (कर्तव्यविधि) का निगमन गंभीर दार्शनिक समस्याओं को जन्म देता है, जिन पर भाष्य में विस्तार से विचार हुआ है. यहां तत्त्वज्ञान की दो भूमिकाओं का संज्ञान भर लेंगे, जो धर्मदर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं.

मानवमात्र की तात्त्विक एकता का दर्शन कट्टरपंथी धर्मों को अपने प्रतिगामी, घृणामूलक किताबी मूल्यों को नए सिरे से देखने और समीक्षा करने को विवश करता है. विधिविजड़ित आस्था का व्यापक सन्दर्भों में उद्धार, यह आस्था में तत्त्वदर्शन की पहली भूमिका है. यह महज इत्तफाक नहीं है कि निरीह स्त्रीपुरुषों की हत्या करने को अपना शास्त्रविहित कर्तव्य मानने वाले आतंकवादी भी, जब पिटते हैं तो अपने लिए और अपने सहधर्मियों के लिए उन मानवाधिकारों का संरक्षण मांगते हैं, जो वे अन्य धर्मावलंबियों को नहीं दे सकते. यह किताब से परे, मानवमात्र की एकता और उसके अधिकारों की बेबस स्वीकृति है, जो किताबी आस्था की अपर्याप्तता और उसमें तत्त्वदर्शन के संग्रह की आवश्यकता — दोनों को एक साथ रेखांकित करती है.

तत्त्वदर्शन की दूसरी भूमिका, ऐकान्तिक ज्ञाननिष्ठा के कारण संशयग्रस्त हुए कर्तव्यबोध के उद्धार में देखने को मिलती है. यह भूमिका, विशेष रूप से हिन्दूधर्म को सम्बोधित है जो तत्त्वदर्शन

में ऐकान्तिक अभिनिवेश के कारण अपनी पहचान तक खो चुका है. आत्मा के नित्यस्वरूप तथा शरीर की अनित्यता — इस द्विधा विवेक की संग्रहीत परिणति गीता में एक निरपवाद युक्ति के रूप में होती है जो अर्जुन के लिए युद्ध का विधान करती है

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

(नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप, शरीर में रहनेवाले इस आत्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं. इसलिए हे अर्जुन तू युद्ध कर)

तत्त्वदर्शन के इस शिथिल, अति सरल विनियोग की प्रामाणिकता को ले कर अनेक सवाल उठ सकते हैं. इसके वाबजूद भी यदि यह सार्थक है तो इसलिए कि यह गीता के इस मौलिक संदेश को रेखांकित करता है कि तत्त्वदर्शन का विनियोग कर्तव्य की प्रतिष्ठा के लिए होना चाहिए, उसके उच्छेद के लिए नहीं. अर्जुन अपनी वैचारिक सम्पदा का नियोजन कर्तव्य से पलायन के लिए कर रहा है. अर्जुन के इस प्रज्ञावाद के विरुद्ध, गीता का यह और ऐसे ही अन्य स्थल तत्त्वज्ञान के विनियोग का नियमन करते हैं, तत्त्वज्ञान का विनियोग कब, कैसे और कहां हो, इस बात का निदर्शन कराते हैं. यहां तत्त्वज्ञान से विधि का निगमन नहीं, तत्त्वदर्शन के कुयोग के विरुद्ध नियमविधि है. हिन्दूधर्म के लिए इसका असाधारण महत्त्व है.

द्वन्द्वात्मक संरचना में तत्त्वज्ञान की यथोक्त भूमिकाओं का पुनराख्यान : कर्म और ज्ञान के निष्ठाकल्पों के द्वन्द्व और संग्रह के द्वारा ही प्रामाणिक आस्था का अनुसंधान होता है. निरपेक्ष ज्ञाननिष्ठा और निरपेक्ष कर्मनिष्ठा आस्था का विषय तो हो सकते हैं, प्रामाणिक आस्था नहीं दे सकते. प्रामाणिक होने के लिए उन्हें परस्पर संवाद की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से गुजरना होता है, हर युग के लिए, हर व्यक्ति के लिए. निरपेक्ष कर्मनिष्ठा आस्था में जड़ता को, संदेह, बिखराव और भटकाव को जन्म देती है. पुस्तकपंथी सम्प्रदायों का विचारशून्य, ज्ञानसंवादशून्य जड़ाचार, इसका सहज निदर्शन है. दूसरी ओर निरपेक्ष ज्ञान, देश-काल और समाज से विमुख तत्त्वचिन्तन, बौद्धिक बेईमानी और आसन्नदायित्वों से पलायन का निमित्त बन सकता है.

विजड़ितप्राय विध्यर्थ का उद्धार : सभी विधिमूलक धर्म, मानवजाति को आस्थावान् और विपथगामी, मोमिन और काफिर के बीच एक शश्वद् विभाजन को परिकल्पित करते हुए ही प्रवृत्त

होते हैं. उनके धर्मशास्त्र इस विभाजन को नैतिक अर्थ देते हैं. इसके फलस्वरूप विपथगामी (भिन्न मतावलंबी) के प्रति घृणा और उच्छेदपर्यन्त उसके विरुद्ध संघर्ष आस्थावान् का मौलिक दायित्व बन जाता है. विधि 'शब्द' के अनुपालन को समझती है, व्यतिक्रम को समझती है, लेकिन इससे आगे जाकर अपनी समीक्षा कर सके, व्यापक सन्दर्भ में अपना उद्धार कर सके, यह सामर्थ्य उसमें नहीं होती. यह कार्य विध्यर्थ में अनुभव (तत्त्वज्ञान) के संग्रह के द्वारा ही सम्भव हो सकता है.

यह तत्त्वदर्शन ही है जो आस्थावान् (मोमिन) और विपथगामी (काफिर) के अन्तर को नकारते हुए, मानवमात्र की, वस्तुतः प्राणिमात्र की तात्त्विक एकता का निदर्शन कराता है, नैतिकता में विवेक का आधान करता है, उसे चेतन, सन्दर्भसापेक्ष और संवेदनशील बनाता है, आत्मविमर्श तथा आत्मालोचन से युक्त करता है. शब्द के सम्मोहन को तोड़ कर अनुभव में छलांग लगा सके यह सामर्थ्य किसी पुस्तकपंथ में नहीं होती. यह कार्य आस्था में तत्त्वदर्शन के संग्रह के द्वारा ही सम्पन्न होता है.

लुप्तप्राय कर्तव्यबोध का उद्धार : अप्रामाणिक आस्था का दूसरा रूप है, देश-काल की चुनौतियों की ओर पीठ करके खड़े तत्त्वदर्शन की निरपेक्ष प्रतिष्ठा. अपने समय की चुनौतियों के प्रति निरपेक्ष, उनकी पुकार को अनसुना करता, उनके साथ संवाद से उत्पन्न द्वन्द्व से अपने दामन को बचाता, शाश्वतसम्मोहनविमूढ, ऐकान्तिक तत्त्वचिन्तन आसन्न दायित्वों से पलायन का सहज बहाना बनता रहा है. यदि समर्थ गुरू रामदास और बलिदानी सिख गुरुओं के संक्षिप्त दौर को छोड़ दें तो भारत की गुलामी के लगभग आठ सौ वर्षों का इतिहास वस्तुतः ऐकान्तिक ज्ञाननिष्ठा की त्रासदी का इतिहास है. पराभव, अपमान देवलयों के विध्वंस, बलात् धर्मान्तरण, और अकथनीय अत्याचारों के दौर में, जब त्रस्त और असहाय हिन्दूसमाज को प्रबुद्ध नेतृत्व और मार्गदर्शन की सर्वाधिक जरूरत थी, हिन्दूधर्माचार्य वेदान्त की गुत्थियां सुलझाने में, माया और मिथ्यात्व की बारीक परिभाषाएं तराशने में लगे थे; आसन्न चुनौतियों की चर्चा से बचते हुए, एक दूसरे के खण्डन मंडन में अपने पाण्डित्य की ध्वजा फहरा कर गर्वान्वित महसूस कर रहे थे.

इन विभूतियों के पाण्डित्य में किसी को संदेह नहीं हो सकता. किन्तु ज्ञान का प्रयोग वे तात्कालिक चुनौतियों से भागने के लिए कर रहे थे. उनका चिन्तन शास्त्रों के गलत, अस्थान में

विनियोग का उदाहरण था; निरपेक्ष एवं बेफिक्र ज्ञाननिष्ठा का उदाहरण था जो उस पलायन को, जिसके विरुद्ध उपदेश रूप में गीता का अवतरण हुआ, हिन्दुओं के लिए धार्मिक सम्प्रदायों की पोशाक में पेश कर रही थी. इतिहास गवाह है कि छोटे देशों को भी बहुत समय तक गुलाम बना कर नहीं रखा जा सकता. आज ईराक को पूरी तरह ध्वस्त कर कर डालने के बाद भी अमेरिका उस पर पूरी तरह से नियंत्रण नहीं कर पा रहा है. क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि हिन्दुस्तान ५० या १०० बरस नहीं पूरे ८०० बरस विदेशी नियंत्रण में रहा और हिन्दुओं की ओर से कोई सार्थक प्रतिरोध सामने नहीं आया.

कारण स्पष्ट है. हिन्दूधर्म जिसकी जटिल और बहुआयामी संरचना निरंतर समसामयिक व्याख्यान की अपेक्षा रखती है, चुनौतियों के अनुरूप अपना कोई सामयिक रूपान्तरण प्रस्तुत नहीं कर सकी. यह उनके धार्मिक नेतृत्व की विफलता थी, जो अपने धर्मशास्त्रों के विशाल कलेवर में से प्रासंगिक तत्त्वों की पहचान करने में, उनको केन्द्र में रख कर हिन्दूआस्था का जीवन्त प्रारूप प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो सकी. इसके पुरोधा हिन्दुओं के भीतर सम्प्रदाय गढ़ने के माहिर तो थे, स्वयं हिन्दूधर्म को अर्थ और दिशा दे सकें इसकी न उनमें प्रतिभा थी न सामर्थ्य. यह तो इत्तफाक था कि अंग्रेजों का शासन आ गया और बचे खुचे हिन्दू हिन्दू बने रह गए. किन्तु समस्या अभी भी समाप्त नहीं हुई.

ऐकान्तिक तत्त्वनिष्ठा ने अतीत में हिन्दुओं की गुलामी का इतिहास लिखा है तो उनके वर्तमान को दिग्भ्रमित करने में भी इसकी भूमिका कुछ कम नहीं रही है.

कर्तव्य-पराङ्मुख तत्त्वदर्शन के विरुद्ध चेतावनी का शास्त्र गीता :

इस सम्पूर्ण चर्चा के केन्द्र में है आस्था में तत्त्वदर्शन का निरपेक्ष प्रवर्तन. गीता की दृष्टि में ऐसे प्रवर्तन अप्रामाणिक हैं क्योंकि वे आसन्न दायित्व से पलायन के बौद्धिक बहाने हैं, ठीक वैसे ही जैसे एक योद्धा युद्धभूमि से पलायन के लिए जीवदया और अहिंसा की सैद्धान्तिकी का सहारा ले. ऐसी ही एक परिस्थिति में गीता का अवतरण हुआ था. हिन्दूधर्म के उपदेशकों ने तत्त्वदर्शन का जितना दुरुपयोग किया है उसकी मिसाल संसार में मिलना मुश्किल है.

गीता तत्त्वदर्शन-दिग्भ्रान्त हिन्दुओं के लिए एक संदेश है, चेतावनी भी है और यह बताने के लिए मार्गदर्शक पुस्तिका भी कि तत्त्वदर्शन का प्रामाणिक विनियोग क्या है और वह कैसे हो. कम से कम इस अर्थ में गीता एक हिन्दूशास्त्र ही कहलाएगा क्योंकि वह आस्था की ठेठ हिन्दूसमस्या को सम्बोधित है. अर्जुन की त्रासदी मूलतः एक हिन्दू की त्रासदी है, अधिक निकट से कहें तो एक धर्मनिरपेक्षी हिन्दू की त्रासदी है जिसे स्वतंत्रता का बोझ अब और बर्दाश्त नहीं.

स्वतंत्रता के बोझ का अर्थ है, इतिहासचेतना का बोझ, आस्था और इतिहास की समान विरासत पर आधारित राष्ट्रिय अस्मिता और उससे उन्पन्न दायित्वों का बोझ. पुकारते हुए कर्तव्यों का ईमानदारी से निर्वाह करने की बजाय धर्मनिरपेक्षी हिन्दू का सम्पूर्ण आचरण इनसे बचाव के रास्ते तलाश करने में, और अपने अप्रामाणिक आचरण के समर्थन में सिद्धान्ताभासों के तानेबाने बुनने में लगा रहता है. गीता के अर्जुन का युद्धोपरति चिन्तन इसका निकट निदर्शन है. ***धार्तराष्ट्रा रणेहन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्*** — *'युद्ध करने से बेहतर है कि धृतराष्ट के पुत्र मुझे मार ही डालें'* और यह कि *'रक्तरंजित भोगों को भोगने के बजाय भीख मांग कर जीना कहीं अच्छा है'* (***श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके***). तत्त्वदर्शन के इस प्रकार के कर्तव्यपराङ्मुख विनियोगों के विरुद्ध चेतावनी और मार्गदर्शन के चिरंतन प्रकाशस्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित है गीताशास्त्र. यह तत्त्वज्ञान और साधना पद्धतियों के देश-काल के सन्दर्भों में उनके विनियोग की पद्धति का शास्त्र है. इस अर्थ में गीता को प्रामाणिक आस्था के अनुसंधान का शास्त्र भी कहा जा सकता है.

मोटे तौर पर गीता में सांख्य के उपदेश के दो प्रयोजन उभर कर सामने आते हैं, जो क्रमशः वैश्विक और हिन्दू सन्दर्भों को सम्बोधित हैं. सभी धर्मों की तात्त्विक एकता का निदर्शन कराते हुए, आस्था में तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठा धर्मशास्त्रों के विभाजक नैतिक मूल्यों के पुनराख्यान और उद्धार का पथ प्रशस्त करता है, यह सांख्य के उपदेश की वैश्विक भूमिका है. गीता में सन्दर्भचेता हुआ यही तत्त्वज्ञान अपने प्रामाणिक विनियोग की विधि का निदर्शन कराता है. तत्त्वज्ञान के निरपेक्ष प्रचार के कारण कर्तव्य विभ्रम की त्रासदी झेलते हिन्दूधर्म के लिए इसकी विशेष प्रासंगिकता है.

*   *   *

दूसरे अध्याय में योग विचार :

सन्दर्भित अध्याय में सांख्य और योग दोनों का ही समान पूर्वपक्ष है आस्था का पारम्परिक, शास्त्रनिबद्ध रूप. जहां सांख्य (तत्त्वदर्शन) पारम्परिक आस्था को जातीय, ऐतिहासिक परिच्छित्तियों से निकाल कर सृष्टि की तात्त्विक एकता में प्रतिष्ठित करता है, वहीं योग आचारविधि से परे प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रामाणिक मूल्यानुसंधान की पद्धति का निदर्शन कराता है. धर्मविधान जाति को (समूह को) सम्बोधित होते हैं, व्यक्ति को नहीं. प्रत्येक व्यक्ति की आध्यात्मिक आवश्यकता का संज्ञान लेना उनकी सामर्थ्य के बाहर की बात होती है. योग आभ्यन्तर परिष्कार के द्वारा व्यक्तिप्रमाण मूल्यानुसंधान का मार्ग है. दूसरी बात यह कि संहिताबद्ध विधान धर्म का परमार्थ नहीं हो सकते. उनमें प्रतिष्ठित मूल्य मानव की भोग और ऐश्वर्य की मूलवृत्तियों को सम्बोधित होते हैं; उसके भय और प्रलोभन का दोहन करते, दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था पर आधारित धर्मविग्रह स्वयं में बंधन हैं भयहेतु है. इस बंधन के क्षरण और उससे उद्धार के पथ को रेखांकित करते हैं सांख्य और योग के अन्तरंग अनुशासन.

सम्पूर्ण धर्म के रूप में योग की प्रतिष्ठा : गीता में योग के उपदेश का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि इसमें योग को एक समग्र धर्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है : ***'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्***. इस धर्म का थोड़ा सा भी अनुष्ठान महाभय से त्राण देने वाला है. सामान्यतया योग को लोग शरीर और मन के स्वास्थ्य के विज्ञान के रूप में जानते हैं. लेकिन योग का वास्तविक प्रयोजन तो आस्था का उद्धार है. योग आस्था को बाह्य आलम्बनों की बजाय आभ्यन्तर आलम्बन में प्रतिष्ठित करता है. साधना द्वारा परिशुद्ध अन्तःकरण किताब और अवतारी पुरुषों के रूप में प्राप्त बाहरी आलम्बनों की तुलना में अन्तरंग होने से आस्था का अधिक विश्वसनीय आलम्बन है. अतः गीता का परामर्श है : ***बुद्धौ शरणमन्विच्छ — शुद्धबुद्धि में शरण तलाश करो.***

योग का वैशिष्ट्य : शुद्धबुद्धि (शुद्धान्तःकरण) साधन रूप में योग की साधना को परिकल्पित करती है. योग की साधना कर्म होते हुए भी साधारण कर्मों की तरह नहीं है. कृषिकर्म और यागादि की भांति, यह बाह्य कारण सामग्री की उपलब्धता और अनुपलब्धता पर निर्भर नहीं करती. योग की दिशा में उठाया गया प्रत्येक प्रयास स्वरूपावगति की दिशा में एक कदम है, एक अव्यवहित उपलब्धि. अतः निष्फलता के लिए, जो समस्त मानवीय उपक्रमों का पीछा करती है, कर्मयोग

में कोई अवकाश नहीं है. मन के परिष्कार की दिशा में किया गया, मन का प्रयत्न (योग), कभी निष्फल नहीं होता, क्योंकि प्रयत्न जहां हो रहा है, उसी जगह में उसी काल में वह अनहुआ कैसे हो सकता है. गीता में योग के इस वैशिष्ट्य को *'नेहभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते'* कह कर सूत्रबद्ध किया गया है.

गीता का मानना है कि अपनी इस विशेषता के कारण योग न केवल आस्था का अधिक विश्वसनीय आलम्बन हो सकता है अपितु कर्मविधानों पर टिके, वर्चस्व के लिए आपस में झगड़ते पुस्तकपंथों का एक बेहतर, वैज्ञानिक आधारों पर टिका गरिमामय विकल्प हो सकता है. एक समग्र धर्म के रूप में योग की इन सम्भावनाओं पर गीता में गंभीर चिन्तन हुआ है.

आस्था के एकीभाव और बिखराव की समस्या :

एकीभाव के उद्धार में योग की भूमिका : आस्था के एकीभाव की समस्या धर्मदर्शन की आधारभूत समस्या है. पुस्तकपंथी धर्म, अपनी शास्त्रनिष्ठा से एकीभाव का लाभ करते हैं. उनके लिए यह कोई बड़ी समस्या नहीं है. लेकिन अपने बहुदेववादी और बहुशास्त्रवादी स्वरूप के कारण, बिखराव और विघटन के अनन्त सागर में डूबते उतराते, हिन्दूधर्म के लिए आस्था के एकीभाव की समस्या एक जीवन्त सैद्धान्तिक चुनौती है. गीता ने इस चुनौती की गंभीरता को समझा है; इसके निराकरण के लिए वह शास्त्रों से परे एकीभाव के साधनामूलक एवं तात्त्विक आधारों का अनुसंधान करती है. निपुण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित गीता की यह उपलब्धि, धर्मदर्शन की दृष्टि से असाधारण महत्त्व रखती है. आश्चर्य की बात है कि यह उपलब्धि, कभी गीता के विद्वान् भाष्यकारों का ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी.

गीता के दूसरे अध्याय के ५ श्लोक (४१-४५) आस्था के एकीभाव और बिखराव की समस्या पर विचार करते है. *'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥'*(श्लो. ४१). यह औत्पत्तिक सूत्र है जो आस्था में एकीभाव और बिखराव के मनोवैज्ञानिक आधारों की पहचान करता है. अपने प्राथमिक रूप में एकीभाव बुद्धि का व्यवसाय है, जब कि विखण्डन, बिखराव और अस्थिरता का मूल हैं कामनाएं. यतः कामनाओं का कोष मन है, यह कहा जा सकता है कि एक ही अन्तःकरण के विभाग — बुद्धि और मन — क्रमशः मूल हैं आस्था के एकीभाव और विखण्डन के.

उक्त वैचारिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए गीता में आस्था के एकीभाव के तीन परिकल्पों की चर्चा मिलती है. : पहला है **पुस्तकीय-कल्प**, जिसे गीता में **वेदवाद** नाम दिया गया है. दूसरा है साधना से प्राप्त समाध्युपलक्षित एकीभाव, जिसे हम एकीभाव का **अपुस्तकीय-कल्प** कह सकते हैं. तीसरा, इन दोनों का अतिक्रमण करके स्थित एकीभाव का **तात्त्विक स्वरूप**. पुस्तकीय और अपुस्तकीय दोनों से भिन्न, यह आस्था का **परापुस्तकीय** रूप है जिसके बारे में कहा गया है ***: त्रैगुण्यविषया: वेदा: निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन.*** एकीभाव के इन कल्पों की संक्षिप्त समीक्षा जरूरी है.

एकीभाव का पुस्तकीय कल्प :

सर्वप्रथम बौद्धिक विनिश्चय के रूप में एकीभाव की प्राप्ति तब होती है जब आस्था के आलम्बन के रूप में किसी शास्त्र, गुरू, पैगम्बर, या अवतारी पुरुष को स्वीकार किया जाता है. "मैं अमुक गुरू, पैगम्बर, या अवतारी पुरुष और उसके उपदेश को अपनी आस्था में स्वीकार करता हूं", यह निर्णय ही बुद्धि की व्यवसायात्मकता है. शास्त्रनिष्ठ होने के कारण इस एकीभाव को हम ***'पुस्तकीय'*** नाम दे सकते हैं.

निकट से देखें तो सभी धर्मों के शास्त्र कामनापूर्ति के दिव्य विधान हैं. एक ओर शास्त्र अपने अनुशासन के द्वारा आस्था के एकीभाव को सुनिश्चित करते हैं, तो दूसरी ओर, अपने कामनामूल के कारण वे उसे विखण्डन और बिखराव की सम्भावना से संक्रमित करते रहते हैं. इस प्रकार शास्त्रनिष्ठा, एकीभाव का एक व्यावहारिक किन्तु असुरक्षित कल्प है. इसकी दो गति हो सकती हैं : कामनाओं के निराकरण की साधना के द्वारा यह व्यवसाय समाध्युपलक्षित एकीभाव में पर्यवसित होता है, या फिर अव्यवसायात्मिका बुद्धि के प्रभाव में विखण्डन और बिखराव में. व्यवसाय की इस नियति को गीता इन शब्दों में सूत्रबद्ध करती है :

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।

यह श्लोक योग के द्वारा ***पुस्तकीय-एकीभाव*** के ***समाधिरूप-अपुस्तकीय-एकीभाव*** में जागरण की सम्भावना को रेखांकित करता है. यदि पुस्तकीय, अपुस्तकीय में व्युत्थान को प्राप्त नहीं करता तो भय विखण्डन और बिखराव ही उसकी गति है. इस वस्तुस्थिति को ठीक से समझने

के लिए गीता वेदवाद को निमित्त बना कर शास्त्रनिष्ठा के मनोविज्ञान का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करती है :

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।

धर्मदर्शन के क्षेत्र में गीता की यह एक क्रान्तिकारी स्थापना है कि संसार के सभी धर्मविधान, मूलतः कामनापूर्ति के विधान हैं. वे ईश्वरीय हों तो भी इससे क्या फ़र्क पड़ता है. *'यहां दोगे, वहां मिलेगा'* यह अनुबंध-लक्षण सभी धर्मविधानों में अव्यभिचरित है. इनका अनुशासन आस्था में एक संक्षिप्त, कामचलाऊ सोपाधिक एकीभाव का निवेश करता हैं.

यतः कामना एक अनिश्चित वैविध्य-लोलुप अस्थिर एवं फल की त्वरा के कारण अधीर मानसिक पदार्थ है, यह संहिताबद्ध-आस्था में यथासमय विकल्पबुद्धि, भेद और विभाजन को जन्म देता है. धर्मविधान एकीभाव को लेकर कितना ही कठोर क्यों न हो, देर सवेर शाखा-प्रशाखाओं में विभाजन किसी भी पुस्तकपंथ की अपरिहार्य गति है. कठोर विधिक अनुशासन के द्वारा आस्था के एकीभाव को सुनिश्चित करने में इस्लाम धर्म का कोई मुकाबला नहीं है. लेकिन निकट से देखें तो इस्लाम की तौहीद के दामन में सैंकड़ों पैबन्द नजर आएंगे.

उपयुक्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा गीता में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि पुस्तकपंथों का एकीभाव सतही है, अवास्तविक है; जहां और जिस रूप में उसकी प्रतीति हो रही है, कामनासंश्लेश के रूप में उसको अस्थिर करने वाले, उसके विघटन और बिखराव के बीज भी वहीं विद्यमान हैं.

जहां किताब पैगम्बर और उपास्य की वास्तविक या कल्पित बेहुर्मती को ले कर दंगे हो जाते हैं, जहां मानवीय विवेक की किसी एकाकी आवाज पर आस्था का समस्त प्रासाद थरथराने लगता है, उसे नेस्तनाबूद कर डालने के लिए चारौ ओर से मौत के फ़तवे उछलने लगते हैं, जिस आस्था को हमेशा राज्याश्रय की बैसाखी चाहिए, जहां वह बहुमत में है वहां भी, जहां अल्पमत में है वहां भी, उस धर्म के आधार, उसकी समस्त उग्रताओं के वाबजूद बहुत मजबूत

नहीं हो सकते. मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्ति से कहीं ज्यादा दुर्बल है वह आस्था जिसकी रात दिन तलवार ले कर पहरेदारी करनी पड़ती हो. ऐसे धर्म, जो भी हैं, जहां भी हैं, गीता में वेदवाद को निमित्त बना कर की गई पुस्तकपंथ की समीक्षा को निदर्शन के द्वारा प्रमाणित करते हैं. प्रमाणित करते हैं इस बात को भी कि *आप्तवचन* (किताब) या *आप्तपुरुष* आस्था का पूरी तरह से विश्वसनीय आश्रय नहीं हो सकते. मानव को अनास्था (विखण्डन) के महाभय से उबारने के लिए, आस्था के विश्वसनीय आलम्बन के रूप में गीता योग का उपदेश करती है, जो बाह्य आलम्बनों के आरोपित अनुशासन के बजाय साधना (योग) के द्वारा एकीभाव को आभ्यन्तर आधारों में सुनिश्चित करता है.

एकीभाव का अपुस्तकीय (साधनामूलक कल्प) :

मानव के बंधन और मोक्ष के आधार उसी के भीतर हैं. वह अपनी आध्यात्मिक स्वतंत्रता से वंचित हो कर दुःखमय जीवन जीने को विवश है तो इसका कारण उसके अपने कर्म हैं, न कि किसी पूर्वज आदम का पाप जैसा कि पुरागाथाकल्पित यहूदी ईसाई और इस्लाम जैसे धर्मों का मानना है. यतः बंधन के कारण मानव के भीतर हैं, वह अपनी साधना के द्वारा स्वयं अपना उद्धारक हो सकता है. इसमें मार्गदर्शक के रूप में गुरू की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है, लेकिन उद्धारक रूप में किसी पुरुष में आस्था का निवेश किया जाए यह कतई आवश्यक नहीं है. योग उधार का मांगा परोक्षधर्म नहीं, प्रत्यक्ष धर्म है. अतः यह युक्तिसंगत ही है कि गीता में योग का उपदेश किसी अवतारी पुरुष की शरण में जाने के बजाय साधना द्वारा शुद्ध हुई बुद्धि की शरण में जाने का परामर्श देती है : ***बुद्धौ शरणमन्विच्छ*** — तू बुद्धि में शरण तलाश कर.

बुद्धि आस्था वा विश्वसनीय आलम्बन तभी बन सकती है जब वह अस्थिर करने वाले मनोद्रेगों के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त हो जाए. अतः यह बुद्धियोग (आस्था के आश्रय रूप में बुद्धि की प्रतिष्ठा), अन्तःकरण- परिशुद्धि की एक सम्पूर्ण साधना को परिकल्पित करता है. साधना का यह निर्वचन कर्मयोग के उपदेश में साकार होता है. यह उपदेश अत्यन्त सघन और उलझी हुई शैली में है. इसका सांगोपांग निर्वचन आज भी एक बड़ी सैद्धान्तिक चुनौती है. इतना ही नहीं, इसकी व्याख्या के क्रम में अनेक नैतिक, धार्मिक और मनोवैज्ञानिक सवाल सामने आते हैं, जिनका समाधान तो दूर, गीता का पाण्डित्य — पारम्परिक और आधुनिक— ठीक से संज्ञान भी लेता नहीं

दिखाई देता. अपनी बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं :

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥३८॥

(सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय, को समान समझ कर, उसके उपरान्त तू युद्ध में अपने को लगा. इस प्रकार तू पाप नहीं का भागी बनेगा.)

प्राथमिक सोपान : समत्वयोग :

इसके उपदेश को ले कर समझ की समस्या : दूसरे अध्याय के इस ३८ वें श्लोक ने जितनी समस्याएं प्रबुद्ध जनमानस में पैदा की हैं, उतनी शायद ही गीता के किसी और श्लोक ने की हों. हिन्दूधर्म-विद्वेषियों के लिए तो यह सोने की खान है. जहां ईमानदार लोग समत्वबुद्धि को एक असंभव उपाय मान कर इसकी व्यावहारिकता के प्रति शंकालु देखे जाते हैं. वहीं धूर्त और पाखण्डी लोगों के लिए अपने कदाचार और मनमाने आचरण को उचित ठहराने के लिए समत्वबुद्धि से बेहतर कोई सिद्धान्त-कवच नहीं हो सकता. दूध में पानी मिलाओ समत्वबुद्धि से, डालडा में चर्बी मिलाओ समत्वबुद्धि से, लाभ और अलाभ को समान समझ कर टैक्स की हेराफेरी करो समत्वबुद्धि से. शत्रुओं के प्रति हिंसकभाव तो खैर स्वभावप्राप्त होता है, अपनों के प्रति मोहवश, अपनत्व के कारण जो करुणभाव प्राप्त है उसका भी अपलाप कर दो और अपने और पराए का बिना कोई भेद किए सभी का वध करते रहो और अपने को अपनी समत्वबुद्धि के कारण पापमुक्त समझो.

अक्सर लोकोक्ति की भांति उद्धृत किया जाता गीता का श्लोक *'सुखदु:खे समे कृत्वा..'*, उसके अविचारित प्रयोग और गुमराह करने वाले भाष्य हिन्दू-जनमानस की गहराइयों में एक अवचेतन जीवनादर्श का निर्माण करते हैं, जिसे हिन्दुओं के नैतिक संदेहवाद, अनास्था, अप्रतिबद्ध-आचरण, और समझौतावादी द्रष्टिकोण के लिए काफी हद तक जिम्मेदार माना जा सकता है. यह देख कर हैरानी होती है कि गीता के विद्वान् व्याख्याकार इन समस्याओं का संज्ञान तक नहीं लेते, उनके पाण्डित्यपूर्ण भाष्यों में शास्त्र के इस खतरनाक दुरुपयोग को रोकने और जनता को इस बारे में सावधान करने का कोई प्रयास देखने को नहीं मिलता.

विचारबीज और साधना का सोपानक्रम :

कर्मयोग के सिद्धान्त का विचारबीज है नित्यकर्म की वैदिक अवधारणा. कर्म में कामनासंसर्ग ही बन्धन है. नित्यकर्म निष्काम होने से बन्धनकारी नहीं होता. यह महत्त्वपूर्ण अर्थराशि नित्यकर्म के कर्मकाण्ड में विजड़ित, जमीन में दबे सोने की तरह पड़ी थी, उसका धर्म के व्यापक सन्दर्भ में उन्मोचन, धर्मोद्धार की अभिनव भूमिका में उसका नियोजन, यह इस सिद्धान्त में गीता की अन्तर्दृष्टि की पहली महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है. नित्यकर्म की तटस्थवृत्ति का किस प्रकार विस्तार और वर्णधर्म के उद्धार में नियोजन हुआ है, संदर्भित श्लोक इसका सहज निदर्शन है.

योग के सिद्धान्त पक्ष का निरूपण, आपत्तियों का निराकरण, साधनासोपानों का यथाक्रम निर्वचन — भाष्य में इन सभी विषयों पर विस्तार से विचार हुआ है. यहां इतना भर कहना पर्याप्त होगा कि समत्वबुद्धि और बुद्धियोग, कर्मयोग की साधना के पौर्वापर्य रूप हैं. समत्वबुद्धि साधना का प्राथमिक सोपान है, जब कि बुद्धियोग इसका पर्यवसितार्थ. समत्वबुद्धि का अर्थ है, प्राकृत मूल्यानुबंधो से आस्था की मुक्ति. यहां मुक्ति का अर्थ सुखदु:खादि की सत्ता का अपलाप नहीं उनमें जो मूल्यबुद्धि है उसका निवारण है. सुखदु:खादि में मूल्यबुद्धि के निवारण के साथ ही अप्रासंगिक हो जाते हैं वे सभी धर्म जो दिव्यसुखों के आश्वासन और नारकीय दु:खों की भयावह परिकल्पना पर टिके हैं. इस प्रकार समत्वबुद्धि कर्मयोग की साधना का पहला तर्कित सोपान है. यह अनैतिकता की नहीं, उच्चतर नैतिकता की भूमि है जिसे निम्नकोटिक आचारानुबंधों के निराकरण के द्वारा ही पाया जा सकता है. पुस्तकीय से भिन्न यह आस्था के एकीभाव की साधनामूलक (अपुस्तकीय) कोटि है.

एकीभाव का तात्त्विक (परापुस्तकीय रूप) :

शास्त्रों का अनुशासन अपने विधान के द्वारा केवल आचरण का परिष्कार करता है. मन का परिष्कार किसी विधान का विषय नहीं होता. इससे विशिष्ट, साधना का मार्ग, आचरण और मन दोनों का परिष्कार करता है. विधिनिष्ठ आस्था में त्याग द्रव्यत्याग के रूप में होता है जब कि योग की साधना में त्याग कामनाओं के विसर्जन का रूप लेता है. अस्थिरताकारक कामना पदार्थ के परित्याग के कारण योग आस्था का अधिक विश्वसनीय आश्रय सिद्ध होता है.

अपनी उक्त विशेषताओं के कारण निश्चय ही योग पुस्तकपंथों की तुलना में धर्म की अधिक परिष्कृत, समधिक सूक्ष्म और उच्चतर कोटि है. किन्तु इसके बावजूद योग भी आस्था का परमार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि अभी भी त्याग करने के लिए बहुत कुछ बचा है. इसे लक्ष करते हुए गीता, पुस्तकीय और अपुस्तकीय दोनों का अतिक्रमण करके प्रतिष्ठित, एकीभाव के तात्त्विक, परापुस्तकीय स्वरूप की ओर अर्जुन का आवाहन करती है. :

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

(हे अर्जुन ! सभी वेद त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कार्यरूप संसार को विषय करने वाले हैं; तू असंसारी, सुखदुःखादि द्वन्द्वों से रहित, निरंतर सत्त्व में स्थित, योगक्षेम के प्रति निस्पृह और आत्मपरायण हो.)

त्याग की हद वह है जब त्याग की साधना का भी विसर्जन हो जाय; उन साधनों का भी त्याग हो जाय जिनके द्वारा त्याग किया जा रहा है. साधन के परित्याग से त्याग निराकांक्ष हो जाता है. त्याग की यह आत्यन्तिकता ही निस्त्रैगुण्यभाव है, धर्म का परमार्थ, उसके ठहराव की, उसके एकीभाव की अविचल कोटि. जिसमें त्याग करने को भी कुछ न बचे, वही त्याग की पराकाष्ठा है. महाभारत के शान्ति पर्व में निस्त्रैगुण्य की साधना को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है.

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज।। महाभारत (शा.प.३३१.४४)

(धर्म का त्याग कर और अधर्म का भी; सत्य और असत्य का त्याग कर. सत्य और असत्य दोनों का त्याग करके, उस साधन का भी, जिससे त्याग करता है, त्याग कर.)

अपुस्तकीय से परापुस्तकीय की ओर :

आस्था के आलम्बनों का विसर्जन ही त्याग की अन्तिम आहुति है. परमेश्वर, उसकी आज्ञाओं का शब्दविग्रह (पवित्रग्रन्थ) तथा उसे लाने वाले आप्तपुरुष (गुरू, पैगम्बर या अवतारी पुरुष), इस त्रिपुटी में बंधे आस्था के साकार विग्रह में यह सामर्थ्य नहीं होती, कि अपने को साधन मात्र मानकर अपने स्वरूप के विसर्जन का निर्णय ले सके. जहां किताब और पैगम्बर की कथित अवमानना को ले कर दंगे हो जाते हैं, वहां तो इन आलम्बनों के विसर्जन की बात करना भी गुनाह है. यह कार्य तो धर्म के जाग्रत, प्रबुद्ध और अपेक्षाकृत अपार्थिव स्वरूप में

ही सम्भव है, और वह स्वरूप आस्था का साधनाकल्प अर्थात् योग ही हो सकता है. योग पुस्तकपंथों की भांति शरीर और मन की कुछ क्रियाओं का कर्मकाण्ड बन कर न रह जाय, वह अपनी आध्यात्मिक सम्भावना की आखिरी हद को छू सके, इसके लिए आवश्यक है, आस्था के परमार्थ की समझ जो योग की साधना को उसके उद्देश्य से जोड़ती है,उसे भटकने नहीं देती. यही है *निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*' इस आवाहन का रहस्य.

बुद्धि में शरण तलाश करने का परामर्श : निहितार्थ :

आस्था के इस परापुस्तकीय परमार्थ में प्रवेश के लिए एक साधक तैयार है यह जानकारी कैसे होगी? इसमें निर्णायक अनुशास्ता कौन होगा, ऐसी जिज्ञासा होने पर बुद्धियोग की शरण में जाने का उपदेश होता है. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, समत्वयोग और बुद्धियोग, कर्मयोग की साधना के पौर्वापर्य क्रम हैं. समत्वयोग से प्रारम्भ हुई साधना, अनेक सोपानों को तय करती बुद्धियोग में पर्यवसित होती है, जो शुद्धान्तःकरण की प्रतिष्ठा का ही अपरपर्याय है. शुद्धान्तःकरण आस्था के तात्त्विक स्वरूप का प्रकाशक भी है और उसमें अधिकार का विनिगमक भी. इसके वैभव के सामने किताबी धर्मों के लौकिक और अलौकिक भोगों के लुभावने वायदे करती फलश्रुतियां अत्यन्त दीन और तुच्छ लगने लगती हैं. अतः अपेक्षित मार्गदर्शन के लिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को शुद्धबुद्धि की शरण लेने को कहते है–
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतव.

गीता किसी किताब की ओर आवाहन नहीं करती, स्वयं अपनी ओर भी नहीं. किसी पीर, पैगम्बर, गुरू या अवतारी पुरुष में आस्था की प्रतिष्ठा की भी बात वह नहीं करती. उसका आवाहन तो अपने शुद्धान्तःकरण में ही आस्था का अलम्बन तलाश करने के लिए है. शुद्धबुद्धि आस्था का आश्वस्त करने वाला आलम्बन भी है और आचरण का प्रामाणिक अनुशास्ता भी. यह शुद्धबुद्धि ही है जो साधारण मनुष्यों को नबी, पैगम्बर, गुरू और युगदृष्टा आचार्यों की हैसियत देती है, उन्हें ईश्वर के साक्षात्कार का, उससे सीधे बातें करने और साक्षात् मार्गदर्शन प्राप्त करने का विशेषाधिकार सोंपती है. यही कारण है कि युगयुगों से गायत्रीमंत्र — बुद्धि के लिए दिव्य प्रेरणा का आवाहन — हिन्दुओं की अधिकृत प्रार्थना है

मानव की प्रार्थनाएं, उसकी इबादत और पूजा के उपक्रम, अधिक से अधिक जो उसे दे सकते हैं वह है शुद्धान्तःकरण की सिद्धि अर्थात् बुद्धियोग. कोई धार्मिक अनुष्ठान मनुष्य को इससे अधिक नहीं दे सकता, स्वयं ईश्वर भी इंसान को इससे अधिक नहीं दे सकता, क्योंकि शुद्धान्तःकरण स्वयं में पूर्णता का, ईश्वर के अव्यवहित मार्गदर्शन और साक्षात्कार का आश्वासन है. यह भक्तों के लिए ईश्वर का अनन्य कृपाप्रसाद है :

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं येन मामुपयान्ति ते।। (गीता.१०-१०)

(निरंतर एकाग्रचित्त होकर और प्रेमपूर्वक मेरे भजन में लगे उन भक्तों को मैं बुद्धियोग देता हूं, जिसके द्वारा वे मुझको पा लेते हैं.)

योग : हिन्दूधर्म का अनन्य वैभव :

किसी भी वैज्ञानिक अनुसंधान की तरह योग भी समस्त मानवजाति का उत्तराधिकार है. इसे किसी वर्ग या क्षेत्र विशेष की सम्पत्ति के रूप में संरक्षित नहीं किया जा सकता. समस्त मानव जाति को इससे लाभन्वित होने का अधिकार है. साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि योग, पुस्तकपंथी एवं कर्मकाण्डपरायण धर्मों से अलग, आस्था की एक सर्वथा नई अवधारणा प्रस्तुत करता है. जो पुस्तकीय विधान को ही आस्था का सर्वस्व मानते हैं, जिनके लिए उसके अनुपालन और अननुपालन के लिए पुरस्कार (स्वर्ग) और दण्ड (नरक) ही धर्म का परमार्थ है, वे योग से किस हद तक लाभान्वित हो सकते हैं, यह कह पाना मुश्किल है. किसी बाहरी मसीहा या किताब के अनुशासन के बजाय, योग मानव की मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक संभावनाओं में उसके उद्धारक धर्म का अनुसंधान करता है. मानव की अंतरंग गरिमा, उसके दिव्य स्वरूप और अपनी आध्यात्मिक संभावनाओं के अनुरूप अपने लिए प्रामाणिक धर्मपथ के अनुसंधान के अधिकार की मान्यता — ये योगधर्म की कुछ आधारभूत मान्यताएं हैं.

आरोग्य, तनाव से मुक्ति, मन की एकाग्रता, उपासना में चित्त की शुद्धि आदि विभिन्न लौकिक और धार्मिक प्रयोजनों के लिए योग के चयनात्मक विनियोग देखे जाते हैं. इसमें कोई बुराई नहीं है. लेकिन योग की समस्त सम्भावनाएं तो उस आस्था में ही पल्लवित होती हैं जो मानव को एक पापमय सृष्टि के रूप में नहीं देखती, अपितु इसके ठीक विपरीत जो मानव की

अंतरंग गरिमा और उसके दिव्य स्वरूप को स्वीकार करती है. इन मूल मान्यताओं को स्वीकार करने के कारण हिन्दुओं में योग और उसकी विभिन्न विधाओं का अनिर्बन्ध विकास सम्भव हो सका. अन्य धर्मावलंबी भी, आधे मन से ही सही, मानववाद और उसमें अन्तर्निहित मानव की अंतरंग गरिमा की मान्यता को स्वीकार करने को विवश हैं. यह स्वीकृति विश्वधर्म के रूप में योग की सम्भावनाओं को रेखांकित करती है.

कर्मयोग कर्म करने की ऐसी तकनीक को बताता है जिससे इंसान का हर कर्म उन्मोचक, बन जाता है, हर कर्म इबादत, हर कर्म ईश्वराधन बन जाता है. स्पष्ट है कि इबादत के बंधे बंधाए तरीके, निश्चित प्रतीकों पर टिकी प्रार्थना का विधान करने वाले धर्म, इबादत की ऐसी साहसिक परिकल्पना को कभी स्वीकार नहीं कर सकते. कतिपय शास्त्रवादी हिन्दू सम्प्रदाय भी अनुकूल व्याख्या के बिना इसे स्वीकार करने में संकोच कर सकते हैं. किन्तु हिन्दू आस्था की प्रामाणिक मान्यता के रूप में इसके बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता. गीता का कर्मयोग हिन्दू आस्था के वैचारिक साहस का प्रमाण है, जो इस आस्था को इसकी विशिष्ट पहचान देता है.

धर्मदर्शन की दृष्टि से गीता के योगचिन्तन की महत्त्वपूर्ण उपपत्तियां :

सम्पूर्ण धर्म के रूप में योग की प्रतिष्ठा : सम्पूर्ण धर्म वह है जो यहीं, इसी दुनियां में परमार्थ का साक्षात्कार कराने का आश्वासन दे सके. इस दृष्टि से योग एक सम्पूर्ण धर्म है, ज्ञान या भक्ति का साधन मात्र नहीं, जैसा कि अधिकांश साम्प्रदायिक व्याख्याकारों का मानना है. जहां तक गीता की बात है वह योग को एक निरपेक्ष, सम्पूर्ण धर्म के रूप में प्रस्तुत करती है, जिसकी सहायता से साधक जन्ममरण के बंधन से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त कर लेता है : ***जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्.*** योग की विधाएं — ज्ञान, कर्म, ध्यान और भक्ति — ये साधन बन कर एक दूसरे के उपकारक हो सकते हैं. लेकिन इससे इनमें से किसी की स्वतंत्र हैसियत व्याहत नहीं होती. कर्मयोग की सम्भावनाओं को साधनरूप में सीमित करके उसे ज्ञान या भक्ति के अंगरूप में नियमित करने के साम्प्रदायिक प्रयास अनुमोदन के योग्य नहीं हैं.

अभिनव धर्मदृष्टि का उद्घाटन :

गीता में बुद्धियोग का उपदेश एक क्रान्तिकारी स्थापना है, धर्मदर्शन की दृष्टि से भी और आचारमीमांसा की दृष्टि से भी. भारतीय विचारकों ने *आत्मवत्सर्वभूतेषु* कह कर, बुद्धि के द्वारा

साधारणीकृतवेदना को आचरण का मानदण्ड माना है तो योरुप में भी काण्ट जैसे दार्शनिकों ने, सदाचार के प्रामाणिक नियामक के रूप में बुद्धि की प्रतिष्ठा की है. इससे आगे योरुप की समझ नहीं जाती. *कर्तव्य* की भांति, धर्म (आस्था) में भी शुद्धबुद्धि प्रमाण हो सकती है, यह बात, जिसे गीता ने हजारों साल पहले समझ लिया था, आज भी योरुप के लिए समझ से परे की बात है.

अवतरितग्रन्थ ही धर्म का परमार्थ है, यह बात पाश्चात्यमानस में इस गहराई तक बैठ गई है कि वे पुस्तकीय धर्मों का खण्डन तो कर सकते हैं, किन्तु पुस्तक से परे भी धर्म की कोई अवधारणा हो सकती है, यह बात उनके लिए साहसिकता मात्र है. पश्चिम के साहसी लोग ऐवरैस्ट की चोटी तक पहुंच सकते हैं, समुद्र की गहराइयां नाप सकते हैं, उत्तरीध्रुव, दक्षिणीध्रुव यहां तक कि चांद तक जा कर वहां की खबर ला सकते हैं. लेकिन मन की गहराइयों में उतर कर आस्था के अन्तरंग आधारों की तलाश कर सकें यह उनके बूते की बात नहीं है.

प्रामाणिक जीवनादर्श का अनुसंधान :

इस दुनियां में ढूंढ़ने पर ऐसे लोग मिल जाएंगे जो कहें कि हमने भगवान् को देखा है. ऐसे भी मिल जाएं जो भगवान् के दर्शन कराने का दावा करते हैं. लेकिन ऐसे लोग बहुत मुश्किल से मिलेंगे, जो यह दावा कर सकते हों कि उन्होंने प्रामाणिक जीवन जिया है. अपनी सम्भावनाओं में जागृत होकर जीने का ही नाम है प्रामाणिक जीवन. प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह प्रामाणिकता अनुसंधान का विषय है. परिशुद्ध बुद्धि के द्वारा इसे व्यक्तित्व के अंतरंग धरातलों में ही ढूंढ़ा जाता है. अतः गीता का परामर्श है : *बुद्धौ शरणमन्विच्छ.*

गुरुओं के उपदेश, पैगम्बरों के पैगाम और धर्मशास्त्रों के मार्गदर्शन बहिरंग उपकारक हैं, उधार मांगे के अनुभव, जो एक सीमित अर्थ में उपयोगी तो हो सकते हैं, लेकिन प्रामाणिक आस्था के अनुसंधान में कभी दूर तक साथ नहीं दे सकते. गीता के दूसरे अध्याय में सांख्य और योग के उपदेश, प्रामाणिक जीवन के अनुसंधान का मार्ग दिखाते हैं, जिस पर चल कर एक व्यक्ति स्वयं अपना उद्धारक बन सकता है.

अपने भीतर अपने उद्धारक की तलाश का नाम योग :

एक समय था, जब समुदाय ही व्यक्ति की पहचान हुआ करता था. व्यक्ति को जाति और कबीले के रूप में पहचाना जाता था. उसकी अपनी पहचान तब अप्रासंगिक थी. अतः उस दौर में जातीय इकाइयां ही धर्म का सम्बोध्य बनीं. जातीय मसीहाओं के द्वारा शास्त्रों के रूप में **'प्रकाशित'** दिव्य संदेश कानून की किताबों की तरह समाज विशेष की आस्था का नियमन और मार्गदर्शन करते थे. आज जब सभ्यता के विकास के क्रम में वैयक्तिकता उत्तरोत्तर पैनी हो कर उभर रही है, जातीय पहचान शिथिल और अप्रासंगिक कलेवर की तरह छूटती चली जा रही है, आने वाले दौर का धर्म पुस्तकपंथ नहीं हो सकते. प्रत्येक व्यक्ति के लिए, उसके प्रामाणिक जीवन के अनुसंधान पर आधारित आस्था ही उसका प्रामाणिक धर्म हो सकती है. वह पारम्परिक धर्म-सम्प्रदायों में अपनी आस्था को नए सिरे से पा सकता है, उनके पुनर्व्याख्यान के द्वारा स्वधर्म का उद्धार कर सकता है, और यह भी हो सकता है कि उन सब को निरस्त करते हुए, अपने लिए स्वयं प्रामाणिक आस्था (स्वधर्म) के अनुसंधान में प्रवृत्त हो. मुख्य बात तो अपने ही भीतर, अपने व्यक्तित्व के उपादानों में ही अपने उद्धारकधर्म की तलाश की है.

पतन और उद्धार, दोनों के आधार मानव के भीतर :

मानव के उद्धार और पतन के आधार उसके भीतर ही हैं, यह विशुद्ध हिन्दू-धर्मदृष्टि है, जो हिन्दूधर्म को तत्तद् पुस्तकपंथों से और स्वयं अपने बहुत से सम्प्रदायों से अलग करती है. आचार्य शङ्कर के शब्दों में :

ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः।
बंधमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन॥

पिता को ऋण से मुक्ति दिलाने का काम उसके पुत्रादिक कर सकते हैं. लेकिन इस संसार में बंधन और उससे मुक्ति का कर्ता व्यक्ति स्वयं ही होता है, कोई दूसरा नहीं

धर्म एक बना बनाया, आसमान से उतरा विधान नहीं, बल्कि एक अनुसंधान है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति, अपने व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक उपादानों के विश्लेषण के आधार पर योगसिद्ध शुद्धान्तःकरण में सम्पन्न करता है. इस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए, सांख्य चिन्तन के माध्यम से गीता में मानव व्यक्तित्व की जटिल संरचना का विशद् विवरण उपलब्ध कराया गया है.

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः

गीता में हिन्दूधर्म का लक्षणसूत्र : सांख्य और योग के उपदेशों का समन्वित आदर्श है स्थितप्रज्ञ. १९ श्लोकों में आस्था के इस परमादर्श के निरूपण के साथ दूसरे अध्याय का उपसंहार होता है. हमारे लिए यह स्थल इसलिए विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि इसमें हमें हिन्दूधर्म का अनवद्य लक्षण प्राप्त होता है : *तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर*

इन्द्रियनिरोध के रूप में संयम का प्राथमिक उपक्रम, योग की साधना के द्वारा उसका उद्धार और साधना का परमार्थ में समर्पण — यह त्रिपुटी, हिन्दूधर्म का समग्र विवरण भी है और उसका अनवद्य लक्षण भी. इसका सरल अर्थ है धर्मानुशासन से प्राप्त आस्था के निरोधमूलक कल्प का योग में उद्धार, और योग के द्वारा परिष्कृत व्यक्तित्व का परमार्थ में समर्पण. यह परमार्थ ईश्वरवादी के लिए परमात्मा और अनीश्वरवादी के उसकी श्रद्धा के अनुसार, सृष्टि की नैतिक व्यवस्था, प्रेरणापुरुष, आध्यात्मिक गुरू — कुछ भी हो सकता है.

संसार के अन्यान्य धर्म शास्त्रानुपालन को ही धर्म का परमार्थ मानते हैं. हिन्दूधर्म में शास्त्रानुपालन (सदाचार) धर्म का परमार्थ नहीं, धर्मावगति का पहला सोपान है. यह अन्तर है अन्य धर्मों से हिन्दूधर्म का. अन्य धर्म, शास्त्रविधान के अलावा धर्म में न तो कोई अन्य प्रमाण स्वीकार करते हैं, न ही वे विहित कर्म के अतिरिक्त धर्म को कोई और अर्थ ही दे सकते हैं. इनसे सर्वथा भिन्न, हिन्दूधर्म शास्त्रविधान के अलावा, ज्ञान (विवेक) और योग(साधना) को आस्था में स्वीकार करते हुए, इनके द्वारा आस्था की उच्चतर कोटि में विध्यर्थ के उद्धार को परिकल्पित करता है. सर्वस्व समर्पण की सामर्थ्य योग से ही आती है. क्रमप्राप्त यह समर्पण ही धर्म का परमार्थ है. ईश्वरवादी के लिए भी अनीश्वरवादी के लिए भी. निःसंदेह ***तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर,*** धर्मावगति का तीन चरणों में निबद्ध यह सूत्र हिन्दूधर्म का एक सरल, निर्दुष्ट लक्षण उपलब्ध कराता है, वह भी बिना किसी इतिहास भूगोल के.

वस्तुतः गीता धर्मचिन्तन के क्रम में धर्म की जो व्यापक अवधारणा विकसित होती है उसे व्यवहार के योग्य एक अविकल पहचान देना ही इस लक्षण का प्रयोजन है. यतः हिन्दूधर्म इस लक्षण का एकाकी उदाहरण है, इसे हिन्दूधर्म के लक्षण के रूप में प्रस्तुत करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए.

आज के संसार के लिए गीता का संदेश :
पुस्तकीय धर्मों के टकराव की विभीषिका के बीच परापुस्तकीय धर्म की ओर आवाहन :

किताबी मजहब आस्था का परमार्थ नहीं हैं. धर्म का परमार्थ परापुस्तकीय है (त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन). पुस्तकपथों के जेहाद और प्रति-जेहादों से संत्रस्त मानवता के लिए गीता का यह संदेश असाधारण महत्त्व रखता है. जब धर्म के परमार्थ रूप में पुस्तकपंथों की हैसियत मूल में ही व्याहत है, तब हमारी किताब दुनियां की पहली किताब, या हमारी किताब आखिरी किताब, हमारे नबी अखिरी नबी, यह बहस बेमानी हो जाती है, और इसको ले कर झगड़ने वालों के आचरण कुछ उसी तरह बचकाने लगते हैं, जैसे रेल के डब्बे में बैठे कुछ लोग इसलिए दौड़ लगाते हैं कि शायद वे दूसरों से पहले मंजिल पर पहुंच जाएंगे. पारस्परिक अविश्वास और वैमनस्य के वाबजूद, सभी किताबी मजहब, अपने कबीलाई संस्कारों और आकांक्षाओं में एक जैसे हैं. सभी का उद्‌भवमूल है भोग और ऐश्वर्य की कामनाएं. गीता आस्था के इस दुनियांदार स्वरूप को त्रैगुण्यविषयता नाम देती है. धर्म के पुस्तकीय विग्रह इस त्रैगुण्यविषयता का अतिक्रमण नहीं करते. आस्था का परमार्थ, निस्त्रैगुण्य है, परापुस्तकीय है. गीता का आवाहन इस परापुस्तकीय परमार्थ की ओर है : *त्रैगुण्यविषया:वेदा:निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन.*

विज्ञान के क्षेत्र में योरुप ने उपलब्धियों की असाधारण ऊचाइयों को छुआ है. समाज-दर्शन के क्षेत्र में उसने साम्यवाद और समाजवाद जैसी मौलिक विचारधाराओं को जन्म दिया और मानववादी जनतांत्रिक व्यवस्था का विकास किया. अपनी इन दोहरी उपलब्धियों के कारण योरुप और अमेरिका आज की सभ्यता के पर्याय बन चुके हैं. उपलब्धियों को देखते हुए, यह प्रतिष्ठा एक मायने में उचित भी है. किन्तु इन समस्त उपलब्धियों के गर्भ में अपरिपक्व पुस्तकपंथी आस्था का ज्वालामुखी खदबदा रहा है, जिसके विचार मात्र से आज की सभ्यता का गंधर्व लोक सिहर उठता है.

आज की वैज्ञानिक-मानववादी सभ्यता के विरुद्ध, ऐकान्तिक पुस्तकपंथों की तीन प्रतिबद्धताएं हैं, जिनके बोझ से चरमराती आज की सभ्यता के सामने, कुछ कामचलाऊ, सतही समझौतों के अलावा बचाव का कोई रास्ता नजर नहीं आता. इनमें पहली यह कि विज्ञान चाहे कुछ भी कहे, सृष्टि का सत्य वही है जो 'उनके' धर्मग्रन्थों में लिखा है. आज २१वीं सदी में भी अमेरिका में बहुत से विद्यालय ऐसे हैं जो विकासवाद के सिद्धान्त को पाठ्‌यक्रम से हटा कर,

उसके स्थान पर बाइबिल की सृष्टि-गाथा और आदम हब्बा की कहानी को वापस ला रहे हैं. जब अमेरिका और योरुप के देश अपनी गगनचुम्बी वैज्ञानिक प्रगति के वाबजूद अपने कबीलाई पुस्तकपंथों में कोई परिष्कार उत्पन्न नहीं कर सके, तब हिन्दुस्तान के इन धर्मनिरपेक्षियों के भोलेपन को क्या कहा जाय जो सोचते हैं कि मदरसों में कम्प्यूटर शिक्षा लागू करने से मुसलमान जेहाद और अन्य धर्मावलंबियों (काफिरों) के प्रति घृणा के मार्ग से विरत हो जाएंगे, जो उनकी किताब का अनुशासन है.

विरोध की स्थिति में विज्ञान के विरुद्ध पुस्तक की प्रतिष्ठा, ऐकान्तिक पुस्तकपंथ की पहली प्रतिबद्धता है. दूसरी यह कि मानव मात्र की स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव की मानववादी मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये मान्यताएं दैवी और आसुरी, ईश्वरीय और शैतानी, ईमानवाले और काफ़िर के बीच जो मौलिक विभाजन रेखा है उसका अपलाप करती है. काफिरों के अधिकार ईमानवालों के अधिकारों के बराबर नहीं हो सकते; ईमानवालों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे काफिरों को प्रताड़ित करके उन्हें ईमान के रास्ते पर ला सकें. भ्रातृभाव केवल ईमानवालों के बीच ही हो सकता है. अन्य धर्मावलंबी तो काफिर हैं, विपथगामी हैं, और धर्मविधान के अनुसार घृणा और सतत प्रताड़ना के पात्र हैं. मानववादी मूल्यों की अमान्यता, पुस्तकीय धर्मों की दूसरी प्रतिबद्धता है.

विभिन्न धर्मों के बीच संघर्ष की अपरिहार्यता की परिकल्पना और धर्मयुद्ध का विधान, पुस्तकपंथ की तीसरी प्रतिबद्धता है, जो आधुनिक सभ्यता के बहुत्ववादी ताने बाने को छिन्न भिन्न करते हुए, सारे संसार को युद्ध की कभी न बुझने वाली लपटों में झोंकने के लिए पर्याप्त है. यह प्रतिबद्धता पुस्तकपंथ की अन्तरंग सैद्धान्तिक संरचना से प्राप्त है. यह बात पुनः स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि पुस्तकपंथ से यहां तात्पर्य ऐकान्तिक पुस्तकपंथ है, जिसके वर्तमान में उदाहरण हैं, सामी उद्भव के तीन धर्म, यहूदी ईसाई और इस्लाम. जो धर्म शास्त्र के साथ, विवेक और मानवीय संवेदनाओं को आस्था में प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं, वे ऐकान्तिक पुस्तकपंथ की कोटि में नहीं आते.

घृणा और अलगाव को जो धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, सार्वभौमिक स्वीकृति के दार्शनिक आधारों से रहित जिनकी कबीलाई आस्था, टकराव और युद्ध से ही सार्वभौमिक प्रतिष्ठा

की सम्भावना देखती है, ऐसे पुस्तकपंथ आज की वैज्ञानिक मानववादी सभ्यता के गर्भ में पलते जालामुखियों की तरह हैं, जिनसे बचाव का कोई रास्ता नजर नहीं आता, जिनकी विभीषिका की कल्पना मात्र से आज का सभ्य संसार सिहर उठता है.

चरमपुस्तकपंथी धर्म होते हुए भी, यहूदी धर्म एक छोटे से समुदाय का धर्म होने के कारण वर्चस्व की इस दौड़ से बाहर है. जहां तक हिन्दूधर्म और उसके बौद्धादि सम्प्रदायों की बात है, वैश्विक वर्चस्व कभी इनका आदर्श नहीं रहा. इनकी सार्वभौमिक अपील का रहस्य इनका तत्त्वदर्शन है, पराक्रम नहीं. पुनः हिन्दूधर्म तो अपने अन्तर्विरोधों के कारण अपने जन्म के देश में ही अप्रासंगिक होता जा रहा है, अतः उसके लिए वैश्विक वर्चस्व की बात सोची भी नहीं जा सकती. सम्प्रति वर्चस्व की यह लड़ाई दो प्रमुख पुस्तकपंथों, ईसाई और इस्लाम धर्मों के बीच सिमट कर रह गई है. ये दोनों धर्म जहां एक दूसरे का उच्छेद करने के लिए कटिबद्ध हैं, वहीं आधुनिक, वैज्ञानिक संस्कृति और उसके सर्वधर्म समभावी बहुत्ववाद को दोनों ही अपना सामान्य अवरोधक मानते हैं, क्योंकि यह किसी एक धर्म के वर्चस्व की अनुमति नहीं देता. यह बात अलग है कि ईसाई और इस्लामधर्म आधुनिकता के साथ अपने सम्बन्धों को, अपनी प्राथमिकताओं के अनुसार अलग अलग ढंग से परिभाषित करते हैं.

ईसाई धर्म, इस बात में बुद्धिमानी मानता है, कि जब तक इस्लामधर्म की निर्णायक पराजय न हो जाय तब तक, आधुनिक धर्मनिरपेक्ष विश्व को साथ ले कर इस्लाम धर्म के विरुद्ध एक सम्मिलित मोर्चा बनाए रखा जाय. अतः ईसाई धर्मप्रचारकों द्वारा बड़ी होशियारी से यह प्रचार किया जा रहा है (जो कि सही नहीं है) कि आधुनिक मानववादी सभ्यता ईसाई धर्म का ही विस्तार है. इसके विपरीत इस्लामधर्म ईसाइयत, मानवाद और आधुनिकता, सबको कुफ्र मानते हुए, सबके साथ अकेले लड़ रहा है और अकेला पड़ता जा रहा है. वास्तविकता यह है, ईसाइयत और इस्लाम — दोनों ही ऐकान्तिक वर्चस्व के प्यासे हैं, दोनों ही उपासना वैविध्य को समाप्त करके अपने अपने परमेश्वर की खातिर संसार को जीतने के लिए संघर्षरत हैं, अतः परस्पर सम्मान और सहिष्णुता पर आधारित धार्मिक-सांस्कृतिक-बहुत्वाद दोनों का समन्वित निशाना है.

जहां एक पक्ष संघर्ष को धार्मिककर्तव्य मानता हो, वहां दूसरा पक्ष शान्ति के लिए कितने भी प्रयास करे, संघर्ष से ज्यादा समय तक बचा नहीं जा सकता. कुछ सतही समझौते करके,

केवल इसे कुछ समय के लिए टाला जा सकता है. मुस्लिम संगठनों के घोषित जेहादी आतंकवाद को इस्लामी आतंकवाद कहने से सभ्य संसार बचता रहा है; मुस्लिम आतंकवादियों की हर चोट के बाद, ये दिल बहलाने वाले मुहावरे अक्सर सुनने को मिल जाते हैं : 'आतंकवाद का कोई धर्म नहीं होता', 'इस्लाम तो मुहब्बत का मजहब है', 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' आदि आदि. जो इस तरह की बातें करते हैं वे अच्छी तरह जानते है कि वे झूठ बोल रहे हैं; विधर्मियों के प्रति नफ़रत, शास्त्रविहित वैरभाव, उनके उच्छेद पर्यन्त जंग करते रहने की प्रतिबद्धता इस्लाम का केन्द्रीय संदेश है. इस सच्चाई के विपरीत जो अतथ्य प्रचारित किए जा रहे हैं, उन्हें संघर्ष को टालने के एक प्रयास के रूप में ही देखा जाना चाहिए.

इस्लाम को मुहब्बत का धर्म कह कर, जेहाद के प्रति मुस्लिम प्रतिबद्धता और उसके विरुद्ध उमड़ती प्रतिक्रिया — दोनों को शिथिल करके, टकराव को कुछ समय के लिए डाला तो जा सकता है, किन्तु उससे बचा नहीं जा सकता. महाभारत के युद्ध को टालने के लिए श्रीकृष्ण अन्त तक प्रयत्न करते रहे लेकिन उनके लिए दुर्योधन का एक ही उत्तर था -

ध्रियमाणे महाबाहो मयि सम्प्रति केशव।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति।।

(केशव ! सम्प्रति मुझ महाबाहु दुर्योधन के जीते जी, पाण्डवों को भूमि का उतना अंश भी नहीं दिया जा सकता, जितना कि एक बारीक सुई की नोंक से छिद् सकता हो.)

महाभारत युद्ध एक व्यक्ति के, दुर्योधन के अहंकार घृणा और हठधर्मिता का परिणाम था और श्रीकृष्ण के सत्प्रयासों के वाबजूद उसको घटित होने से रोका नहीं जा सका. आज, जब घृणा, आतंक और टकराव, एक व्यक्ति की नहीं बल्कि प्रभावशाली समुदायों की धार्मिक प्रतिबद्धता बन चुका है, तब अधिक समय तक उसे घटित होने से रोका भी कैसे जा सकता है.

इस सन्दर्भ में अमेरिका के एक लेखक हैटिंगटन की लिखी पुस्तक 'सभ्यताओं का टकराव'(Clash of Civilizations) विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है. यह पुस्तक पुस्तकपंथों की आत्यन्तिक प्रतिबद्धताओं के कारण आज की सभ्यता के सामने टकराव की अपरिहार्य विवशता की बिना लाग लपेट के स्पष्ट स्वीकारोक्ति है. यह बात अलग है कि सावधानी बरतते हुए, लेखक

अपनी पुस्तक को धर्मों का संघर्ष न कहकर 'सभ्यताओं का संघर्ष' नाम देता है. यह पुस्तक इस बात की भी स्वीकारोक्ति है कि आज की सभ्यता — इसकी धर्मनिरपेक्ष, बहुत्ववादी व्यवस्था केवल एक राजनैतिक व्यवस्था के रूप में संकुचित हो कर रह गई है; इसकी सबसे बड़ी विफलता यह है कि यह अपने मानववादी मूल्यों के अनुरूप कोई उपयुक्त आस्था पर्याय विकसित नहीं कर सकी है.

मानववादी सर्वधर्मसमभावी मूल्यों को लोगों की आस्था में प्रतिष्ठित न कर पाना आज की सभ्यता की सबसे बड़ी विफलता है. इससे आज की सभ्यता अत्यन्त विरुद्ध आदर्शों का एक खतरनाक संगम बनी हुई है. एक ओर आस्था के धरातल पर लोग छुआछात, जातीयता, अन्य धर्मों के प्रति घृणा, संघर्ष और जेहाद जैसी मान्यताओं को जीते हैं, वहीं राजनैतिक धरातल पर वे मानवमात्र की स्वतंत्रता, समानता के मानववादी मूल्यों और उन पर आधारित मानवाधिकारों की बातें करते हैं, जिनके निर्विशेष विस्तार में निरीह स्त्री और बच्चों की हत्या में लगे, आतंकवाद के संगठन तक संरक्षण पाते हैं.

पंथनिरपेक्ष, बहुत्ववादी समाज में निरुपाय, नफरत और आतंक का पर्याय बने धर्मसमुदाय फलते फूलते रहते हैं, निरुपाय इसलिए क्योंकि सभी पंथों का निर्विशेष संग्रह है पंथनिरपेक्षता, उनका भी जो आस्था से आततायी और आक्रामक हैं और उनका भी जो सदियों से इनकी आक्रामक गतिविधियों से त्रस्त हैं. एक पंथनिरपेक्ष विधान इनके बीच अन्तर नहीं कर सकता सर्वधर्म-समभाव इसमें अर्थतः प्राप्त है. लेकिन जो आस्था से आततायी हैं, अन्यधर्मावलंबियों के प्रति घृणा जिनकी आस्था का विषय है, उनसे एक पंथनिरपेक्ष राज्य सर्वधर्मसमभावी होने को नहीं कह सकता. ऐसा करना धार्मिक आस्था में हस्तक्षेप होगा, जिससे पंथनिरपेक्षता में स्वरूपहानि की प्राप्ति होगी. यदि आतंक और घृणा के धर्मदर्शन को अल्पसंख्यकाधिकारों का संरक्षण प्राप्त हो तब तो कहने ही क्या?

जहां आतंक की गतिविधियां धर्मविधान से प्राप्त हैं, जहां आतंक एक धार्मिक अनुष्ठान है, वहां एक धर्मनिरपेक्ष शासन इसे रोक कैसे सकता है? इससे तो धर्मनिरपेक्षता और अल्पसंख्यकाधिकार दोनों का एक साथ हनन होगा. यहां पंथनिरपेक्षता असहाय है. जिस सच्चाई का सामना नहीं कर सकते, उसके सामने आंख मूद लेना ही बेहतर है. अतः हर आतंक की

वारदात के बाद यह कहते रहना कि कोई मजहब आतंक की शिक्षा नहीं देता, धर्मनिरपेक्षता की राजनीति की विवशता है.

अपने विनाश की सामग्री को अपने दामन में संजोए रखने की विवशता आज की सभ्यता की विरुद्धार्थ ग्रन्थि है, दुराराध्य और अनतिक्रमणीय. अनतिक्रमणीय इसलिए क्योंकि आज सभ्यता के गर्भ में पल रहे, आतंक का पर्याय बने पुस्तकपंथों में न तो यह सामर्थ्य है कि सभ्यता के मानववादी मूल्यों को आत्मसात् कर सकें और न ही सभ्यता के धर्मनिरपेक्षी आदर्शों में यह सामर्थ्य है कि वे अपने को आस्था में रूपान्तरित कर सके.

आज की सभ्यता की जरुरत धर्मनिरपेक्षता की नहीं, एक अभिनव धर्म की है, जो मानवीय विवेक की, मानववादी मूल्यों की धर्म में प्रतिष्ठा कर सके; कोई भी पुस्तकीय धर्म, कोई भी धर्मविधान नया पुराना, यह काम नहीं कर सकता, क्योंकि पुस्तकपंथों के अन्तर्विरोध और उनसे उत्पन्न समस्याओं का समाधान कोई नया पुस्तकपंथ नहीं अपितु एक परा-पुस्तकीय आस्था ही हो सकती है, जो सभी पुस्तकपंथों को उनकी सीमित प्रायोजकता की चेतना में जागृत करते हुए उन्हें आध्यात्मिक अनुसंधान की प्रयोगशालाओं में रूपान्तरित कर सके. परा-पुस्तकीय धर्म की ओर गीता का आवाहन, पुस्तकपंथों और सभ्यताओं के संघर्ष के ज्वालामुखी पर बैठे आज के संसार के लिए असाधारण महत्त्व रखता है. इस सन्देश का समुचित आकलन ही इस भाष्य-लेखन का मुख्य प्रयोजन है.

■ ■ ■

प्रथम-परिच्छेदः

(भाष्योपोद्घातसंवलितः)

			पृ.सं.
१.	उपोद्घातः	... ...	८३-९०
२.	प्रथमपरिच्छेद-समारम्भः	... ...	९१-९२
३.	प्रथम एककः (श्लो.१-३)	... ...	९३-११०
४.	द्वितीय एककः (श्लो.४-९)	... ...	१११.१३०
५.	तृतीय एककः (श्लो.१०)	... ...	१३१-१३७

उपोद्‌घातः

ॐ श्री परमात्मने नमः

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ।।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः।।

अहैतुककृपारूपं, प्रज्ञाजलजभास्करम् ।
गोपाललालनासक्तं बिट्ठलेशगुरुं भजे ।।

शङ्करात्मविभावाय चिन्मयानन्दरूपिणे ।
अर्प्यते भावसम्भारः गीताविवरणाञ्जलिः।।

आर्यधर्मोपलक्षितजातीयप्रस्थानात्स्थितप्रज्ञनिदर्शनपरिणतो गीतायाः द्वितीयोऽध्याय उद्‌घाटयति पारम्परिकधर्मव्यवस्थायां समाधानालभमानस्य धर्मसंकटापन्नार्जुनस्य संमुखं प्रामाणिकं धर्मानुसंधानपथम्। तन्मुखेन न केवलं प्रस्तौत्ययं सनातनधर्मापरपर्यायस्य हिन्दुधर्मस्य सर्वसम्प्रदायनिरपेक्ष-सर्वसम्प्रदायसहिष्णु-आस्थाफलकं, शास्त्राचार्यपरम्परोपासनापद्धतिबहुत्वजन्यानेकविधवैविध्य-विलसितधर्मपरिदृश्यस्य व्यापके एकात्मकाधारे समाहाराय, अपितूद्‌घाटनाय सनातनात्मलाभप्रक्रियां वैशिष्ट्यव्यास्य सर्वेभ्यः ऐकान्तिकपुस्तकपंथेभ्यः सम्प्रदायेभ्यश्चापि स्वकीयेभ्यः।

प्रयोजनमिदमालक्ष्य, श्रीकृष्णस्य मार्गदर्शकरूपं विहाय न किमपि बिम्बं, कर्मकाण्डः, शास्त्रं, अवतारी पुरुषो वा आस्थालम्बनरूपेण प्रस्तूयते मूलास्थापरिकल्पभूतेऽस्मिन् अध्याये.

सर्वे पुस्तकपंथान असार्वभौमिका देशकालविशिष्टजातीयेतिहास-पुरागाथाप्रभवस्थानीय- स्वरूपत्वात्, अपर्याप्ता अपि जातीयाचारविधानरूपाणां तेषां वैयक्ति ,संदर्भेषु अगतित्वात्। अतो आस्थायाः सार्वभौमिकस्य व्यक्तिपर्यन्तप्रामाणिकस्यापि स्वरूपस्यानुसंधानाय श्रीमद्‌भगवद्‌गीता स्वकीये द्वितीयेऽध्याय उन्मुखीभवति तत्त्वदर्शनमनोविज्ञानादिसार्वभौमिकानुशासनान्प्रति, साहाय्येन च तेषामुद्‌घाटयति सांख्ययोगोपलक्षित-

साधनामूलकं धर्मपरिकल्पम्। भिन्नः संहिताबद्धधर्मपर्यायेभ्यः प्रभवत्यसौ तेषां समुद्धाराय व्यापके तात्त्विकैक्याधारे, अन्तरंगसंदर्भेषु च व्यक्तेश्च। अनया रीत्या द्वितीयोऽध्यायः उद्घाटयत्येकमात्मनिरीक्षणशील-सततप्रयोगनिरत-युगसापेक्षपरिष्कारकुशल- द्वन्द्वात्मकास्थाफलकम्, धर्माणां समुद्धाराय धर्माणां धर्मः सनातनधर्मः।

द्वितीयोऽध्यायो गीतायाः न केवलं द्वितीयःसर्वाधिकविस्तृतोऽध्यायः अपित्वद्वितीयः वैविध्ये दुरूहतायाञ्च। द्विसप्ततिश्लोकात्मकाभोगस्यास्य विवेचनाय परिकल्प्यतेऽत्र पञ्च-परिच्छेदनिमित्तप्रकरणानि अधोल्लिखितानि :-

१. अध्यायस्य आर्यधर्मोपदेशसमारम्भः ... श्लो. १-१०
२. सांख्यबुद्धिविचारः ... श्लो. ११-३०
३. शास्त्रबुद्धिविमर्शः ... श्लो. ३१-३८
४. योगबुद्धिविचारः ... श्लो. ३९-५३
५. स्थितप्रज्ञादर्शे समन्वय उपसंहारश्चः ... श्लो. ५४-७२

संरचनाविश्लेशोपकृतानां विचारैककोपैककेषु विभक्तानां उपर्युक्तप्रकरणानां विचारान्वयनं वितन्यतेऽत्र यथाक्रमम्।

जातीयसमुदाचारसमारम्भा शास्त्रनिष्ठा। इयं हि आस्थाया पारम्परिकमैतिहासिकं स्वरूपम्। अध्यायस्य आर्यधर्मोपदेशसमारम्भो हि स्वीकृतिरास्थायाः जातीयप्रस्थानस्य। प्रस्तौत्ययम- विकलमैतिहासिकं पूर्वपक्षं गीतायाः धर्मानुसंधानाय।

विभिनत्ति शास्त्रनिष्ठा मानवजातिं, जातीयपुरागाथाकल्पिताप्तालम्बननिष्ठत्वात्सर्वेषां पुस्तकपंथानाम्। तेषां विभाजक-परधर्मासहिष्णु-विद्वेषमूलक-नैतिकतां विरुद्ध्य यूरोपे आविर्भावोऽभवत् मानववादिचिन्तनस्य। आस्थाया उच्चतर-सम्भावनानां चेतनाया अभावात्, पुस्तकपंथानां मानववादिसमीक्षा पर्यवसति धर्मं प्रति अनास्थायामुपचारे वा धर्मनिरपेक्षतायाः। भारते भिन्ना हि पारम्परिकधर्मस्य समीक्षायाः परिणतिः। पंचसहस्राब्दिपूर्वं जातीयसमुदाचारपार्यन्तिकस्य शास्त्रनिष्ठ- धर्मस्यापर्याप्ततामालक्ष्य गीतायामारभते धर्मस्य सार्वभौमिकापुस्तकीयसम्भावनानामनुसंधानम्। एतदर्थं प्रवर्तते सांख्ययोगयोरुपदेशः। आत्मसंदर्भस्य सर्वधर्मसाधारणपरिकल्पत्वात् सांख्यस्योपदेशेन निरूप्यते आस्थायाः अनुभवनिष्ठं सार्वभौमिकं स्वरूपम्। तत्त्वदर्शनं (सांख्यम्) हि पद्धतिरास्थायाः सार्वभैमिकार्थस्यानुसंधानस्य योगस्त्वस्याः व्यक्तिप्रमाणस्वरूपस्य। आभ्यामुद्घाट्यते आस्थाया उच्चतरं स्वरूपमपुस्तकीयम्। एवं 'सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः' प्रारम्भ एव संगृहणन् आस्थानुसंधानस्य पद्धतिद्वयं परिकल्पतेऽद्वितीयसैद्धान्तिकाधारः गीतोपदेशस्येत्यनवद्यम्।

अस्मिन् व्याख्याने स्पष्टतायाः प्रयोजनेन प्रयुक्तानि पाश्चात्य-वाक्योपन्यासचिह्नानि तेषां सूक्ष्मतरोपपादकत्वाद्विरामस्य। उक्तस्याविकलोद्धरणाय प्रशस्यतरः प्रतीयते उद्धरणचिह्नप्रयोगः, पारम्परिकस्य इतीत्यस्य सन्ध्यनुरोधेन मूले विकारापादकत्वात्। पुनः अभिधेयानुरोधेन क्रियन्तेऽत्र केचन शब्दप्रयोगाः भाषायां प्रतिष्ठिताः किन्त्वप्रचलिताः संस्कृतव्यवहारे, यथा – व्यक्तित्वं,, जीवन्तं, त्रासदी, पुस्तकपंथ इत्यादयः। कुत्रचित् पारम्परिकैः पारिभाषिकशब्दैः सह तेषां स्थाने वा धर्मदर्शनदृशा मौलिकचिन्तनसौकर्याय असाम्प्रदायिकपर्यायाणां प्रयोगोऽपि कृतोऽत्र, यथा मोक्षस्य स्थाने 'उद्धारः' इत्यस्य पैगम्बर-गुरुप्रभृति शब्दानां स्थाने आप्तपुरुषेत्यस्य प्रयोगः। ऐकान्तिकशास्त्रनिष्ठधर्माणां कृते 'पुस्तकपंथ' इति शब्दो हि एकः सटीकप्रयोगः, बहुशः प्रयुक्तोऽस्मिन् भाष्ये।

दूसरे अध्याय का प्रतिपाद्य :

गीता का दूसरा अध्याय, पारम्परिक धर्मव्यवस्था में जिसे अपनी आशंकाओं का समाधान नहीं मिल पा रहा है, ऐसे धर्मसंकटापन्न अर्जुन के सामने प्रामाणिकधर्म के अनुसंधान की पद्धति का उद्घाटन करता है. यह अनुसंधान पारम्परिक धर्मव्यवस्था के विरुद्ध अपने पथ को परिभाषित करता है, जिसका गीता में 'अनार्यजुष्ट' अर्थात् अनार्यसेवित से भिन्न आर्यधर्म क रूप में आक्षेप किया गया है. आगे चलकर इसी का 'वेदवाद' नाम से उल्लेख हुआ है. इस व्यवस्थामूलक धर्मपटल से असन्तुष्ट अर्जुन के भीतर जो प्रामाणिक आस्था के अनुसंधान की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उसमें साधन रूप में सांख्य (तत्त्वदर्शन) और योग की साधनापद्धतियों का निर्वचन हुआ है, जो आस्था के क्रमशः सार्वभौमिक और व्यक्तिप्रमाण पर्यायों का अनुसंधान करती हैं. इस प्रकार यह अध्याय, अर्जुन के धर्मसंकट को निमित्त बनाते हुए, अनेकविध- वैविध्यविलसित- हिन्दू-धर्मपरिदृश्य के एकात्मक आधार में उद्धार के लिए न केवल एक सर्वसम्प्रदाय- निरपेक्ष, सर्वसम्प्रदाय-सहिष्णु आस्थाफलक को रेखांकित करता है, अपितु उस सनातन आत्मलाभ की प्रक्रिया का भी उद्घाटन करता है जो ऐकान्तिक पुस्तकपंथों से, और स्वयं अपने सम्प्रदायों से हिन्दूधर्म का वैशिष्ट्य है.

अध्याय का प्रयोजन : गीता का दूसरा अध्याय, हिन्दू आस्था के उस व्यापक आस्था-फलक के अनुसंधान और रेखांकन को समर्पित है, जिसे आस्तिक और नास्तिक, वैदिक और अवैदिक, वैनाशिक और शाश्वतवादी सभी सम्प्रदाय स्वीकार कर सकें. इस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए, दूसरे अध्याय में किसी अवतरित शास्त्र या पुरुष की मान्यता को आस्थाकेन्द्र के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है.

यहां तक कि ईश्वर की अवधारणा का भी इसमें कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है. उद्देश्य स्पष्ट है. गीता का समारम्भ, न्यूनतम सहमति पर आधारित, आस्था के उस एक व्यापक फलक को रेखांकित करने को समर्पित है, जो वैदिक और अवैदिक, आस्तिक और नास्तिक सभी सम्प्रदायों को स्वीकार्य हो सके, जिसके व्यापक उत्संग में साम्प्रदायिक इकाइयां बिना विरोध और टकराव के अपने हिन्दू स्वरूप को सार्थक बना सकें.

किसी भी धर्म में मानवीय गरिमा की स्थापना मानव व्यक्तित्व की तात्विक और नैतिक हैसियत को स्वीकार किए बिना सम्भव नहीं है. इसके लिए तीन आधारभूत मान्यताएं आवश्यक हैं : (१) मानव के व्यक्तित्व के तात्विक आधार की मान्यता, (२) मानव के नैतिक स्वरूप की मान्यता, तथा (३) मानव में ही उसके मोक्ष और बंधन के तात्त्विक आधारों की मान्यता. इन सिद्धान्तों को मानने से ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी सम्प्रदायों के सामने अलग अलग किस्म की सैद्धान्तिक समस्याएं पैदा होती हैं. फिर भी इन्हें अपने अपने ढंग से सभी हिन्दू सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है. यह सिद्धान्तत्रिक, आस्तिक और नास्तिक, ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी, हिन्दू सम्प्रदायों के बीच व्यापक सहमति के दायरे को रेखांकित करता है, साथ ही इस बात को भी कि हिन्दू आस्था का स्वरूप किस प्रकार सीमेंटिक धर्मों से अलग है.

यह श्रीमद्भगवद्गीता की ही अनन्यसाधारण अन्तर्दृष्टि है कि उसने धर्मदर्शन के लिए आधारभूत इस सिद्धान्तत्रिक के महत्त्व को समुचित रूप से समझा. गीता का दूसरा अध्याय जहां से भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश प्रारम्भ होता है, हिन्दूधर्म की इन तीन आधारभूत मान्यताओं के निर्वचन को समर्पित है. उक्त मान्यताओं के क्रम में अध्याय के कथ्य को क्रमशः **'आत्मवाद'**, **'शास्त्रवाद'** तथा **'योग'** के रूप में वर्गीकृत करके समझा जा सकता है. इस मूलमान्यता-त्रिक की बजाय यदि गीता का उपदेश, ईश्वर सृष्टि और अवतारी पुरुषों की गाथाओं से शुरू होता, तो गीता केवल एक साम्प्रदायिक शास्त्र होता, हिन्दूधर्म का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं. गीता का उपदेश, ईश्वर सृष्टि और अवतारी पुरुषों की गाथाओं से शुरू नहीं होता, यह तथ्य उसे संसार के सभी साम्प्रदायिक शास्त्रों से अलग करता है. यह उन आधारभूत मान्यताओं के निर्वचन से शुरू होता है जो एक गरिमामय धर्मदर्शन का न्यूनतम परिकल्प-संभार है.

दूसरा अध्याय, अठारहवें अध्याय की तुलना में एक श्लोक न्यून होने से भले ही विस्तार में द्वितीय हो, कथ्य के वैविध्य और दुरूहता में यह अद्वितीय है. यह अध्याय का हिन्दू आस्था

की यथोक्त द्वन्द्वात्मक-संरचना का निर्वचन को समर्पित है. यह विकट प्रयोजन-भार ही इस अध्याय को बेहद उलझन भरा और दुरूह बनाता है. ७२ श्लोकों का इसका आभोग विवेचना के लिए प्रकरणानुसार नीचे दिए पांच परिच्छेदों को परिकल्पित करता है.

१.	आर्यधर्मसमारम्भ	....	श्लोक १-१०
२.	सांख्यबुद्धिविचार	....	श्लोक ११-३०
३.	शास्त्रबुद्धिविचार	....	श्लोक ३१-३८
४.	योगबुद्धिविचार	....	श्लोक ३९-५३
५.	स्थितप्रज्ञनिरूपण	....	श्लोक ५४-७२

संरचना विश्लेषण के आधार पर विचारैकक और उपैककों में विभजित उपर्युक्त प्रकरणों पर यथाक्रम विचार करेंगे. इनमें प्रथम प्राप्त है उपदेश का आर्यधर्मसमारम्भ. इस पर विचार करने से पूर्व इस आलेख की शैली के बारे में कुछ प्राथमिक स्पष्टीकरण जरूरी हैं.

इस व्याख्यान में स्पष्टता के प्रयोजन से, पारम्परिक विरामचिह्न के स्थान पर पाश्चात्य वाक्योपन्यास चिह्नें का प्रयोग किया गया है, जो वाक्य की संरचना के सूक्ष्म विभागों को बेहतर ढंग से प्रस्तुत करते हैं. अविकल उद्धरण के लिए पारम्परिक 'इति' शब्द के बजाय, उद्धरणचिह्नें का प्रयोग अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है. उद्धरण के यथारूप का अक्षरशः निर्वाह होना चाहिए. 'इति' पद के प्रयोग में सन्धि से प्राप्त विकारों के कारण अक्सर यह सम्भव नहीं हो पाता.

कथ्य के अनुरोध से भाष्य में ऐसे शब्दों के प्रयोग को भी स्वीकार किया गया है जो हिन्दी में तो प्रचलित हैं किन्तु संस्कृत में प्रचलित नहीं हैं. यथा — *कथ्य, व्यक्तित्व, जीवन्त, त्रासदी, पुस्तकपंथ* इत्यादि. कहीं कहीं पारम्परिक पारिभाषिक शब्दों के साथ अथवा उनके स्थान पर, धर्मदर्शन के अनुशासन के लिए उपकारक असाम्प्रदायिक पर्यायों का प्रयोग किया गया है. यथा — 'मोक्ष' के स्थान पर 'उद्धार', 'पैगम्बर' 'गुरू' आदि शब्दों के स्थान पर 'आप्तपुरुष'. तथाकथित प्रकाशित धर्म (revealed religions) वस्तुतः ऐकान्तिक शास्त्रनिष्ठ धर्म हैं. इनके लिए 'पुस्तकपंथ' शब्द एक संक्षिप्त, किन्तु सटीक अभिधान है, जिसका इस ग्रन्थ में बहुशः प्रयोग हुआ है.

ग्रन्थ में प्रमुख विचारानुबंध अनेक स्तरों पर चर्चा का विषय बनते हैं. पहले भाष्यभूमिका में, उपोद्घात में, फिर परिच्छेद समारम्भ में, अनन्तर सन्दर्भित श्लोकों की व्याख्या में. इससे कहीं कहीं पुनरुक्ति की शिकायत हो सकती है. किन्तु विचारानुबंधों की स्पष्ट समझ के लिए इस सक्रम विमर्श की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता. जो पुस्तक को बीच बीच में छोड़ कर पढ़ने के आदी हैं, उनसे भी कोई काम की बात छूटेगी नहीं, इतना तय है.

यतः उपोद्घात में उठाए विषयों पर भाष्यभूमिका में विस्तार से विचार हो चुका है. यहां संक्षेप में ही उनका उल्लेख करते हुए विराम देते हैं.

■ ■ ■

परिच्छेद-समारम्भः
(गीतायाः आर्यधर्मप्रस्थानम्)

अथ प्रथमपरिच्छेद आर्यधर्मोपदेशप्रमुखः। दशश्लोकात्मकस्यास्य त्रयो विचारैककाः। उपालम्भमुखेनार्यधर्मोपदेशः तत्प्रयुक्तार्जुनेन स्वपक्षस्य पुनराख्यानं, समापनसमारम्भसंग्रहभूतं विभागवचनञ्च। रथस्य पश्चाद् भाग उपविशन्तमर्जुनं 'उत्तिष्ठ' इति उपालम्भव्याजेन श्लोकत्रये भगवतः श्रीकृष्णस्य धर्मोद्बोधनं समाह्वयति तं आर्यधर्माचरणाय। तेनानाश्वस्तोऽतितरामनुभवन्धर्म-वैक्लव्यमर्जुनः कातरो भूत्वा श्रीकृष्णं श्रेयोपदेशाय प्रार्थयति; प्रार्थयन्नपि तमवसरमदत्वा 'न योत्स्य' इति पुनराचरति स्वीयं निर्णयम्। अनया रीत्या गीतायाः समारम्भपरिच्छेदोऽर्जुनायावसरं ददाति स्वपक्षस्य पुनर्निर्वचनस्य। परिच्छेदस्य यथोक्तविभागाः क्रमशः निमित्तवचनं, समासोक्तिः विभागवचनमित्यपि व्यपदेशमर्हन्ति।

महत्त्वपूर्णो गीताया आर्यधर्मोपदेशसमारम्भः। ददात्ययं गीतोपदेशमैतिहासिकं तारतम्यं सैद्धान्तिकं पूर्वपक्षञ्चोपदेशस्यावतरणाय।

गीता का आर्यधर्मप्रस्थान :

दूसरे अध्याय का समारम्भ एक बार पुनः अर्जुन को अपनी बात कहने का अवसर देता है, ताकि उस पर गंभीरता से विचार किया जा सके. इसमें अध्याय के प्रथम १० श्लोकों का संग्रह है, जिसके क्रमशः तीन विभाग हैं : **निमित्तवचन, समासोक्ति** तथा **विभाग-वचन**.

भावविकल अर्जुन के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण का उपालम्भ अर्जुन को यह अवसर देता है कि प्रस्तुत युद्ध को लेकर उसके मन में जो अन्तर्द्वन्द चल रहा है, उसे संक्षेप में प्रस्तुत करे, ताकि उस पर निकट से विचार हो सके. निमित्तभूत होने से श्रीकृष्ण का उपालम्भ यहां **निमित्तवचन** है. इसमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को आर्यजीवनादर्शों का स्मरण दिलाते हैं और उनके विपरीत आचरण करने के लिए उसे झिड़कते हैं

जातीय आदर्श, आर्यधर्म के रूप में हों या क्षात्रधर्म के रूप में, अब अर्जुन को आश्वस्त नहीं करते. इन्हें सिरे से नकारते हुए वह अपने अयुद्ध चिन्तन का संक्षिप्त, किन्तु अत्यन्त प्रभावशाली पुनराख्यान करता है. इस अंश को यहां '**समासोक्ति**' नाम दिया गया है. अर्जुन का

युद्धोपरति चिन्तन *'योत्स्य इति गोविन्द'* इस निर्णय वाक्य के साथ सम्पन्न होता है. अर्जुन के कथ्य का उपसंहार करते हुए यहां से भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश का प्रारम्भ होता है. अतः यह एक श्लोक **विभागवचन** का है. इस प्रकार **निमित्तवचन**(श्लो.१-३), **समासोक्ति** (श्लो.४-९), तथा **विभागवचन** (श्लो. १०) — यह संरचना है, १० श्लोकों के इस समारम्भ परिच्छेद की.

आर्यधर्म के उपदेश के साथ श्रीमद्भगवद्गीता का समारम्भ दो कारणों से महत्त्वपूर्ण हो जाता है. आर्यधर्म उन सभी धर्मों का उपलक्षण है, जिनका उद्भव जातीयचेतना में हुआ है; यह आस्था का प्राथमिक, ऐतिहासिक कल्प है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न धर्म, अपने अपने विधानों के द्वारा जातीय आकांक्षाओं और अनुशासन को साकार करते हैं. इनके जातीय-पुरागाथाकल्पित आदर्श न तो सार्वभौमिक हो सकते हैं, और न ही व्यक्तिप्रमाण. इन धर्मों के मूर्त आलम्बन, परमात्मा, अवतारी पुरुष और अवतरितशास्त्र — सतत संदेहसंक्रमित होने के कारण, एक ओर अनास्था को जन्म देते हैं तो दूसरी ओर पुस्तकपंथों से परे, आस्था की उच्चतर सम्भावनाओं के अनुसंधान को. गीता में आर्यधर्मोपलक्षित कबीलाई धर्मों की अपर्याप्तता की चेतना में प्रारम्भ होता है, आस्था के परा-पुस्तकीय परमार्थ का अनुसंधान.

आर्यधर्म की ओर आवाहन के साथ उपदेश का समारम्भ जहां गीता के धर्मचिन्तन को ऐतिहासिक तारतम्य देता है, वहीं अर्जुन की दृष्टि में आर्यधर्म की समीक्षार्हता ही उसे गीतोपदेश का प्रस्थानबिन्दु बनाती है. अपने आर्य पूर्वजों के आदर्शों की पुकार के प्रति बेचैन करने वाली उसकी बेरुखी श्रीकृष्ण को विवश कर देती है, आस्था की एक ऐसी अवधारणा का उद्घाटन करने के लिए, जो असंदिग्ध हो, सार्वभौमिक होते हुए भी वैयक्तिक संदर्भों के प्रति संवेदनशील हो. पारम्परिकधर्मों की सीमित अर्थवत्ता की चेतना में प्रारम्भ होती है गीता की प्रामाणिक-धर्मानुसंधानयात्रा.

■ ■ ■

प्रथम एकक:

(निमित्तवचन :

आर्यजीवनादर्शों की ओर आवाहन)

(क) संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥१॥

(ख) श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥
क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥३॥

इस प्रकार करुणा से आविष्ट आंसुओं के कारण आकुल हैं नेत्र जिसके उस विषादग्रस्त अर्जुन के प्रति भगवान् मधुसूदन ने यह कहा : "इस कठिन समय में तुममें यह मनोविकार कहां से आ गया? अनार्य-सेवित यह (विकार) स्वर्ग से वंचित करने वाला और अपकीर्ति देने वाला है. "हे अर्जुन! तुम नपुंसक मत बनो. यह तुम्हारे योग्य नहीं है. हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोड़ कर, उठ कर खड़े हो जाओ"

१. **बाधकभावातिरेकात्कर्तव्यवैक्लव्यमनुभवतोऽर्जुनस्य मार्गदर्शनाय भगवान् श्रीकृष्णः तस्य सम्मुखमुपालम्भमुखेनावतारयत्यार्याणां जातीयाचारादर्शान्। अनार्यजुष्टमर्जुनस्य दैन्यं कर्तव्यविभ्रमश्च। तदेव मूले 'कश्मलं', 'क्लैव्यमि'ति पदाभ्यां संगृहीतम्। तद्भिन्नोऽकुण्ठित आर्याणां कर्तव्यबोधः। धैर्यं, बाधकमनोविकारैरनभिभूतचरित्रं, अस्थानेऽनवसरे च अन्तर्द्वन्द्वापादक-दार्शनिकप्रश्नानां झंझावातादप्रतिहता कर्तव्यबुद्धिः – संक्षेपेण वैयक्तिक-**

विवेकासम्भिन्नानां पराभिभव-स्वजातीयोत्कर्षपरायण- गुणानां समवायोऽस्त्यादर्शो न केवलम् आर्याणामपितु सर्वेषां जातीयसमूहानाम्। जनजातीयचेतनाप्रभवानां कबीलाई-धर्माणां पर-धर्मोच्छेदक-प्रसारवादिधर्मविधानेषु जातीयमूल्यानास्थामूल्यरूपे सुरक्षितान्द्रष्टुं शक्यतेऽधुनापि।

२. महत्त्वं भजत आर्यधर्मोपदेशेन गीताया: समारम्भ:। उपस्थापयतीदं हिन्दुधर्मस्य वर्णव्यवस्थाविदीर्णं लुप्तप्रायैतिहासिकजातिभावं पुनरुद्धाराय सामयिकसन्दर्भेषु, ददाति गीतोपदेशमैतिहासिकं तारतम्यम्, साक्षादुपलक्षणतया चावतारयत्यपेक्षितं पूर्वकल्पं गीतोपदेशप्रवर्तनाय.

'अनार्य' पदं वस्तुत आस्थाया: पराजातीयावधारणां व्यनक्ति। मानववादि-चिन्तनजन्य-परिपक्वतां वैज्ञानिकप्रगतिं चाविरुद्ध्य, संसारो जातीयैतिहासनिबद्धमूर्तसाम्प्रदायिकभाव-मतिक्रम्यास्थाया:पराजातीयावधारणां प्रवेष्टुमधुनाऽप्यप्रस्तुत:। तत्त्वदर्शनमेव यथोक्तपरा-जातीयास्थाया आधारो भवितुमर्हति सार्वभौमिक:। अनन्यगत्या आस्थाया ऐकान्तिकतत्त्वनिष्ठा एव अनार्यपदाभिधानम्। ऐतिहासिकसन्दर्भनिरपेक्षेयं ऐकान्तिकतत्त्वनिष्ठा एव साम्प्रदायिक-गीता-भाष्याणामाधुनिक-भारतीय-राजनैतिक- चिन्तनाभासानाञ्च सामान्याधार:।

३. जातीयादर्शानां समीक्षाविषयत्वादपर्याप्तत्वाच्चार्जुनस्य समाधाने, आस्थाया: आर्यजातीय-परिकल्प एव साक्षात् प्रस्थानं गीतोपदेशस्य। उपलक्षणत्वादस्य सर्वेषां जातिभावप्रभवाचार-पार्यन्तिकपुस्तकपंथानां, तेषां स्थानीयासार्वभौमिकस्वरूपस्य समीक्षार्हतानायासं भजते प्रस्थानगौरवं, सार्वभौमिकाधारेषु प्रामाणिकधर्मपथानुसंधानरूपगीतोपदेशस्य।

४-५. दोषपूर्णा हि आस्थाया ऐकान्तिकी जातिनिष्ठा, असार्वभौमिकत्वात्। एवमेव ऐकान्तिक- तत्त्व-निष्ठाऽपि मूल्यहीना, जीवन्तसंदर्भनिरपेक्षत्वात्, अश्रद्धेयाऽपि, अनेकविधधार्मिक- सामाजिक-राजनैतिक-मिथ्याचारस्योद्भवत्वादस्या:। उभयोर्द्वन्द्वात्मकसंग्रह एव आस्थाया आदर्श:, रहस्यञ्चापि हिन्दुधर्मस्य।

ऐकान्तिकतत्त्वनिष्ठा येन रूपेण जीवन्तसन्दर्भस्योच्छेदं करोति, गीताया: तत्त्वदर्शनकेन्द्रित-भाष्येषु आर्येति शब्दस्य व्याख्या खल्वस्य सहजं निदर्शनम्। 'अनार्यै: शास्त्रमविद्वद्भिर्जुष्टं सेवितम्' (आनन्दगिरि), 'अतत्त्वेभ्य: आरात् दूरात् याता बुद्धिर्येषां ते आर्या: विद्वांस:, तदन्ये तु अनार्या:'(वेंकटनाथ), 'आर्यै: मुमुक्षुभिर्न जुष्टमसेवितम'् (मधुसूदनी)। विचारणीय एतेषां महाजनानां व्याख्याविभव इत्यलमतिविस्तरेण।

६. अन्यान्यधर्मेषु नृतत्त्वशास्त्रीयोपादानं परमार्थत्वेन प्रतिष्ठितं दृश्यते। हिन्दूधर्मे तु इदमस्य द्वन्द्वात्मकसंरचनायाः स्थित्यात्मको ध्रुवः यः संग्रहं कुर्वन्नास्ते अस्य गत्यात्मकधर्मचेतनायाः ददाति चास्य निरपेक्षतत्त्वचिन्तनाय सामाजिकमर्थम् ।

एककविमर्श :

तीन श्लोकों का यह एकक अर्जुन को यह अवसर उपलब्ध कराता है कि वह युद्ध के प्रति अपनी आपत्ति को नए सिरे से परिभाषित कर सके. इसी कारण इस एकक को निमित्तवचन कहा गया है. इसका प्रथम श्लोक समस्याग्रस्त व्यक्तिक्षेत्र का संज्ञान लेता है, जब कि बाद के दो श्लोक, प्राथमिक उपचार के रूप में आर्यधर्म का उपदेश करते हैं. यह वैचारिक सन्दर्भ है जिसके विरुद्ध अर्जुन अपने अयुद्धचिन्तन को परिभाषित करता है. अतः अर्जुन को समझने के लिए इस सन्दर्भ को ठीक से समझ लेना जरूरी है.

१. *'तं तथा कृपयाऽविष्टम् ...'* :
अर्जुन के शरीर और मन की अवस्था : एक रेखाचित्र :

महाभारत युद्ध एक गृहयुद्ध है. इसमें आसन्न स्वजन विनाश की विभीषिका की कल्पना मात्र से अर्जुन विह्वल हो उठता है. इससे विसृष्ट भावातिरेक उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आक्रान्त करते हुए, उसमें तन, मन और बुद्धि की विकलता को जन्म दे जाता है. प्रथम श्लोक से ही स्पष्ट हो जाता है कि जिस अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण सम्बोधित कर रहे हैं वह किस हालत में है :-

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदन।।१।।

इस प्रकार दीनता के कारण उमड़ते आंसुओं से आकुल हैं नेत्र जिसके उस विषादग्रस्त अर्जुन के प्रति भगवान् मधुसूदन ने यह कहा.

'कृपया आविष्टम्' का अर्थ है, दीनता से घिरा हुआ, उसमें डूबा हुआ. 'कृपा शब्द से विशेषण बनता है 'कृपण', जिसका अर्थ है लोभी, ऐसा व्यक्ति जो थोड़ी सी भी हानि को बर्दाश्त न कर सके : *"यः स्वल्पामपि वित्तक्षतिं न सहते स कृपणः"*. हानि की कल्पना उसे अत्यन्त

दीन, अत्यन्त असहाय बना देती है. यदि कालान्तर में कोई लाभ का आश्वासन हो तो तात्कालिक हानि व्यक्ति को खिन्न भले ही कर दे, उसमें दैन्य नहीं आ सकता. दीनता तो निरुपाय हानि की अवस्था में ही आती है.

जीवन में जब कुछ छूटता है, और उसकी पूर्ति के लिए कोई व्यापक आश्वासन नहीं होता, तब जो है उसके बिछोह की कल्पना मात्र से व्यक्ति सिहर उठता है. अर्जुन इसी अवस्था से गुजर रहा है. स्वजन बिछोह की परिस्थिति आसन्न है. पारम्परिक-आस्था उसे आश्वस्त नहीं कर पा रही है. हममें से अधिकांश आस्था को सिर्फ ढोते हैं जीते नहीं. अतः कठिन समय में वह हमारा साथ नहीं देती.

अर्जुन का दैन्य बहुतों के जीवन की वास्तविकता है. जीवन में जब हानि का क्रम शुरू होता है, संचित धीरे धीरे छूटने लगता है, जब आस्था के लौकिक-पारलौकिक आश्वासन आश्वस्त नहीं करते, कहीं से मन को नहीं छूते, ऐसी आत्यन्तिक निरुपायता की दशा का ही दूसरा नाम है, दीनता. बहुत से वृद्धजनों के चेहरों पर पसरा जो दैन्य हम अक्सर देखते हैं, उसके पीछे केवल संचित की रिक्तता नहीं होती, शरीर की बढ़ती अक्षमता भी नहीं; उसमें प्रमुख योगदान होता है, सहारा देने वाले मूल्यों के क्षरण का, आस्था की विफलता का.

धर्मसंकट की इस विकट घड़ी में जो सहज व्यक्ति को उबार सकता है वह है गरिमामय जातीय जीवनादर्शों का सम्बल. इन्हें पाने के लिए व्यक्ति को कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि वे पहले से ही उसके संस्कारों में संग्रहीत होते हैं. इन्हें केवल उद्‌बुद्ध करने की जरूरत पड़ती है. यह उद्‌बोधन ही भगवान् श्रीकृष्ण के इस उपालम्भ का प्रयोजन है : *कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् !*

२. *कुतस्त्वा कश्मलमिदं ... त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप'* :
आर्यधर्म की ओर आवाहन : प्राथमिक उपचार:

अस्वस्थ्य मनोदशा से उबारने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण आर्यों के जातीय जीवनादर्शों की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित करते हैं :

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥
क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

इस कठिन समय में तुममें यह मनोविकार कहां से आ गया? अनार्य सेवित यह(विकार)स्वर्ग से वंचित करने वाला और अपकीर्ति देने वाला है. "हे अर्जुन! तुम नपुंसक मत बनो. यह तुम्हारे योग्य नहीं है. हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोड़ कर, उठ कर खड़े हो जाओ."

२.१. व्याख्येय सन्दर्भ में 'आर्य' और 'अनार्य' शब्दों के अर्थ :

कर्तव्य की घड़ी में अर्जुन के भीतर जो व्यामोह(कश्मल)उत्पन्न होगया है, उसके फल को कहने के लिए तीन विशेषण देते हैं : 'अनार्यजुष्टम्'(अनार्यसेवित), 'अस्वर्ग्यम्' (स्वर्ग से वंचित करने वाला) तथा 'अकीर्तिकरम्' (अपकीर्ति को देने वाला). इनमें ***'अनार्यजुष्टम्'*** पद आर्येतर लोगों के आचरण को नाम और पहचान देता है, जबकि दो विशेषण **'अस्वर्ग्यम्'** तथा **'अकीर्तिकरम'** उन निमित्तों को कहते हैं जो अनार्य आचरण को आर्यों की दृष्टि में गर्हित और निन्दनीय बनाते हैं.

अनार्य आचरण का यह विवरण न केवल आर्यों की दृष्टि में जो निन्दनीय है उसे बताता है अपितु आर्यों के जो जीवनादर्श हैं उनका भी आक्षेप करता है. लोक में कीर्ति की कामना तथा मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग के भोग — ये विशुद्ध जातीय आदर्श हैं. इस आदर्शानुबंध के अनुरोध से 'आर्य' शब्द यहां जातिवाचक ही हो सकता है. किसी अन्य अर्थ की यहां संगति नहीं बनती. अद्वैतवेदान्त के मधुसूदन सरस्वती जैसे विद्वानों ने 'आर्य' शब्द का अर्थ किया है 'मुमुक्षु' यानी मोक्ष की कामना करने वाला'. यह अर्थ स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि 'स्वर्गसुख' और 'कीर्ति' एक मुमुक्षु का आदर्श नहीं हो सकते.

जहां **'आर्य'** शब्द जातीयचेतना और उसमें रूढ़ पारम्परिक धर्म को बताता है, वहीं **'अनार्य'** शब्द उन लोगों को बताता है जो कर्तव्य की पुकार से मुंह मोड़ कर तत्त्वविचार के अंचल में मुंह छिपा कर निश्चिन्त सोते हैं और अपने पलायन को उचित ठहराने के लिए, ठीक अर्जुन की ही तरह नाना प्रकार की युक्तियां गढ़ते रहते हैं.

२.२. आर्य जीवनादर्शों की पहचान :

'अनार्यजुष्टम्' का अर्थ है अनार्यों के द्वारा सेवित, अर्थात् अनार्य आचरण. अर्जुन के दैन्य और कर्तव्य विभ्रम को भगवान् श्रीकृष्ण अनार्य सेवित आचरण की कोटि में रखते हैं. प्रथम श्लोक से दो बातें सामने आती हैं : अर्जुन के अप्रत्याशित व्यवहार का अनार्य स्वरूप और उसके विरुद्धार्थ का आर्य-जीवनादर्श के रूप में आक्षेप.

यहां *'कश्मल'* और *'क्लैव्यम्'* ये दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं. बाधक मनोविकारों को *कश्मल* शब्द से तथा इनके द्वारा बाधित कर्तव्य को *क्लैव्यम्* शब्द से कहा गया है. इस प्रकार इन दो शब्दों में अनार्य-सेवित-आचरण का संग्रह होता है. यह संग्रह इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके विरुद्धार्थ में ही हमें आर्यधर्म का निश्चय करना है. विषम परिस्थितियों में बाधक मनोविकारों को अपने ऊपर हावी न होने देना, तथा स्वधर्म रूप में प्राप्त कर्म (संघर्ष) का निर्द्वन्द्व निर्वाह, ये महत्त्वपूर्ण आर्यमूल्य हैं, जो उक्त विरुद्धार्थानुसंधान के द्वारा हमें प्राप्त होते हैं. दूसरे शब्दों में कठिन परिस्थिति में धैर्य, कर्तव्य की सहज अकुण्ठित समझ, अस्थान और अनवसर में उठते दार्शनिक प्रश्नों के झंझावाद से अप्रभावित रहते हुए कर्तव्य का पालन — यह अनार्य आचरण के विरुद्ध अपने को परिभाषित करता, सहज व्यवहारवाद आर्यों का जातीय जीवनदर्शन है.

यहां शंका हो सकती है कि उक्त जीवनादर्श तो सफल दुनियांदारी की कुंजी हैं. इस कुशल लोकव्यवहार को धर्म कैसे कहा जा सकता है? श्लोक में *अनार्यजुष्टम्* के साथ दिए गए दो विशेषणों से इस शंका का निवारण हो जाता है. ये विशेषण लोक-परलोक में मूल्यसातत्य को रेखांकित करते हुए, इस बात को सुनिश्चित करते हैं कि जिस आर्यजीवनादर्श की चर्चा हो रही है वह धर्म है केवल सफल दुनियांदारी नहीं. *"अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन" — "हे अर्जुन तुम्हारा आचरण आर्यों के अयोग्य, अस्वर्ग और अपकीर्ति को देने वाला है".*

अनार्य-आचरण से भिन्न, आर्य-आचरण को लोक में कीर्ति तथा परलोक में स्वर्ग को देने वाला बताते हुए मूल्य सातत्य का बोध कराया गया है. लोक और परलोक में मूल्यों की निरन्तरता धर्म का प्राथमिक अर्थ है, आस्था का नृतत्त्वशास्त्रीय स्वरूप, जिसे संसार के सभी धर्मों में सहज पहचाना जा सकता है. यहां आर्यधर्म को निमित्त बनाकर हिन्दू आस्था के जातीय-उद्भव

तथा उसके नृतात्त्विक उपादान का निदर्शन कराया गया है. यतः यह उपादान सभी धर्मों में सामान्यरूप से प्राप्त है, गीता में इसका प्रथमोल्लेख उपलक्षणया धर्मदर्शन की प्रारम्भिक सामग्री को, उसके ऐतिहासिक प्रस्थान बिन्दु को रेखांकित करता है.

उक्त आर्य जीवनादर्शों को वैदिक सूक्तों में सहज पहचाना जा सकता है. निश्चय ही ये वर्णव्यवस्था से पूर्व के एक सरल, अविभाजित समाज के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं. आर्यधर्म, ब्राह्मण क्षत्रिय आदि में से किसी वर्ण का धर्म नहीं है. यह वैदिक समाज का, सम्भवतः प्रारम्भिक वैदिक समाज का धर्म है, जिसकी जातीय-चेतना किसी विभाजक व्यवस्था से कुण्ठित नहीं हुई थी. यह धर्म आर्यों की जातीय आकांक्षों का अकुण्ठित प्रतिबिम्बित है. ये आकांक्षाएं अन्य जातियों की आकांक्षाओं से बहुत भिन्न नहीं थीं, जिन्हें संसार के अन्यान्य जातीय पहचान पर आधारित, आदिवासी, कबीलाई, धर्मों में आज भी सहज देखा और पहचाना जा सकता है. गीता में इस ऐतिहासिक सन्दर्भ का संज्ञान महत्त्वपूर्ण है. इससे जिन प्रयोजनों की सिद्धि होती है वे इस प्रकार हैं :

२.३. गीता में आद्योपदेश के रूप में आर्यधर्म की चर्चा के निहितार्थ :

श्रीमद्भगवद्गीता में आर्यधर्म का आद्योपदेश, आस्था के जातीय-प्रस्थान को उपस्थित करते हुए कथानक के ऐतिहासिक तारतम्य को सुनिश्चित करता है. गीता का कथानक दो धरातलों पर चलता है, हिन्दू आस्था के अधिकृत विवरण के रूप में और धर्मदर्शन के शास्त्र के रूप में. आर्यधर्म का आद्योपदेश, जहां हिन्दू आस्था के स्वरूपनिर्वचन के क्रम में, उसके जातीयसमारम्भ का निदर्शन है, वहीं धर्मदर्शन की दृष्टि से यह उपलक्षण है आस्था की नृतत्त्वशास्त्रीय कोटि का. संसार में सर्वत्र ही धर्म का प्राथमिक अवतरण जातीयचेतना के रूप में, तन्निरूपित समाजव्यवस्था के नियामक विधान के रूप में प्राप्त होता है.

उक्त दो विचारबिन्दुओं के अलावा तीसरी ध्यान देने लायक बात यह है कि इस सन्दर्भ के द्वारा ही हमें अर्जुन के धर्मसंकट की गहराई और उसके निर्व्याज स्वरूप का पता चलता है. यह सन्दर्भ ही उद्धारक शास्त्र के लिए उसकी मांग को प्रमाणित करता है. धर्म के जातीय आदर्श अर्जुन को आश्वस्त नहीं करते, यह तथ्य ही अभिनव आस्था के लिए उसकी पात्रता को रेखांकित

करता है. चौथी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह कि जातीय-सांस्कृतिक सन्दर्भ, तत्त्वदर्शन के आस्था में रूपान्तरण के लिए एक जीवन्त सन्दर्भ उपलब्ध कराता है. इन बिन्दुओं पर हम आगे यथाक्रम विचार करेंगे.

३. आर्य-जीवनादर्शों की ओर आवाहन :

हिन्दूधर्म के विस्मृतप्राय जातीय-ऐतिहासिक स्वरूप का उद्‌बोधन : आर्यधर्म की ओर आवाहन के साथ गीता के उपदेश का समारम्भ हिन्दुओं को उनके उस जातीय अस्मितासूत्र का स्मरण कराता है, जिसे काल के क्रम में वे खो चुके हैं. चतुर्दिक बिखराव और पराभव की त्रासदी झेलते हिन्दूसमाज के लिए यह सन्दर्भ न केवल एकता के सूत्र को उपलब्ध कराता है, अपितु उसे भगवद्वाक्य की प्रामाणिकता प्रदान करता है.

निरपेक्ष-तत्त्वदर्शन, साम्प्रदायिक-अन्तर्मुखता और वर्ण तथा जाति की विभाजक-व्यवस्था —ये तीनों ही अपने अपने ढंग से, हिन्दू-जातिभाव का अपलाप करने वाले हैं. इस पृष्ठभूमि के विरुद्ध, आर्यधर्मोपचार के द्वारा गीता हिन्दुओं को उनके प्रामाणिक जातिबोध का स्मरण कराती है. यह ध्यान देने की बात है कि यहां गीता वर्णधर्म यानी क्षात्रधर्म की नहीं आर्यधर्म की बात करती है, जो वर्णव्यवस्था से परे सभी हिन्दुओं का प्रामाणिक एवं निर्विशेष जातीय सन्दर्भ है. गीता का यह आर्यजातीय सन्दर्भ, उन भौगोलिक और सांस्कृतिक तत्त्वों का भी संग्रह करता है, जिन्हें केन्द्र में रख कर आज का हिन्दूवादी चिन्तन प्रवृत्त होता है.

जातिभाव का मूलतत्त्व है, जातीय हितों के साथ तादात्म्य और अपनी जाति की श्रेष्ठता का भाव. संस्कृत साहित्य में आर्य शब्द का जो 'श्रेष्ठ' के अर्थ में प्रयोग देखने को मिलता है वह वैदिक वाङ्‌मय में आर्यजाति की श्रेष्ठता के अर्थ का ही शेष है. श्रेष्ठता के भाव से संसार पर प्रभुत्व की लालसा पैदा होती है क्योंकि प्रभुत्व से ही जातीय श्रेष्ठता को मनवाया जा सकता है. *'कृण्वन्तं विश्वमार्यम्'*, इस सूत्र में वेद आज भी आर्यों की इस आकांक्षा को संजोए हुए हैं. जहां तक भारत की बात है, आर्यों का यह आदर्श पूरा नहीं हो सका, क्योंकि उनकी जातीय पहचान अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रह सकी. आर्यों की जातीय चेतना वर्णव्यवस्था के कारण पहले चार भागों में और फिर सैंकड़ों जातीय और उपजातीय पहचानों में विखण्डित होकर बिखर चुकी थी. फिर हिन्दूमानस पर उपनिषदों के समय से ही जो तत्त्वचिन्तन हाबी हुआ तब से तो आर्यजातिभाव

केवल एक इतिहास की बात बन कर रह गया.

overreach

बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में आर्यजाति की श्रेष्ठता और इस श्रेष्ठता से प्राप्त प्रभुत्व के अधिकार को आधार बनाते हुए, जर्मनी में नाजीवाद का अभ्युदय हुआ, जो द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण बना. गीता में प्रसंगप्राप्त होने पर, श्रीकृष्ण उन गुणों का स्मरण अर्जुन को कराते हैं जो इतर जातियों (अनार्यों)की तुलना में आर्यों को श्रेष्ठ बनाते हैं. किन्तु श्रीकृष्ण सीधे इन गुणों का उल्लेख न करके अनार्यव्यतिरेकी रूप में आर्यगुणों का आक्षेप करते है. लगता है आस्था में जातितत्त्व की खतरनाक सम्भावनाओं की उन्हें चेतना थी. गीता में आर्यजीवनादर्शों का आद्योपदेश हिन्दुओं को यह याद दिलाने के लिए ही हुआ है कि उन्होंने क्या खोया है, और जो खोया है उसे पुनरुज्जीवित करना है तो किन सीमाओं का ध्यान रखना होगा जिससे उनके आर्यजातीय आदर्श खतरनाक आकांक्षाओं के जनक न बन सके.

४. धर्म की जातीय (कबीलाई) अवधारणा : इसके मूलतत्त्व : जातीय आदर्शों का धार्मिकीकरण : धर्मदर्शन की दृष्टि से इसके निहितार्थ :

४.१. जातिभाव : मूलतत्त्व : अपनी जाति का उत्कर्ष, इतर जातियों का पराभव, आत्मप्रसार और वैश्विक प्रभुत्व की लालसा, जातिभाव के ये आधारभूत मूल्य हैं. मानव सभ्यता के विकास का इतिहास वस्तुतः विभिन्न जातीय समूहों के बीच स्पर्धा का इतिहास है. सभ्यता के विकास में ही नहीं, मानव चरित्र के विकास में भी इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है. आत्मोत्सर्ग और त्याग का पहला सबक मानव ने जातिभाव से ही सीखा. यतः जातीय उत्कर्ष और प्रभुत्व के आदर्श, अपनी सिद्धि के लिए साहस, वीरता, कठिन समय में धैर्य, और आत्मोत्सर्ग जैसे गुणों की अपेक्षा रखते थे, जातीय प्रतिबद्धता, लोगों में इन गुणों के विकास का प्रमुख कारण रही.

जातिभाव के इन स्पर्धामूलक गुणों में ऐसा कुछ भी नहीं था जो इन्हें आपत्तिजनक बनाता. लेकिन जब 'धर्म' में जातीय आदर्शों का संग्रह हुआ, इसने एक विचित्र प्रकार की आस्था को जन्म दिया, जो मनुष्यों के बीच भेददृष्टि को, परोत्पीडन, आत्मप्रसार और वैश्विक-प्रभुत्व की कबीलाई वृत्तियों को आसमान से उतरे ईश्वरीय आदेश में रूपान्तरित करके परोसती थी. अनुशासित समाज और अविकल आस्था के रूप में इसके कुछ तात्कालिक लाभ रहे होंगे, किन्तु जातीय आकांक्षाओं के धार्मिकीकरण ने लोकव्यवस्था और धर्म दोनों में जिन विकृतियों को जन्म दिया, तत्तद् सामाजिक

इकाइयों के सन्दर्भ में उनका संज्ञान लेना उपयोगी होगा.

४.२. धार्मिक-मूल्यों में रूपान्तरित जातीय आदर्शों की पहचान :

अपने धर्म की ऐकान्तिक श्रेष्ठता का भाव, शास्त्रविधान और उनके कर्मकाण्ड पर आधारित आस्था का साकार विग्रह, संसार को पराभूत करके अपने धर्म की सारे संसार में ऐकान्तिक प्रतिष्ठा की ललक, ये कबीलाई धर्मों की कुछ प्रमुख प्रतिबद्धताएं हैं.

आस्था का कबीलाई स्वरूप मिशनरी धर्मों में सर्वाधिक मुखर होता है. अपनी आस्था को संसार में एक मात्र प्रामाणिक आस्था मानते हुए, इतर धर्मों का उच्छेद करके अपने विस्तार के लिए ईसाई और इस्लाम प्रभृति धर्मों की बेचैनी, वैचारिक वैमत्य के प्रति उनकी असहिष्णुता, अपने से भिन्न धर्मों को "जहालत" "कुफ्र" "नास्तिक" तथा "शैतानी भटकाव" जैसे नकारात्मक लेबिल देने की उनकी प्रवृत्ति, वैमत्य का बलपूर्वक निरसन करने वाले विधान, इन धर्मों के कबीलाई संस्कारों को सहज उजागर करते हैं.

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संसार के अन्यान्य धर्मों की भांति हिन्दूधर्म का उद्भव भी कभी न कभी जातीय चेतना के रूप में हुआ होगा. आद्योपदेश रूप में गीता में आर्यधर्म की चर्चा इस ऐतिहासिक तत्थ्य की स्वीकृति है. **किन्तु हिन्दूधर्म तथा अन्यान्य धर्मों के बीच अन्तर यह है, और यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि हिन्दू की आस्था अपने उद्भव के ऐतिहासिक दायरे में विजड़ित हो कर नहीं रह जाती. वह इसका अतिक्रमण करती है. इस अतिक्रम के साधन हैं सांख्य और योग की साधना पद्धतियां. इतिहास, ईसाई और इस्लामादि ठेठ पुस्तकपंथों का मूलाधार है जब कि हिन्दूधर्म के लिए यह केवल एक प्रास्थानिक सन्दर्भ है, उसकी द्वन्द्वात्मक संरचना का स्थित्यात्मक धुरा.**

आर्यभाव हिन्दुओं का मौलिक जातिभाव था, जो वर्ण-जातिव्यवस्था के साथ प्रारम्भ हुई विभाजन की प्रक्रिया के साथ हजारों टुकड़ों में विखण्डित हो कर बिखर चुका था. हिन्दुओं के सामने सम्प्रदायों और जातियों का ढेर तो था, कोई ऐसा *एक* संग्राहक सूत्र नहीं था, जो उन्हें धर्मबांधुत्व के एकात्मक अनुशासन में बांध सके, अतः अपनी आस्था के सार्वभौमिक आलम्बन के लिए हिन्दू तत्त्वदर्शन की ओर उन्मुख हुए. विखण्डित जातिभाव जहां अपनी सम्पूर्ण जड़ता के साथ हिन्दूसमाज पर अपनी जकड़ बनाए रहा, वहीं चिन्तन, अभिनवप्रयोग, समीक्षा और

परिष्कार के द्वारा धर्म के विकास के लिए तत्त्वदर्शन का अनन्त आकाश खुला हुआ था. इन दो स्थित्यात्मक और गत्यात्मक कोटियों के बीच संवाद के द्वारा अपने को पुनरुज्जीवित करती, हर युग के लिए अपने प्रामाणिक स्वरूप का अनुसंधान करती जिस द्वन्द्वात्मक आस्था का जन्म हुआ, वह बहुतों को उलझन में डालने वाली चीज रही है, खास कर उनको जो धर्म की एक-आयामी, किताबी अवधारणा के अभ्यस्त हैं.

इतर धर्मों में स्थिति अपेक्षाकृत आसान थी. सामी धर्मों में कौम, उसके नबी और नबी के माध्यम से अवतरित शास्त्र — अपने अपने उद्भव के सम्पूर्ण जातीय, सांस्कृतिक, परिवेश के साथ काल के प्रवाह में से उठाकर रेखाचित्र में बंधे एक दृष्य की भांति, मूर्ति में ठहरे अनुभव की भांति, शाश्वत अर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं; धर्म के इस वितान के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की जा सकती. चित्रकार द्वारा रेखांकित मोनालिजा की मुस्कुराहट पर किसी को ब्रुश चलाने का हक नही है. मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्ति को नहलाया जा सकता है, वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया जा सकता है, माला और सुगंध अर्पित किये जा सकते हैं, किन्तु किसी शिल्पकार को छैनी हथौड़ा लेकर मूर्ति तक जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती. यह उपमा मुख्तलिफ कौमौं को सम्बोधित, कबीलाई धर्मों के स्वरूप और समस्या का रेखांकन है. इन धर्मों में आस्था के आलम्बन — ईश्वर, नबी, और उसके द्वारा कौम को भेजे गए पैगाम (पुस्तक) — मंदिर में स्थापित मूर्ति की भांति, न केवल परिष्कार और समीक्षा से परे हैं, अपितु उपासना के अविचारित आलम्बन के रूप में मूर्ति की समस्त जड़ता को अपने में संजोये रहते हैं. ये धर्म अपने आपको प्रकाशित धर्म (revealed religion) कहते हैं. सुविधा के लिए हम इन्हें 'पुस्तकपंथ" नाम दे सकते हैं.

४.३. आस्था के साकार (पुस्तकीय) विग्रह :

उनमें हिलोरें लेती वैश्विक-वर्चस्व की कबीलाई आकांक्षा की विरुद्धार्थ-ग्रन्थि : ये आस्था के मूर्तिमान् विग्रह हैं जो अपने स्थानीय स्वरूप के कारण कभी भी सार्वभौमिक नहीं हो सकते. सार्वभौमिकता जो उनमें स्वरूप से बाधित है, उसे मिशनरी धर्म सार्वभौमिक वर्चस्व के द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं. मुश्किल यह है कि किसी भी धर्म के सार्वभौमिक होने का आधार उसकी सार्वभौमिक होने की आकांक्षा में नहीं होता, बल्कि समस्त जातीय आलम्बनों से परे, समस्त स्थानीय, ऐतिहासिक संदर्भों का अतिक्रमण करके प्रतिष्ठित हुए उसके तत्त्वचिन्तन में ही हो सकता है.

जहां तक ईसाई इस्लाम आदि मिशनरी धर्मों की बात है, वे संसार पर छा जाने की अपनी लालसा को ही अपनी सार्वभौमिकता का प्रमाण मान बैठते हैं, जब कि यह लालसा उनकी सार्वभौमिकता के बजाय केवल उनके कबीलाई संस्कारों को ही उजागर करती है. दूसरों को पराभूत करके अपने धर्म की श्रेष्ठता को कायम करना, दूसरों की आस्था का उच्छेद करके उनसे अपनी मान्यताओं को मनवाना, अपनी पुरागाथाओं के देवता को पुजवाना, अपने जातीय मसीहा, अवतारी पुरुष या पैगम्बर की सारे संसार में ऐकान्तिक प्रतिष्ठा के लिए सतत संघर्ष करते रहना — मिशनरी धर्मों की ये प्रसारवादी प्रतिबद्धताएं, उनके कबीलाई संस्कारों के ही रूपान्तरित अवशेष हैं.

५. शास्त्रविजड़ित आस्था के उद्धार के लिए तत्त्वदर्शन और योग का उपदेश :

कोई आश्चर्य नहीं कि अपनी श्रेष्ठता पर अभिमान करने वाले, यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म — इनमें से प्रत्येक सारे संसार पर ऐकान्तिक वर्चस्व की कबीलाई आकांक्षा को अपने किताबी विग्रह में समेंटे, संसार में परम अशान्ति और संघर्ष का कारण बने हुए हैं, और तब तक बने रहेंगे जब तक कि वे अपने किताबी विग्रह की सीमित अर्थवत्ता को स्वीकार करके, तत्त्वदर्शन में, या कम से कम मानववादी मूल्यदर्शन में उसका उद्धार नहीं करते. जातिधर्म जब तत्त्वदर्शन से जुड़ता है, तब वह अपनी जात्यारोपित-मर्यादाओं का अतिक्रमण करते हुए, या उनमें रहते हुए उनकी सीमित अर्थवत्ता की चेतना में जिस प्रामाणिक मूल्यबोध को जन्म देता है, उसका आधार है समस्त सृष्टि की तात्त्विक एकता. गीता मानवमात्र की ही नहीं प्राणिमात्र की तात्त्विक एकता की बात करती है :

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन:।।

'विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल इन सभी में पण्डित की समदृष्टि होती है'. तात्त्विक एकता की इस चेतना में तत्तद् धर्मविधानों की भेददृष्टि एवं उनकी मर्यादाओं का संसार पूरी तरह अप्रासंगिक न भी हो तो भी उसका अपर्याप्त, अतात्त्विक, देशकालसापेक्ष स्वरूप सहज उजागर हो जाता है. विधान को अगर ईश्वर द्वारा भेजा हुआ माना जाय तो भी उसकी इस हैसियत में कोई अन्तर नहीं आता. यह आस्था की तात्त्विक दृष्टि है जो कबीलाई पुस्तकपंथों को कभी नसीब नहीं हो सकी.

सृष्टि की तात्त्विक-एकता तत्त्वदर्शन की एक मौलिक प्रतिबद्धता है. तत्त्वदर्शन के अलावा समाजशास्त्र, नृतत्त्वशास्त्र, मनोविज्ञान और राजनीतिशास्त्र जैसे अलग अलग अनुशासनों में भी इसे चिन्तन का विषय बनाया जा सकता है. लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि एक आस्थावान् हिन्दू के लिए सृष्टि की तात्त्विक-एकता केवल वैचारिक अनुशासन का परिकल्प न हो कर, एक आधारभूत धर्म-मूल्य है, जिज्ञासानुसार जिसकी सिद्धि तत्तद् वैयक्तिक और सामाजिक सन्दर्भों में, तत्त्वदर्शन के विनियोग से होती है. सन्दर्भ-विमर्श तत्त्वदर्शन को प्रामाणिक आस्था-मूल्य में रूपान्तरित करता हैं जब कि तत्त्वदर्शन, कर्मकाण्ड में विजड़ित निर्जीव जातीयमूल्यों और प्रतीकों के व्यापक चेतना में पुनराख्यान और उद्धार का पथप्रशस्त करता है. यही निहितार्थ है हिन्दू आस्था की द्वन्द्वात्मकता का.

कर्मकाण्ड, समाजव्यवस्था, इतिहास, पुरागाथाएं और संस्कृति, ये सब मिल कर आस्था के स्थानीय, जातीयविग्रह का निर्माण करते हैं. यह स्थानीय विग्रह, आस्था का स्थित्यात्मक धुरा है जो तत्त्वदर्शन(अथवा योग) को प्रतिध्रुव रूप में परिकल्पित करते हुए आस्था की द्वन्द्वात्मक संरचना को जन्म देता है. इस द्वन्द्वात्मकता को समझे बिना बिना हिन्दू-आस्था में जातितत्त्व की भूमिका को सही रूप में नहीं समझा जा सकता.

६. हिन्दू की जातीय अस्मिता : आस्था में उसकी भूमिका :

६.१. द्वन्द्वात्मक-संरचना के स्थित्यात्मक धुरे के रूप में : यह ध्यान देने की बात है कि जातीय, नृतत्वशास्त्रीय-उपादन जहां अन्यान्य धर्मों में, उनके शाश्वत् परमार्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं, हिन्दूआस्था में यह द्वन्द्वात्मकता का एक धुरा है जो उसकी गत्यात्मक धर्म-चेतना को संग्रहीत करता चलता है, उसके तत्वचिन्तन को सामाजिक अर्थ देता है. किन्तु जातितत्त्व, आर्यरूप में या किसी और रूप में, हिन्दूआस्था का परमार्थ नहीं है.

हिन्दू किसी राजनैतिक मजबूरी से नहीं बल्कि आस्था से बहुत्ववादी है. 'एको सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद, १.१६४.४३), 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४.११), इत्यादि शास्त्रवचनों से समर्थित बहुत्ववाद किसी भी प्रकार के सर्वश्रेष्ठता के दावे की, वह दावा दूसरों का हो या स्वयं अपना, अनुमति नहीं देता. अपनी अथवा स्वधर्मावलम्बियों की आस्था को दृढ़ करने के लिए, उपदेशक अपनी आस्था की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर सकते हैं, किन्तु यह श्रेष्ठता

का प्रतिपादन अपनी आस्था में गुणवत्ता के आधान के लिए, एकनिष्ठा और अनन्यभाव की सिद्धि के लिए होना चाहिए, दूसरों की आस्था के उच्छेद और आत्मप्रसार के लिए नहीं.

६.२. तत्त्वदर्शन की विनियोगभूमि के रूप में : यह आस्था का सामाजिक (जातीय) सन्दर्भ ही है जो तत्त्वदर्शन के लिए उसकी विनियोगभूमि उपलब्ध कराता है. निरपेक्ष तत्त्वदर्शन केवल जिज्ञासा का विषय होता है. जीवन्त सन्दर्भों में विनियोग उसे धर्म का रूप देता है, उसे मूल्य के अनुशासन में दीक्षित करता है. गीता तत्त्वदर्शन (सांख्य) और योग के एक ऐसे ही विनियोग की गाथा है, जिसमें आर्यधर्म को विनियोगभूमि के रूप में परिकल्पित किया गया है.

समस्या यह है कि आज हिन्दुओं के लिए इस विनियोगभूमि की पहचान करना, इसे परिभाषित करना आसान नहीं है. वर्तमान हिन्दूसमाज हजारों जातीय इकाइयों के ढेर का नाम है, जिसमें हिन्दू-जातिभाव लुप्तप्राय है. अपने बालू जैसे बिखराव के साथ, लगभग एक हजार साल से आक्रमणकारी जातियों और उनके आक्रामक धर्मोन्माद से जूझते, विखण्डित, पदलुंठित और असहाय, हिन्दूसमाज की आज की सबसे बड़ी जरूरत है, विभाजक जातीय प्रतिबद्धताओं का तिरस्कार करते हुए, समान इतिहासचेतना पर आधारित हिन्दूजातिबोध का उद्धार.

जातियों के जंगल के बीच प्रामाणिक जातिभाव का उद्धार केवल एक राजनैतिक या सामाजिक विवशता हो, ऐसा नहीं है. इसका सम्बन्ध हिन्दू-आस्था की प्रामाणिक स्वरूपोपपत्ति से है, जो भेद-संवलित होने से देशकाल के सन्दर्भों में ही सार्थक होती है. देशकाल के ये सन्दर्भ, संक्षेप में प्रामाणिक जातिभाव, तत्त्वदर्शन के विनियोग के लिए नियामक भूमि उपलब्ध कराता है, जो प्रारम्भ में ही यह तय कर देती है कि तत्त्वदर्शन के कौन से विनियोग प्रामाणिक हैं और कौन से अप्रामाणिक. रामजन्मभूमि विवाद के सन्दर्भ में सुविधाभोगी हिन्दू राजनेता अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि 'राम तो अजन्मा हैं, उनकी जन्मभूमि की बात निरर्थक है'. 'जो राम घट घट वासी हैं, उनके लिए मंदिर निर्माण का आग्रह कैसा'? ये और इसी तरह के न जाने कितने गुमराह करने वाले तत्त्ववाद, जातीय-इतिहासचेतना निरपेक्ष तत्त्वदर्शन की उपज हैं, या यों कहें कि अप्रामाणिक जातिबोध(दलित, पिछडा आदि)की उपज हैं. इस वैचारिक मिथ्याचार और आत्मविभ्रम से आस्था को उबारने के लिए प्रामाणिक जातिबोध(हिन्दूभाव) के उद्धार का कोई विकल्प नहीं हो सकता.

रासलीला और ऐकान्तिक तत्त्वदर्शन तो दिलबहलाव की चीजें हैं; ये पलायन के पथ हैं, समस्या के समाधान के नहीं. समाधान वर्णाश्रम व्यवस्था भी नहीं, क्योंकि विभाजन की कोई व्यवस्था एकीभाव के उद्धार का आधार नहीं हो सकती. इस यथार्थ को हृदयंगम करते हुए, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यजाति की वैदिक अवधारणा के पुनरुद्धार की बात रखी, तो वीर सावरकर और राष्ट्रिय-स्वयंसेवकसंघ के सिद्धान्तकारों ने क्रमशः भारत के भौगोलिक और सांस्कृतिक एकीभाव को हिन्दुओं के प्रामाणिक अस्मिताकल्प के रूप में प्रस्तुत किया. ये प्रयास समस्या की चेतना को रेखांकित करता है और इस मायने में स्वागत के योग्य है.

ऊपर कहे सभी मत हिन्दू आस्था के स्थानीय परिवेश को, उसके स्थित्यात्मक पक्ष को पहचान देने की कोशिश करते हैं. इस रूप में इनका योगदान महत्त्वपूर्ण है. किन्तु यह बहुत बड़ी गलती होगी, कि इन में से किसी एक को या इन सब को हिन्दूधर्म के लक्षण (परिभाषा) के रूप में प्रस्तुत किया जाय. दुर्भाग्य से यह गलती अक्सर दुहराई जाती है. आर. एस. एस. के स्वनामधन्य बौद्धिक यह कहते नहीं थकते कि *'हिन्दूधर्म एक धर्म नहीं, संस्कृति है.'* वास्तविकता यह है कि संस्कृति हिन्दूधर्म की द्वन्द्वात्मक संरचना के स्थित्यात्मक पक्ष का केवल एक तत्त्व है. इस संरचना में प्रतिपक्ष है तत्त्वदर्शन, और योग. पारम्परिक धर्म (या धर्मों) की अपर्याप्तता की चेतना से प्रवर्तित तत्त्वदर्शन का संग्रह जहां आस्था का व्यापक, पराजातीय-संवेदना में उद्धार करता है, वहीं योग उसे वैयक्तिकसन्दर्भ संवेदी बनाता है. यह सार है, जातीय-आस्था को प्रामाणिक आस्था में रूपान्तरित करती द्वन्द्वात्मकता का.

प्रामाणिक आस्था से तात्पर्य है तत्त्वदर्शन के देश, काल और व्यक्ति प्रमाण विनियोग से प्राप्त कर्तव्यबोध. यह प्रामाणिक धर्मबोध, एक विधान अर्थात् सिद्धवस्तु न हो कर द्वन्द्वात्मक-विमर्श से उत्पन्न अन्तदृर्ष्टि है, शास्त्र जिसके स्थित्यात्मक पक्ष का एक उपादान मात्र हैं. जहां तत्त्वदर्शन आस्था को व्यापक सन्दर्भों से जोड़ता है, वहीं योग, जातीयविधानों पर ठहरी ठिठकी आस्था को वैयक्तिक सन्दर्भों तक ले जाता है और आस्था के विशुद्ध व्यक्तिप्रमाण स्वरूप के अनुसन्धान को जन्म देता है. यह एक जाग्रत, प्रबुद्ध आस्था का वैभव है, जिसकी वे लोग कल्पना भी नहीं कर सकते जिनके लिए किताब ही धर्म का सर्वस्व है.

७. आर्यधर्मप्रस्थान :

उसके तारतम्य में दूसरे अध्याय में विषय-प्रवर्तन का क्रम :

प्रारम्भ के श्लोकों को केन्द्र में रख कर ऊपर दिया गया विवरण, गीता के दूसरे अध्याय में विषय प्रवर्तन के क्रम तथा उसके उद्देश्य की समझ में स्पष्ट दृष्टि देता है. मोटे तौर पर विषय प्रवर्तन का क्रम इस प्रकार है : सर्वप्रथम आर्यधर्म की चर्चा, उसके बाद सांख्य और योग की साधना पद्धतियों का निर्वचन और अन्त में स्थितप्रज्ञ पुरुष में धर्म के परमार्थ की सिद्धि. यह क्रम स्वयं में उपदिष्ट धर्म और उस पर हुए चिन्तन की द्वन्द्वात्मक संरचना का निदर्शन है. नीचे दिए तथ्यों पर गौर करें तो इस द्वन्द्वात्मकता का रूप सहज खुल कर सामने आ जाता है :

१. आर्यधर्म का आद्योपदेश, उपलक्षण है, धर्म के स्थित्यात्मक पक्ष का, जो जाति विशेष के मार्गदर्शन के लिए, उसके शास्त्रों परम्पराओं कर्मकाण्ड और पुरागाथाओं का संग्रह करता है. यह आस्था का साकार विग्रह है जो अपने स्थानीय स्वरूप के कारण कभी भी सार्वभौमिक नहीं हो सकता, तथा जातीय स्वरूप के कारण व्यक्ति की निजता का, उसकी वैयक्तिकता का संग्रह नहीं कर सकता. धर्मविधान *समुदाय* को सम्बोधित होता है, व्यक्ति को नहीं; अतः व्यक्ति की अन्तरंग, आध्यात्मिक मांग का संज्ञान लेना उसकी सामर्थ्य के बाहर की बात होती है. अपने जातीय स्वरूप के कारण धर्मों के शास्त्र न तो सार्वभौमिक होते हैं और न ही व्यक्तिप्रमाण.

परम्परागत पुस्तकपंथों की इस दोहरी दुर्बलता को ध्यान में रखते हुए, उनके उद्धार के लिए गीता में सांख्य और योग का उपदेश हुआ है. *आर्यधर्मोपदेश* के रूप में आस्था के पारम्परिक (जातीय) स्वरूप की प्रस्तुति के तुरंत बाद सांख्य तत्त्वदर्शन का निर्वचन होता है, जो आस्था को उसके मूर्त आलम्बनों से परे, एक सार्वभौमिक, निराकार अर्थ देता है. संस्थागत धर्म में तत्त्वदर्शन का विनियोग उसे गत्यात्मक, विचारशील, और सहिष्णु बनाता है, जब कि तत्त्वदर्शन आस्था के साकार सन्दर्भों से जुड़ कर, स्वयं नैतिक अर्थ को ग्रहण करता है. यह द्वन्द्वात्मकता का एक रूप है.

२. जहां तत्त्वदर्शन आस्था को सार्वभौमिक अर्थ देता है, वहीं योग उसके व्यक्तिप्रमाण स्वरूप के अनुसंधान की पद्धति है. ऊपर कही द्वन्द्वात्मकता को योग के उपदेश के क्रम में भी

देखा जा सकता है. योग के उपदेश के ठीक पहले, *स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि* यहां से ले कर '*हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्*' यहां तक, व्यवस्थामूलक धर्म पर विस्तार से चर्चा हुई है. यह आस्था का स्थित्यात्मक पक्ष है, जिसके विरुद्ध योग की उन्मोचक धर्मविधा अपने साधनापथ को परिभाषित करती है : *त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन.* यह आस्था का परापुस्तकीय रूप है, जिससे जुड़ कर, व्यवस्थामूलक-धर्म स्वयं एक उद्धारक साधना का रूप ले लेता है : *सुखदुःखे समे कृत्वा* ..... यही आस्था की द्वन्द्वात्मकता है, उसकी जीवन्तता का रहस्य.

३. व्यवस्थामूलक धर्म की पृष्ठभूमि में सांख्य और योग की साधनाओं का द्वन्द्वात्मकविमर्श आस्था के जिस आदर्श में पर्यवसित होता है, उसे गीता नाम देती है 'स्थितप्रज्ञ'. यह सांख्य और योग की साधनापद्धतियों का समान (अभिन्न) प्राप्तव्य है, जिसके बारे में कहा गया है, '*यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपिगम्यते*' (५-५).

दूसरे अध्याय में विषय प्रवर्तन का यह क्रम, हिन्दूधर्म की द्वन्द्वात्मक संरचना का निकट निदर्शन है. यह आस्था की सहज स्वरूपावगति है, जिसे अन्यान्य धर्मों में व्यवस्थामूलक अनुशासन के द्वारा बलपूर्वक अवरुद्ध कर दिया गया है. यदि ईसाईधर्म में गुह्यसाधकों और इस्लामधर्म में सूफियों का बलपूर्व दमन न किया गया होता, तो इनका स्वरूप भी कुछ ऐसा ही होता. वर्तमान में ये धर्म एकांगी, मूलबद्ध पुस्तकपंथ हैं, और द्वन्द्वात्मक संरचना और उसमें अर्थतः प्राप्त बहुत्ववाद और परधर्मसहिष्णुता, केवल हिन्दूधर्म की विशेषता है. गीता का दूसरा अध्याय उस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का निकट निदर्शन है, जिसके ऊपर हिन्दू आस्था का विराट प्रासाद निर्मित हुआ है.

संग्रह और उपसंहार :

यहां प्रामाणिक धर्मानुसंधान की एक लम्बी प्रक्रिया है जो अर्जुन के समाधान के लिए, भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा आर्यधर्म की ओर आवाहन के साथ शुरू होती है. आर्यधर्म के जातीय आदर्श अर्जुन को कतई आश्वस्त नहीं करते. उलटे वे उसके मन में नए सवालों को जन्म दे जाते हैं. उसकी तर्कबुद्धि मुखर हो उठती है. सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अभिभूत करते भावातिरेक का

स्थान ले लेता है, एक आधारभूत बुद्धिवाद. संस्थाविजड़ित जातिधर्म में अर्जुन की यह सुतर्कित अनास्था ही मजबूर कर देती है भगवान् श्रीकृष्ण को एक अभिनव आस्था कल्प के उद्घाटन के लिए. यदि अर्जुन को आर्यजीवनादर्शों में समाधान मिल जाता तो बात यहीं समाप्त हो जाती और अपेक्षित निमित्त के अभाव में गीता के उपदेश की प्रवृत्ति ही न होती.

आर्यधर्म की ओर आवाहन के साथ एक अविकल निमित्त-परम्परा की प्राप्ति होती है. आर्यधर्म का उपदेश, निमित्त है अर्जुन के द्वारा पारम्परिक धर्मव्यवस्था की अपर्याप्तता के मुखर निर्वचन का. अर्जुन का यह बुद्धिवाद, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण प्रज्ञावाद नाम देते हैं, निमित्त बनता है गीतोपदेश के अवतरण का. क्रमप्राप्त, अर्जुन का यह बुद्धिवाद ही अनुपद एकक के विचार का विषय है.

■ ■ ■

द्वितीय एकक:

(समासोक्ति)

(क) अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मैं रणभूमि में भीष्म और द्रोण के साथ बाणों से युद्ध कैसे करूँ? क्योंकि हे अरिसूदन! ये दोनों ही पूजा के योग्य हैं. महानुभाव गुरुजनों को मारकर, रक्त से रंजित अर्थ और कामसुखों को भोगने के बजाय, बिना उनकी हत्या किए, भिक्षा मांग कर जीवनयापन करना कहीं श्रेयस्कर है.

(ख) **न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो**
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥

हम यह भी नहीं जानते कि हम लोगों के लिये क्या करना श्रेष्ठ है, अथवा हम उन्हें जीतें या वे हमें जीतें. जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं(६). कायरता के दोष से उपहत स्वभाववाला और धर्म के विषय में मोहित अन्तःकरणवाला मैं आपसे पूछता हूं. जो निश्चित श्रेय हो, उसे मेरे लिये बताइए. मैं आपका शिष्य हूं, आपका शरणागत हूं, मुझे उपदेश कीजिए (७).

(ग) **न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या**
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणम् ।
अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणमपि चाधिपत्यम् ॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृशीकेशो गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

पृथ्वी पर धन-धान्य-समृद्ध और निष्कण्टक राज्य तथा स्वर्ग में देवताओं का आधिपत्य भी मिल जाए तो भी इन्द्रियों को सुखानेवाला मेरा जो शोक है, वह दूर हो जाए ऐसा मैं नहीं देखता (८). संजय बोले — हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र! ऐसा कहकर, निद्राजयी अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् गोविन्द से 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसा स्पष्ट कहकर चुप हो गया (९).

१. **कुलधर्मरक्षा हि अर्जुनस्य मूलचिन्ताविषयः। युद्धे कुलस्य विनाशेन सह तदाश्रितस्य कुलधर्मस्यापि विनाशो निश्चितः। अतो युद्धोऽश्रेयस्कर इत्यर्जुनस्य युद्धोपरति- चिन्तनस्य निष्कर्षः। अस्य कुलधर्मक्षेमाश्रितचिन्तनस्य निराकरणाय भगवान् श्रीकृष्णः समाह्वयति तं आर्यजीवनादर्शान्प्रति, कुलधर्मचिन्तायाः तुच्छहेतुत्वाज्जातिधर्मस्य तदपेक्षया व्यापक-तरत्वादार्यधर्म एव चिन्ताविषयतामर्हति। युद्धभूमौ अर्जुनस्य कातरताया युद्धपराङ्मुखतायाश्च अनार्यजुष्टत्वात्, अस्वर्ग्याकीर्तिकरत्वाच्चाश्रेयस्करत्वं सुनिश्चितमिति सारः भगवतः श्रीकृष्णस्योपलम्भस्य।**

प्रबोधनमिदं न प्रभावयत्यर्जुनम्। तत्रत्यसन्दर्भविस्तारः मूलसमस्यायाः समाधानमकृत्वा ध्यानविक्षेपाय केवलम् । कुलधर्मस्य स्थाने जातिधर्मापत्तेर्न कोऽपि लाभः। युद्धस्य नैतिकतामधिकृत्य ये प्रश्ना अर्जुनमद्वेजयन्ति ते तु संतिष्ठन्ते यथावत्। तदालक्ष्य सम्प्रति परिवर्तिते

सन्दर्भे केवलं स्वपक्षस्य पुनर्निर्वचनमात्रं करणीयं वर्तते अर्जुनस्य। तदसौ अनुतिष्ठति सावधानतया अस्मिन्नेकके पंचश्लोकात्मके।

२-३. भीष्मद्रोणौ आर्यधर्मस्य प्रतीकभूतादर्शपुरुषौ। कीदृशोऽयं आर्यधर्मोपदेशो यो भीष्मद्रोणसदृशस्वकीयादर्शपुरुषोपरि शस्त्रप्रहरणं तेषां वधनिमित्तरुधिरप्रदिग्धभोगांश्चा नृशंसत्यविचारितम्। युद्धे विजयोपार्जिततादृशनृशंसभोगेभ्यस्तु भैक्ष्यमपि श्रेय इति सोपपत्तिकं निर्णयमर्जुनस्य। किन्तु तस्याव्यवस्थितं चित्तमत्रापि नावतिष्ठते। अचिरं प्रारभ्यते पुनर्विचारप्रक्रिया, 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' इति। संदेहास्पदतां गतेषु जातिधर्मस्य विजयशौर्यादिमूल्यषु, अहिंसाभैक्ष्यचर्यादिवैकल्पिक- मूल्यानामप्रासंगिकत्वाच्च प्रकृते सन्दर्भे, धर्मसंकटे निरालम्बोऽर्जुनः कातरो भूत्वा मार्गदर्शनाय प्रार्थयति भगवन्तं श्रीकृष्णम्। 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव' इत्ययं श्लोकःमहत्त्वपूर्णतया रेखांकयति परिस्थितीः यासां सद्भावे कस्यचिदपि हृदये भवति दिव्यमार्गदर्शनस्याविर्भावः। नेदं मार्गदर्शनं विशेषाधिकारः केषाञ्चन चयनितानाम्। प्रत्येकायार्ताह्वानाय वर्तते दिव्यप्रकाशस्याश्वासनम्। संयोगादेवायं श्लोको रेखांकयति धर्मदर्शनदृशा एकां महत्त्वपूर्णमान्यतां, या व्यावर्तयति हिन्दुधर्मं सर्वेभ्यः पैगम्बरवादि-पुस्तकपंथेभ्यः।

४. सोपपत्तिकचिन्तनस्याधस्ताद् दृष्टिपथमायाति अर्जुनस्य अन्तर्विरोधग्रस्तमाचरणम्, असदृशं तस्य सुसंहतवाग्व्यवहारात्। कातरो भूत्वा स प्रार्थयति मार्गदर्शनाय, प्रार्थयन्नपि अधीरोऽसौ भगवन्तं कृष्णम् उपदेशस्यावसरमदत्वा 'न योत्स्य इति गोविन्द' इति पुनरनुवदति स्वीयं निर्णयं यदप्रासंगिकं करोति मार्गदर्शनप्रार्थनाम्। विज्ञापयतीदं तस्याव्यवस्थिमनोदशाम्। अपरञ्च, अचिरं स्फुटीभवति यत्तस्य भीष्मद्रोणादीनां स्मरणं, तेषां रक्तेन रंजितानामतो जुगुप्सितानां भोगानां कल्पनाऽप्युपचारमात्रं, कुलचिन्ताकुलितहृदयदौर्बल्यस्याच्छादनाय, बुद्धेः (प्रज्ञावादस्य) कुशलाविष्कारः। तान्महानुभावान् निमित्तीकृत्यासौ व्यञ्जयति स्वीयां वास्तविकीं चिन्तां कुलक्षेमविषयिकामिति स्पष्टं भवत्यग्रिमेन श्लोकेन 'यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिता प्रमुखे धार्तराष्ट्राः' इति। दृश्येतेऽत्रार्जुनस्य विश्लेषणकौशलं विद्रूपे स्खलन्ती कल्पनाप्रवणता च। भाषायाः कुशलप्रयोगेनानेनासौ जनयति पाण्डित्याभासं, यन्निपुणवाक्चातुर्यादप्यनायासं प्रकटितं जातं विद्रूपभावविमर्शेन, 'भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्' इति। आभ्यन्तरसंस्कार- शून्यत्वादिमं पाण्डित्याभासं प्रज्ञावादेति नाम्ना व्यपदिष्टं भगवता श्रीकृष्णेन। अप्रामाणिकास्था- लक्षणस्य प्रज्ञावादस्य नामाभिधानपूर्वमेव व्यवहारनिदर्शनभूतत्वात्प्रसंगोऽयमर्हति गम्भीरगवेषणाम्।

५. द्विधा हि प्रज्ञावाद:,विचारभावनिबन्धनभेदेन। पूर्वोक्तं हि प्रथमप्रकारस्य निर्वचनम्। प्रज्ञावादस्य भावनिबन्धनं जनयति मनोविभ्रमं व्यक्तित्वविघटनं दैन्यं क्षणस्थायिसमर्पणञ्च। 'नचैतद्विद्म: कतरन्नो गरीयो...', 'कार्पण्यदोषेपहतस्वभाव:' इति श्लोकद्वये भवत्यस्य निदर्शनम्।

प्रज्ञावादस्तु अनास्थाया: त्रासदी। व्यक्तित्वविघटनेन अध:क्षिपति सा। विवेचितयुक्तिवाद-स्त्वाधारभूताया: व्याधे: लक्षणमात्रम्। अर्जुन: अचिरमनुभवति भयावहतां स्वीया: स्थिते:। ध्वस्ता तस्य निर्णयस्य यांत्रिकी – *न चैतद्विद्म: कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु इति।* इयं तु व्यक्तित्वविखण्डनलक्षणानास्थाया: तार्किकपरिणति:।

६. नास्त्यनास्था पापं गीताद्दृष्ट्याम्। इयं तु मनोरोग: । आध्यात्मिक-मनोविज्ञानविशेषज्ञेन गुरुणा अस्योपचार: सम्भव:। मुखरयुक्तिवादस्य कलेवरे परं दैन्यं अनुभन्नर्जुन: कातरो भूत्वा मार्गदर्शनाय प्रार्थयति भगवन्तं श्रीकृष्णम्। 'कार्पण्यदोषेपहतस्वभाव' इत्ययं हि निर्व्याजसमर्पणपर एकाकी श्लोक: प्रज्ञावादपरिवेशे पल्लवितमप्यस्पृष्टं तेन। धर्मदर्शनद्दृशा अनेकमहत्त्वपूर्णोपपत्तिगर्भितोऽयम्।

७. आद्योपान्तविरुद्धार्थग्रन्थिग्रस्त उपर्युपन्यस्त: प्रज्ञावादप्रपंचोऽचिरमाप्नोति स्वीयां तार्किकावसतिं यदाऽर्जुन: श्रीकृष्णं श्रेयोपदेशाय प्रार्थयन्नपि तमश्रुत्वा 'न योत्स्य' इति मुहुरनुवदति स्वीयं निर्णयम्.

एकक विमर्श :

भगवान् श्रीकृष्ण का अर्जुन पर आक्षेप है कि वह अनार्यों जैसा आचरण कर रहा है. इस आक्षेप को ध्यान में रखते हुए अर्जुन युद्ध की नैतिकता सम्बन्धी अपने अन्तर्द्वन्द्व को नए सिरे से श्री कृष्ण के सामने रखता है. इस एकक (श्लो.४-९) को समासोक्ति नाम दिया गया है.

छह श्लोकों के इस एकक के दो दो श्लोकों के तीन विभाग हैं. पहले विभाग में, श्रीकृष्ण द्वारा प्रस्तुत आर्यधर्म का पालन करते हुए युद्ध करने की बजाय अर्जुन भैक्ष्यचर्या को अधिक श्रेयस्कर मानता है. लेकिन अपने इस निर्णय में वह ज्यादा देर तक स्थिर नहीं रह पाता और तुरंत कह उठता है *न चैतद्विद्म: कतरन्नो गरीयो* (हम नहीं जानते कि हमारे लिए क्या अधिक श्रेयस्कर है). यह अनिश्चय धर्मसंकट का रूप ले लेता है, और उससे संत्रस्त अर्जुन आर्त हो कर होकर श्रीकृष्ण से मार्गदर्शन की याचना करता है. यह दूसरे विभाग का कथ्य है.

मार्गदर्शन की प्रार्थना करने के बाद अर्जुन को चुप हो जाना चाहिए था. लेकिन वह चुप नहीं होता. श्रीकृष्ण के सामने शिष्यवत् समर्पित होकर उपदेश के लिए प्रार्थना करने के बाद यह कहते हुए 'कि राज्यलाभ उसके संकट का हल नहीं है', उनके सामने अब उपदेश की शर्त रख रहा है. उन्हें बता रहा है कि उपदेश कैसा होना चाहिए. इतना ही नहीं वह उपदेश सुनने से पहले ही अपना निर्णय सुना डालता है : *'न योत्स्य इति'* — हे गोविन्द ! मैं युद्ध नहीं करूंगा. इस निर्णयवाक्य पर्यन्त दो श्लोकों का यह तीसरा विभाग है.

निर्णय के बाद मार्गदर्शन का प्रयोजन क्या? जब निर्णय ही हो गया तो उपदेश के लिए यह बेचैनी क्यों? शिष्य का यह उलझा हुआ रूप किसी को भी हतप्रभ कर सकता है. भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस अनोखे शिष्य को मुस्कुराते हुए स्वीकार करते हैं. किन्तु उपदेश करने से पूर्व उसकी अव्यवस्थित मनःस्थिति से उत्पन्न चिन्तन पर दृष्टिपात करना नहीं भूलते. इसका संज्ञान लेते हुए वे इसे नाम देते हैं *प्रज्ञावाद.* इस एकक का प्रथम भाग प्रज्ञावाद के स्वरूप का, दूसरा और तीसरा भाग उसके व्यवहार का निदर्शन हैं. इन पर यथाक्रम विचार करते हैं.

१. अर्जुन की मुख्य चिन्ता :

अर्जुन की चिन्ता का विषय है कुलधर्म. युद्ध में कुल के विनाश के साथ तदाश्रित कुलधर्म का भी विनाश निश्चित है. अतः उपस्थित युद्ध अश्रेयस्कर है, पाप है, यह अर्जुन के सोच का सार है. इस चिन्ता के निराकरण हेतु, भगवान् श्रीकृष्ण उसे आर्यधर्म का स्मरण कराते हैं, जो जातिधर्म होने के कारण, कुलधर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक है, अधिक प्रामाणिक है. युद्धभूमि में अर्जुन का अप्रत्याशित व्यवहार, आर्य जीवनादर्शों के विरुद्ध है, अतः औचित्यविहीन और अप्रामाणिक है, यह भगवान् श्रीकृष्ण के उपालम्भ का सार है.

अर्जुन के लिए श्रीकृष्ण का यह उपालम्भ कोई खास मायने नहीं रखता. यह केवल चिन्तन के सन्दर्भ का विस्तार है, जो मूल प्रश्न से कुछ क्षणों के लिए ध्यान तो हटा सकता है किन्तु उसका समाधान नहीं करता. 'कुलधर्म' के स्थान पर 'जातिधर्म' का सन्दर्भ दे देने से युद्ध की नैतिकता को लेकर जो मौलिक प्रश्न उठाए गए हैं, उन पर कोई अन्तर नहीं आता. अर्जुन को अब अपनी बात को केवल नए सन्दर्भ में रखना है. यह काम वह पूरी

सावधानी के साथ करता है.

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले–हे मधुसूदन! मैं रणभूमि में भीष्म और द्रोण के साथ बाणों से युद्ध कैसे करूँ? क्योंकि हे अरिसूदन! ये दोनों ही पूजा के योग्य हैं. महानुभाव गुरुजनों को मारकर, रक्त से रंजित अर्थ और कामसुखों को भोगने के बजाय, बिना उनकी हत्या किए, भिक्षा मांग कर जीवनयापन करना कहीं श्रेयस्कर है.

२. *'कथं भीष्ममहं संख्ये ...'*
श्रीकृष्ण के उलाहने के विरुद्ध अर्जुन का युक्तिवाद :

अर्जुन यह मान कर चल रहा है कि आसन्न युद्ध राजसत्ता और उससे मिलने वाले वैभव और भोगों के लिए ही लड़ा जा रहा है. गुरुजनों के रक्त से रंजित इन भोगों को भोगने के बजाय भिक्षाटन करते हुए जीवन यापन करना अधिक श्रेयस्कर होगा, यह उसकी सोच का निष्कर्ष है.

अर्जुन का उक्त चिन्तन निकट समीक्षा की अपेक्षा रखता है. युद्ध अक्सर राज्यवैभव के लिए लड़े जाते हैं, इसमें संदेह नहीं. लेकिन हमेशा ऐसा हो, यह जरूरी नहीं है. कभी कभी युद्ध कर्तव्यरूप में भी सामने आता है. न्यायोचित अधिकारों के लिए, जाति, धर्म और राष्ट्र की रक्षा के लिए लड़े जाने वाले युद्ध कर्तव्यरूप में प्राप्त होते हैं. किन्तु अर्जुन का युद्ध का अपना आकलन है. हम अर्जुन के साथ यह स्वीकार करके चलते हैं कि महाभारत युद्ध राजसत्ता और उसके भोगों के लिए लड़ा जा रहा है. ये भोग, युद्ध में होनेवाले अपरिहार्य रक्तपात के मार्ग को तय करने के बाद ही प्राप्त हो सकते हैं, इसमें भी कोई संदेह नहीं. युद्ध से हुई समस्त उपलब्धियां रक्तरंजित ही होती हैं. किन्तु वे किसके रक्त से रंजित हैं, इस बात से युद्ध की उपलब्धि में कोई विकार, कोई अतिशय नहीं आता.

युद्ध की हिंसा निर्वैयक्तिक होती है. रक्त जिसका भी गिरा वह कोई योद्धा ही रहा होगा; रक्त किसका गिरा, वह गुरुजनों का है या सामान्यजन का, अधिकारी का है या सिपाही का, ऐसे किसी रक्तभेद की तलाश करना, वह भी युद्धस्थल में नहीं, उन भोगों में जो युद्ध में विजय के बाद ही प्राप्त होने वाले हैं, जो स्वयं अभी अनिश्चित है — यह भाषा का दुरुपयोग है, अलंकार को युक्ति की तरह प्रस्तुत करनेवाला युक्त्याभास. गुरुजनों के रक्त से रंजित भोगों की आलंकारिक कल्पना अर्जुन के वक्तव्य में तीन प्रयोजनों की सिद्धि करती है (१) भीष्म और द्रोण आर्य आदर्शों के मूर्तिमान रूप हैं. इनका भावपूर्ण स्मरण, वक्तव्य को संदर्भ से, आर्यधर्मचर्चा से जोड़ता है, इस ध्वन्यर्थ के साथ कि इन गुरुजनों की प्राणरक्षा की चिन्ता वस्तुतः आर्यजुष्ट आचरण ही है. (२) यह अर्जुन के प्राकृत, स्वजनव्यामोह को एक नैतिक-धार्मिक आकार देता है. (३) इससे भावुकता के एक दवाबकेन्द्र का निर्माण होता है, जो श्रीकृष्ण द्वारा प्रस्तुत आर्यजीवनादर्शों को रक्तरंजित एवं अश्रद्धेय बनाते हुए, भैक्ष्यचर्या के श्रमण आदर्श की प्रतिष्ठा करता है.

प्रज्ञावाद का यह भ्रमजाल कितना घातक हो सकता है इसे ठीक से समझने के लिए ऊपर दिए विचार बिन्दुओं पर निकट से विचार होना जरूरी है.

३. *'गुरूनहत्वा हि महानुभावान् ...'* :

आर्यजीवनादर्शों के जीवन्त प्रतीक : भीष्म और द्रोण : श्रीकृष्ण के उपालम्भ का अर्जुन जो उत्तर देते हैं वह बड़ा ही सटीक है. श्रीकृष्ण अर्जुन को शौर्य और पराक्रम के आर्यजुष्ट (आर्यसेवित) आदर्शों का स्मरण कराते हैं. उत्तर में अर्जुन श्रीकृष्ण को भीष्म और द्रोण का स्मरण कराते हैं, जो शौर्य और पराक्रम के आर्यसेवित आदर्शों का मूर्तिमान् रूप हैं. इनके लिए अर्जुन '*महानुभाव*' शब्द का प्रयोग करता है. जिसका अर्थ है महान् प्रभाव वाले. अपने चरित्र के द्वारा ये महापुरुष समाज में आर्यजीवनादर्शों की प्रतिष्ठा करते हैं. यही उनका महान् अनुभाव (प्रभाव) है. इनके जीवन से आर्यधर्म जीवित है, इनकी जीवनहानि से आर्यधर्म की हानि होती है. अतः इनकी रक्षा को निमित्त बना कर अर्जुन जो युद्धभूमि से हटने की बात कर रहा है उसके पीछे मुख्य चिन्ता आर्यधर्म की रक्षा की ही है. यह प्रथम श्लोक का ध्वनितार्थ है. समाज में आर्यधर्म के सम्मानित प्रतीक हैं भीष्म और द्रोण; इन्हें ध्वस्त करने की, बाणों का निशाना बनाने की बात कोई सोच भी कैसे सकता है :

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥४॥

शौर्य का यदि कोई ऐसा आदर्श है जो गुरुजनों पर शस्त्रप्रहार की अनुमति देता है, तो उस आदर्श में कोई कमी होगी. ऐसे आदर्श का परिष्कार होना चाहिए या उसके किसी वैकल्पिक आदर्श की तलाश होनी चाहिए. अर्जुन वैकल्पिक आदर्श की बात करता भी है – 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'. किन्तु इससे पहले वह उन भोगों की भावविह्वल कल्पना करता है जो गुरुजनों के खून में डूब कर ही विजयी योद्धा का पुरस्कार बन सकते हैं. गुरुजनों के रक्त से रंजित होने से युद्ध का फल अश्रद्धेय है. फल के अश्रद्धेय होने से युद्धोद्यम, युद्धोद्यम के अश्रद्धेय होने से वे आर्यजीवनादर्श, जिन्हें युद्ध के समर्थन के लिए खड़ा किया गया है, स्वतः अश्रद्धेय एवं संदिग्ध हो जाते हैं.

अर्जुन के इस सम्पूर्ण चिन्तन को भगवान् श्रीकृष्ण एक नाम देते हैं, 'प्रज्ञावाद', जिसका अर्थ है बौद्धिक मिथ्याचार. जो धर्म की मनमुताबिक, सुविधाजनक समझ को जन्म देता है. अर्जुन के चिन्तन को प्रज्ञावाद कह कर भगवान् श्रीकृष्ण आस्था में मिथ्याचार को एक नाम और पहचान दे रहे हैं. इस मिथ्याचार के उदाहरण सभी धर्मों में बिखरे पड़े हैं, और इस दृष्टि से यह धर्मदर्शन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है. अर्जुन के कथन में प्रज्ञावाद का नीचे दिया विश्लेषण, इस समस्या को बेहतर ढंग से समझने में उपयोगी हो सकता है.

४. प्रज्ञावाद : अर्थ और व्यवहार :

४.१. आदर्शों का प्रतिमाकरण : अर्जुन की उक्त चिन्तनशैली एक विशेष प्रकार के बौद्धिक मिथ्याचार का सहज नमूना है जिसके उदाहरण बहुत से राजनैतिक और सामाजिक सिद्धान्तकारों के व्यवहार में आसानी से देखे जा सकते है. इस मिथ्याचार में आदर्शों का आचरण नहीं किया जाता, उन्हें पूजा जाता है. अपने चरित्र में आदर्श को जीना एक कठिन काम है; तपस्या है. बिरले लोग ही इस मार्ग का अनुसरण करते हैं. आदर्शों के लिए जाने माने महापुरुषों को पूजना, उनका प्रशस्तिगान करना एक ऐसा तरीका है जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने में उस आदर्श का आभास उत्पन्न कर सकता है, जिसे वह जी नहीं रहा है. अर्जुन यही कर रहा है. उसकी चिन्ता आर्य आदर्शों के लिए नहीं आदर्श प्रतीकों के लिए है. उसकी प्रतिबद्धता

सिद्धान्तों के प्रति नहीं, उनकी निदर्शक प्रतिमाओं के प्रति है, जिन्हें एक न एक दिन नष्ट होना ही है. अर्जुन की इस चिन्ता को लक्ष्य करके ही भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- *अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे.*

आदर्शों को जीने के बजाय आदर्श पुरुषों को पूजना, उनका प्रशस्तिगान करना एक अपेक्षाकृत आसान काम है. इसका अतिरिक्त लाभ यह है कि इससे आदर्शों को जिए बिना भी आदर्शजीवी होने का भ्रम पैदा किया जा सकता है. यह प्रज्ञावाद का एक प्रचलित प्रकार है, जिसे आज के राजनैतिक आचरण में आसानी से पहचाना जा सकता है. आजकल स्थान स्थान पर गांधी और बाबा साहब अंबेडकर की प्रतिमाएं देखी जा सकती हैं. इन पर होने वाले माल्यार्पण और प्रवचनों के कर्मकाण्ड अगर कुछ बताते हैं तो यही कि जिन आदर्शों को जिया जाना चाहिए वे केवल पूजे जाने की वस्तु बन कर रह गए हैं.

अब तो हमारे वृन्दाबन धाम में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की भी प्रतिमाएं स्थापित हो चुकी हैं. ठाकुर में भक्ति हो, उस भक्ति की भावना से प्रेरित होकर भक्त ठाकुरजी की सेवा और अर्चना में प्रवृत्त हों, यह बात समझ में आती है. लेकिन जब भक्ति ही मूर्ति बन कर मंदिर में स्थापित हो गई, भक्ति की भक्तिपूर्वक पूजा उपासना होने लगी, तब तो भक्ति की इस भक्ति में ठाकुर बांके बिहारी की भक्ति के लिए अवकाश रहा ही कहां? जिन आध्यात्मिक मूल्यों को, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति को, साधना में उतारा जाना चाहिए उन्हें पत्थर में उतारना विपर्यस्त आचरण है. प्रतिमा रूप में मूल्यों की स्थापना और पूजन को समाज में आदर्शों के क्षरण की प्रक्रिया के रूप में ही देखा जाना चाहिए.

आर्यजुष्ट (आर्यसेवित) आदर्शों से विचलित हुआ अर्जुन भीष्म और द्रोण में आर्य- जीवनादर्शों का मूर्तिमान् रूप देखता है. वह उनके आदर्शों का अनुसरण करने की बजाय उन महापुरुषों को पूजता है, उन्हें पूज्य रूप में देखता है और उनके आदर्शों की बलि देकर उन्हें सुरक्षित और प्रतिष्ठित देखना चाहता है. आदर्श का आदर्शपुरुष में, आदर्शपुरुष का प्रतिमा में, प्रतिमा का पूजा और प्रशस्ति में अवतरण, आदर्श के निरन्तर क्षरण की एक प्रक्रिया है, जो व्यक्ति को आदर्शकल्प से प्रति पद दूर करती चली जाती है. पूज्य का पूजन, उस शील का स्थान नहीं ले सकता जो पूज्य को पूज्य बनाता है. **मूर्तिपूजा हिन्दुओं में मान्य है; किन्तु उसकी सीमाएं हैं और उन्हें बिना समझे अविचारित प्रतिमाकरण,**

विशेषकर जीवनमूल्यों का प्रतिमाकरण समाज में चरित्र के क्षरण और मिथ्याचार को जन्म दे सकता है, इस बात पर प्रबुद्ध जनों को विचार करना चाहिए. *आदर्शों का प्रतिमाकरण प्रज्ञावाद का पहला रूप है जो अर्जुन के चिन्तन और आचरण में साकार हो रहा है.*

४.२. श्रद्धेय प्रतीकों का सुविधाजनक प्रयोग :

यह बौद्धिक मिथ्याचार का दूसरा प्रकार है. द्रोण और भीष्म अपने आदर्श जीवन के कारण श्रद्धा के पात्र हैं. उनकी जीवनरक्षा को लेकर अर्जुन का चिन्तित होना स्वाभाविक है. किन्तु क्या वह वास्तव में इन श्रद्धेय विभूतियों की रक्षा के लिए चिन्तित है या उनके नामों का प्रयोग केवल अपने परिवार-व्यामोह को छिपाने के लिए, उसे नैतिक औचित्य प्रदान करने के लिए कर रहा है. "मैं पूजा के योग्य भीष्म और द्रोण पर युद्ध में बाण कैसे चला पाऊंगा", यह कहने के बाद आगे के एक श्लोक में उसकी चिन्ता की असलियत खुल जाती है — ***यानेव हत्वा न जिजीविषाम स्तेवस्थिता: प्रमुखा: धार्तराष्ट्रा:*** (जिन्हें मार कर हम जीना नहीं चाहते वे धृतराष्ट्र पुत्र सामने युद्ध के लिए खड़े हैं). अर्जुन की चिन्ता में भीष्म द्रोण और धृतराष्ट्र पुत्रों के बीच कोई अन्तर नहीं है. भीष्म और द्रोण जैसी विभूतियों के लिए श्रद्धा और उनके जीवन के लिए चिन्ता का प्रदर्शन, वस्तुतः परिजनमोह को छिपाने, मन की रुझान को नैतिकता का रंग देने एवं तन्निरूपित युद्धोपरति के निर्णय को उचित ठहराने के लिए किया गया है.

मन की रुझान को औचित्य देने के लिए महापुरुषों के सन्दर्भ में लपेट कर उसे रखना, यह बौद्धिक मिथ्याचार का बहुप्रचलित रूप है. इसका सटीक उदाहरण वर्तमान में अंबेडकर-पंथियों का आचरण है. भगवान् बुद्ध करुणा और मैत्री के अवतार हैं. अपनी अन्तरंग जातीय घृणा और विद्वेष की पोटली को सहेजते हुए अंबेडकरपंथी जब 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का उद्घोष करते हैं, तो भगवान् बुद्ध की आध्यात्मिक साधना से उनका कुछ भी लेना देना नहीं होता. बुद्ध की शरण में जाने का उनका उद्देश्य केवल अपनी घृणा को चीवर पहनाना, उसे धार्मिक औचित्य देना होता है. यह बौद्धिक मिथ्याचार का दूसरा रूप है, जो अर्जुन के प्राक्कथन में परिलक्षित है.

४.३. भाषा के आलंकारिक प्रयोग के द्वारा आस्था का सन्नियमन : अर्जुन का कहना है कि गुरुजनों के रक्त से रंजित राजसुख को भोगने के बजाय भैक्ष्यचर्या अधिक श्रेयस्कर है : ***गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके.***

प्रकृत स्थल में गुरुजनों के रक्त से रंजित भोगों की एक विद्रूप, आलंकारिक कल्पना प्रस्तुत की गई है. यह कल्पना भावना के एक दवाब केन्द्र का निर्माण करती है, जो दो काम करता है. प्राप्त धर्म से विरति तथा कर्तव्य के वैकल्पिक आदर्श की खोज. यह खोज भिक्षाटन को बेहतर विकल्प के रूप में प्रस्तुत करती है. इस प्रकार एक कल्पनाप्रसूत भावोपद्रव भैक्ष्यचर्या की कल्पना में विश्रान्ति को प्राप्त करता है. यह अलग बात है कि वह यहां भी ज्यादा देर टिकता नहीं है. भिक्षाटन को बेहतर विकल्प मानने के बाद भी अर्जुन कर्तव्य के बारे में आश्वस्त नहीं है : **न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो...** *"हम नहीं जानते कि हमारे लिए श्रेयस्कर क्या है, जीतना, या शत्रुओं के द्वारा विजित होना".*

बहुत से ब्राह्मण और श्रमण सम्प्रदाय भैक्ष्याचर्या को वृत्ति रूप में स्वीकार करते हैं. इसके पीछे उनका अपरिग्रह का संकल्प होता है, जो स्वयं करुणा, मैत्री और त्याग के आधारभूत मूल्यों से प्राप्त होता है. इस संसार में सभी प्राणी भोगों के सुख के लिए लालायित रहते हैं. उनके प्रति करुणा और मैत्री के भाव से प्रेरित होकर स्वयं भोगों का त्याग करना, अपने लिए उनका संग्रह न करना, यहां तक कि जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक सामग्री का संग्रह भी न करना यह अपरिग्रह है. इस कठोर अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाले के लिए जीवन निर्वाह के निमित्त भैक्ष्यचर्या अपरिहार्य हो जाती है.

४.४. *'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ....* :

भैक्ष्यचर्या का रूमानी आकर्षण : अर्जुन में भैक्ष्यचर्या का निर्णय मैत्री, करुणा और अपरिग्रह की भावना से प्रेरित है, ऐसा नहीं लगता. वह तो आलंकारिकभाषाप्रसूत भावुकता के दवाब में उभरी भिक्षावृत्ति की लोकप्रसिद्ध रूमानी छवि के कारण उसकी ओर आकर्षित है. रक्तरंजित भोगों की विद्रूप कल्पना से लेकर — भिक्षावृत्ति के रोमांच पर्यन्त — कल्पना से कल्पना तक की यह एक ऐसी यात्रा है, जो न कर्म के अनुशासन को स्वीकार करती है, न ज्ञान के अनुशासन को. कर्म का कठोर अनुशासन अर्जुन को रक्तरंजित दिखता है, इसलिए स्वीकार्य नहीं है; दूसरी ओर वह जिस भिक्षावृत्ति की ओर उन्मुख है उसके लिए अपेक्षित वैराग्य और तत्त्वज्ञान का उसमें अभाव है. भैक्षाचर्या का रोमांच उसे आकर्षित कर रहा है.

ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो केवल नए नए अनुभवों की खातिर, अनिश्चित जीविका में जो रोमांस है उसकी खातिर चीवर धारण कर लेते हैं और भिक्षाजीवी हो जाते हैं. बीसवीं सदी

के उत्तरार्ध में, योरुप में हिप्पियों का एक सम्प्रदाय तैयार हो गया था. आचार व्यवहार में ये हिप्पी भारत के भिक्षाजीवी साधुओं जैसे ही थे. लेकिन ये आस्था से नहीं शौक से साधू थे. अनिश्चित जीवनचर्या का रोमांस उन्हें आकर्षित करता था. *बिना अपेक्षित ज्ञान और वैराग्य के, जिसमें अपरिग्रह स्वत: जीवनशैली बन जाता है, विरक्तों की जीवनचर्या और वाणी की नकल करना, यह प्रज्ञावाद का तीसरा बहुप्रचलित प्रयोग है जो अर्जुन के कथन – गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके – में निदर्शित है.*

४.५. दुर्बल आस्था की अन्तिम शरणस्थली :

प्रज्ञावाद बुद्धि का अविचारित मिथ्याचार है, जो मनोवैज्ञानिक दवाब की परिस्थितियों से उत्पन्न होता है. इससे संक्रमित व्यक्ति स्वयं नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है. प्रतिबद्ध पत्रकारिता और प्रायोजित धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक चिन्तन को हम प्रज्ञावाद नहीं कह सकते, क्योंकि इनमें जो बौद्धिक मिथ्याचार होता है वह सुविचारित होता है, एक बहुत ही परिपक्व और विकसित किस्म की बेईमानी. बुद्धि के उद्देश्यपूर्ण सुविचारित दुरुपयोग प्रज्ञावाद की कोटि में नहीं आते.

प्रज्ञावाद वस्तुतः बहुश्रुत बिरादरी का स्वीकृत, आसानी से पहचान में आने वाला वाग्व्यवहार है. इन सत्संग-व्यसनी लोगों को बहुत से शास्त्र याद होते हैं, जिन्हें वे सुविधानुसार प्रयोग में लाते रहते हैं. इनके द्वारा शास्त्र वचनों का प्रयोग उलझनों को सुलझाने के लिए नहीं, उलझनों के बीच अपने को आश्वस्त करने के लिए से होता है. दूसरों के प्रति अपने आचरण के स्पष्टीकरण के रूप में भी ये लोग शास्त्रवचनों का कभी कभी प्रयोग करते हैं. किन्तु प्रज्ञावादी मुख्यरूप से शास्त्र वचनों का प्रयोग अपने को उलझाने - अपनी उलझन में ही विश्रान्ति और आश्वासन पाने के लिए ही करते हैं. जैसे रेशम का कीड़ा, रेशम का प्रयोग अपने को लपेटने के लिए, अपने को उलझाने के लिए करता है वैसे ही शास्त्रोद्धरणजनित प्रज्ञाभास, आत्मसम्मोहन और आत्मविभ्रम की प्रतिष्ठा के लिए ही होता है. जिनकी आस्था न कर्म में टिक पाती है न ज्ञान में, वे वस्तुशून्य शब्द व्यवहार में ठहराव ढूंडते हैं. यह दुर्बल आस्था की शरणस्थली है जिसकी गीता में प्रज्ञावाद के रूप में पहचान की गई है.

जो धर्म में वैयक्तिक विवेक की, अनुभव की भूमिका को स्वीकार करते हैं, वे ही प्रज्ञावादलक्षण-आस्थाभास से संक्रमित होते हैं. जिनकी आस्था सिर्फ किताब में है, जो आस्था

में बुद्धि के हस्तक्षेप की अनुमति नहीं देते, उनके लिए प्रज्ञावाद कोई समस्या नहीं हो सकता. वहां संदेह, अनास्था और वैमत्य दमन का विषय होते हैं, समीक्षा, संवाद और समाधान का नहीं. प्रामाणिकता की समस्या गंभीर हो कर वहीं सामने आती है, जहां आस्था आप्त-वचन के साथ विवेक का संग्रह करती है. जो लोग आस्था को यात्रा और अनुसंधान मानते हैं उन्हें भटकाव की वास्तविकता को भी स्वीकार करना होगा. आस्था में विवेक(अनुभव) की भूमिका हिन्दूधर्म का अनन्य वैशिष्टय है. इस मान्यता के साथ आस्था में भटकाव की, बौद्धिक मिथ्याचार की समस्या भी जुड़ी हुई है. गीता में प्रज्ञावाद की चर्चा वस्तुतः आस्था के हिन्दू सन्दर्भ की चर्चा है.

५. प्रज्ञावाद के भावानुबंध :

५.१. विभ्रम, दैन्य और क्षणस्थायि-समर्पण : यतः वाणी का प्रज्ञावादी व्यवहार विचारपूर्वक न होकर मनोवैज्ञानिक दवाबों के कारण होता है, यह स्ववचन विरोध और तार्किक विसंगति के प्रति पूरी तरह लापरवाह होता है. मन का व्यवहार होता ही अतर्कित है. पहले के श्लोकों में प्रज्ञावाद के बौद्धिक व्यवहार का निदर्शन कराने के बाद उसके उलझे हुए अतर्कित भावरूप का निदर्शन कराते है :

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६॥

हम यह भी नहीं जानते कि हम लोगों के लिये क्या श्रेयस्कर है, अथवा हम उन्हें जीतें या वे हमें जीतें. जिनको मारकर हम जीना भी नहींचाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं.

अर्जुन यह तय कर चुका है कि युद्ध की बजाय भैक्ष्यचर्या श्रेयस्कर है. उसके बाद कहना कि हम नहीं जानते हार या जीत में से हमारे लिए श्रेयस्कर क्या है अटपटा लगता है. श्रेय के निश्चय के बाद यह कहना कि हम नहीं जानते कि श्रेयस्कर क्या है, ऐसा असंगत और स्ववचन विरोधी कथन प्रज्ञावाद के व्यवहार को दिखाता है. जहां शास्त्रीय सिद्धान्तों का जब जहां जैसी जरूरत पड़ी सुविधानुसार प्रयोग कर लिया जाता है, वहां भाषा का व्यवहार ऐसा ही होता है. ऐसे लोग जब किसी सिद्धान्त को उदधृत करते हैं तो इसलिए क्योंकि वह उनके एक तात्कालिक

प्रयोजन में साधक है. सिद्धान्त के साथ वे निष्ठा से नहीं, मतलब से जुड़े होते हैं. अतः सिद्धान्त की पवित्रता, उसकी यौक्तिक संरचना, उसके अन्तर्विरोधरहित विनियोग उनके लिए कोई खास मायने नहीं रखते.

५.२. प्रज्ञावाद : एक विघटित व्यक्तित्व की त्रासदी :

प्रज्ञावाद मूलतः लक्षण है, आस्था के बिखराव और उसके कारण अव्यवस्थित हुए चित्त का. ऊपर दिखाए यौक्तिकदोष तो इस गंभीर बीमारी का सतही आभास मात्र हैं. आस्था का बिखराव एक त्रासदी है, अनास्था की त्रासदी. एक ऐसी दशा जिसमें आस्था के ठहराव के सभी आधार नष्ट हो जाते हैं. अच्छे बुरे का विवेक साथ छोड़ देता है. अर्जुन को एक क्षण के लिए लगता है कि उसने 'श्रेयस्कर क्या है', इसका निर्धारण कर लिया है. युद्ध की बजाय भैक्ष्यचर्या श्रेयस्कर है, यह निर्णय हो चुका है. वह निश्चिन्तता की सांस ले सकता है. लेकिन दूसरे ही क्षण उसे महसूस हो जाता है कि उसकी निश्चिन्तता क्षणस्थायी है. उसका भटकाव जारी है. भैक्ष्यचर्या में श्रेय का निर्धारण एक मृगमरीचिका साबित होता है, रेत में पानी के बिम्ब को दूर से देख कर हिरन उसकी ओर दौड़ कर जाता है, लेकिन जब प्राणों को तृप्त करने वाला, जीवनदायी जल उसे वहां नही मिलता तो वह लौट पड़ता है, और फिर पानी की तलाश, यानी भटकाव की एक अगली यात्रा शुरू हो जाती है. भैक्ष्यचर्या में श्रेय का निर्धारण, ऐसी ही एक श्रेयोमरीचिका है, जिसमें आश्वस्त करने वाले, ठहराव देने वाले अर्थ का अभाव है. अर्जुन को उस विभीषिका का एहसास होने लगता है जिसमें वह फंस चुका है. वह अच्छे बुरे की पहचान की सामर्थ्य खोता जा रहा है :

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ....

६. *"कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः ..."*

मार्गदर्शन के लिए आर्त पुकार : अर्जुन यह भी तय नहीं कर पा रहा है कि हार और जीत में से उसके लिए श्रेयस्कर क्या है. उसमें शुभाशुभ के निर्धारण की यांत्रिकी ध्वस्त हो चुकी है. यह व्यक्तित्व के आत्यन्तिक विघटन की अवस्था है जहां अनास्था व्यक्ति को ले जाकर छोड़ती है. हिन्दू-दृष्टि में अनास्था पाप नहीं है, कुफ्र नहीं है, बल्कि एक मनोरोग है. आध्यात्मिक

मनोविज्ञान के विशेषज्ञ (गुरू) की शरण लेने से इसका उपचार सम्भव है. एक आस्थावान् के लिए परम गुरू तो स्वयं अन्तर्यामी परमेश्वर ही हैं. वह सभी प्राणियों के सुहृद् हैं सभी के हृदय में निवास करते हैं, और उन्हें मार्गदर्शन देते हैं. किन्तु अन्तर्यामी परमेश्वर का मार्गदर्शन मिलता उसी को है जो पूरे मन से समर्पित होकर दीनभाव से इसके लिए प्रार्थना करता है. अपने मनोविभ्रम से बुरी तरह घबराया हुआ अर्जुन, इन शब्दों में भगवान् श्रीकृष्ण से मार्गदर्शन की याचना करता है :

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

दैन्यतारूपी दोष से उपहत स्वभाव वाला धर्म के विषय में जिसका चित्त विभ्रमित है, ऐसा मैं आपसे पूछता हूं कि जो निश्चित रूप से श्रेयस्कर हो उसे मुझसे कहें. मैं शरण में आया आपका शिष्य हूं. मुझे उपदेश करें.

६.१. श्लोक की व्याख्या : ***कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः*** का अर्थ हुआ दीनता रूपी दोष के कारण कुण्ठित हो गया है स्वभाव जिसका ऐसा व्यक्ति. यहां जो कार्य-कारण-श्रृंखला बन रही है, उसे ठीक से समझ लेना चाहिए. कार्पण्यदोष, उसके कारण स्वभाव की उपहति, स्वभावोपहति के कारण धर्म (कर्तव्य)के बारे में विभ्रम, विभ्रम के कारण असहायता का बोध. यह असहायता का बोध अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण के सामने शरणागत हो कर मार्गदर्शन की याचना के लिए विवश कर देता है : ***शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्.***

कार्पण्य का अर्थ है, दीनता, असहायता का बोध. युद्ध के लिए सन्नद्ध अपने स्वजनों को सामने देख कर उमड़ते प्रबल भावातिरेक के कारण जिसका क्षत्रियोचित स्वभाव उपहत हो गया है, ऐसा अर्जुन. उपहत होने का अर्थ है नष्ट होना, क्षतविक्षत होना. नियामक स्वभाव के उपहत हो जाने से अर्जुन का कर्तव्यबोध भी संशयग्रस्त हो गया है.

यहां धर्म और 'स्वभाव'(कर्तव्यबोध) के बीच एक सीधे नियाम्य-नियामक भाव की प्राप्ति हो रही है. स्वभाव से धर्मनिश्चय और स्वभाव के तिरोहित होने पर धर्मसम्मोह(धर्म के बारे में अनिश्चय) यह व्याप्ति साक्षात् श्लोक के अर्थ से प्राप्त है. यहां दो आधारभूत सवाल पैदा होते

हैं : ' स्वभाव क्या है' और 'स्वभाव से धर्म का निश्चय कैसे होता है'. इन दो सवालों के उत्तर पर टिकी है 'स्वधर्म' की परिकल्पना जो गीता धर्मचिन्तन का, तन्मुखेन हिन्दू-धर्मचिन्तन का अनन्य वैशिष्ट्य है.

'स्वभाव' का शाब्दिक अर्थ है अपने होने का भाव अर्थात् अपना अस्तित्व. किसी भी व्यक्ति का अस्तित्व उसकी अन्तरंग सत्ता है, जो उसे दूसरों से, वस्तुतः सारे संसार से अलग करती है, उसे एक विशिष्ट पहचान देती है. अतः स्वभाव शब्द का अर्थ हुआ व्यक्तित्व का सार, उसकी वैयक्तिकता जो उसे दूसरों से अलग करती है. यह 'स्वभाव' सम्पदा किसी भी व्यक्ति के लिए उसके प्रामाणिक धर्म के निश्चय का आधार है.

धर्म और स्वभाव के बीच नियाम्यनियामक सम्बन्ध है. जिसमें ओज है, शौर्य और पराक्रम जिसका चरित्र है, उसे 'धर्म की रक्षा के लिए, आर्त जनों के परित्राण के लिए शस्त्र धारण करना चाहिए' यह धर्मविधि एक योद्धा के लिए उसके स्वभाव से ही प्राप्त होती है. यह 'धर्म' और 'स्वभाव' के बीच नियाम्यनियामक भाव का सहज निदर्शन है. स्वभाव यहां तथ्य (डाटा) है जिसको आधार बना कर स्वधर्म का निश्चय होता है. किन्तु यह तथ्य हमेशा न तो इतना मुखर होता है और न ही इससे स्वधर्म का निश्चय इतना आसान होता है जैसा कि ऊपर दिए उदाहरण में दिखाया है. अपने परिभाषित अर्थ में 'स्वभाव' मनोविज्ञान का अविश्लेष्य विशेष है., ऐसा विशेष जिसके एकाकीपन को किसी सामान्य में बांधा नहीं जा सकता. जितने अस्तित्व उतने स्वभाव. इनकी न कोई सूची बन सकती है और न ही किसी अति-विशेष को मूल्योपपत्ति के किसी नियम का विषय बनाया जा सकता है, क्योंकि नियम सामान्य को परिकल्पित करते हुए ही प्रवृत्त होते हैं.

उक्त विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए, स्वभाव से स्वधर्म-विनिश्चय के तीन सम्भावित कल्प हो सकते हैं : साधनामूलक, धर्मशास्त्रीय और प्रपत्तिमूलक. योग की साधना के द्वारा शुद्ध हुआ अन्तःकरण स्वभाव और स्वधर्म दोनों में प्रामाणिक अन्तर्दृष्टि देता है. अतः गीता शुद्धबुद्धि की शरण में जाने की बात करती है (बुद्धौ शरणमन्विच्छ). यह कठिन मार्ग है और लम्बी साधना को परिकल्पित करता है. धर्मशास्त्रों की व्यवस्था के द्वारा भी स्वधर्म का निश्चय होता है. यह दूसरा कल्प अपेक्षाकृत आसान और व्यावहारिक है. इसमें जन्म के वर्ण के आधार पर स्वभाव और उसके अनुसार उपयुक्त स्वधर्म का विधान किया जाता है.

उक्त दोनों ही मार्ग जब अवरुद्ध होते हैं तब व्यक्ति मार्गदर्शन के लिए परमात्मा की या आध्यात्मिक गुरू की शरण लेता है. योगसिद्ध शुद्धान्तःकरण अर्जुन की उपलब्धियों की सूची में नहीं आता. शास्त्र जिस क्षत्रियोचित स्वधर्म का उसके लिए उपदेश करते हैं, वह, नियामक स्वभाव के क्षतविक्षत हो जाने के कारण स्वयं सन्देहास्पद हो चुका है. दोनों रास्ते अर्जुन के लिए बंद हैं. अतः लाचार और निरुपाय, अपने लुप्तप्राय कर्तव्यबोध (स्वधर्म) के उद्धार के लिए वह शरणागत होता है भगवान् श्रीकृष्ण के सामने, जो उसके सखा भी हैं, मार्गदर्शक भी और साक्षात् परमात्मा भी.

अर्जुन अपने कर्तव्य विभ्रम की त्रासदी का श्रीकृष्ण के सामने एक ईमानदार चित्रण प्रस्तुत करते हैं. कर्तव्य विभ्रम के क्षण तो सभी के जीवन में कभी न कभी आते हैं, लेकिन सभी न तो उसके स्वरूप को ठीक से समझ पाते हैं, और समझ भी लें तो उसे यथावत् स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाते. त्रासद परिस्थिति को झेलने से भी कहीं अधिक त्रासदायक होती है त्रासद परिस्थिति की चेतना. कार के ब्रेक फेल होने से कहीं अधिक भयावह होती है यह जानकारी कि कार के ब्रेक फेल हो गए हैं.

अर्जुन अपनी त्रासदी को साक्षात् देख रहा है. कार्पण्यदोष, तज्जनित स्वभाव की क्षति, नैतिक विनिश्चय की यांत्रिकी का स्तम्भन, और श्रेय के बारे में विभ्रम का असमाहार्य विस्तार. इस सब को देख कर वह सिहर उठता है. असहायता के बोध से भर जाता है, और निरुपाय श्री कृष्ण के चरणों में शिष्यवत् नतमस्तक हो कर निश्चित श्रेय के बारे में उपदेश की याचना करता है. ***शिष्यस्तेऽहं शाधिमाम्*** (आपका शिष्य हूं, मुझे उपदेश करें). इतना कहने से अर्जुन को संतोष नहीं होता, क्योंकि शिष्य को स्वीकार करने के बारे में पात्रता का सवाल उठ सकता है. अतः वह आगे कहता है ***'त्वां प्रपन्नम्'*** मैं आपका शरणागत हूं. शरणागति शिष्य के लिए एक निरुपाधिक अधिकार का सृजन करती है, किसी प्रकार के सवाल का अवसर नहीं देती. असहायता बोध और समर्पण की यह पराकाष्ठा है, जो अर्जुन को गीता के प्रथम उपदेश का अधिकार सौंपती है.

६.२. धर्मदर्शन की दृष्टि से श्लोक का महत्त्व :

यह श्लोक गीता के मार्मिक स्थलों में से एक है. इसके महत्त्व को अनेक दृष्टियों से देखा समझा जा सकता है. अपने गुणात्मक वैशिष्ट्य के कारण यह अपने सन्दर्भ से बिलकुल

अलग दिखता है. संदर्भ है युद्ध में पलायन के समर्थन में अर्जुन का वक्तव्य. बड़ी कुशलता से पंडितों जैसी परिष्कृत वाणी में वह युद्ध से पलायन के लिए अपनी युक्तियों को नए सिरे से सजा कर प्रस्तुत कर रहा है. किन्तु उसका यह बौद्धिक प्रयास, जिसे बाद में श्रीकृष्ण प्रज्ञावाद नाम देते है, स्वयं उसके हृदय को आश्वस्त नहीं कर पाता. अर्जुन के हृदय की पीड़ा, मार्गदर्शन के लिए उसकी छटपटाहट, बुद्धि द्वारा कुशलतापूर्वक बुने तानेबाने को नकारते हुए, निश्चित श्रेयोपपत्ति के लिए श्रीकृष्ण के सामने उसका समर्पण, इस श्लोक में अनायास छलक पड़ते है. अर्जुन के वक्तव्य का यही वह स्थल है जिसे प्रज्ञावाद नहीं कहा जा सकता. बौद्धिकविकार का लेशमात्र नहीं है इसमें. सीधा हृदय से निकला संवाद है यह.

इस श्लोक में बड़े ही महत्त्वपूर्ण ढंग से उन शर्तों को रेखांकित किया गया है, जो दिव्य मार्गदर्शन के लिए आवश्यक हैं : ये शर्तें हैं दैन्य और समर्पणभाव. समर्पित हो कर आर्तभाव से पुकारने पर भक्तवत्सल प्रभु अपने भक्त का मार्ग दर्शन करते हैं. भगवान् का यह आश्वासन सम्पूर्ण सृष्टि के लिए है, किसी जाति, समुदाय या व्यक्तिविशेष के लिए नहीं. यही भगवान् श्रीकृष्ण के जगद्गुरू विशेषण का निहितार्थ है.

७. *"न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात् ..."*

समर्पण के बाद भी पुनर्विचार : अर्जुन की चिन्तनधारा के बीच का एक क्षणिक अन्तराल है यह श्लोक. इसमें वह बिना किसी बौद्धिक उपचार के अपनी समस्या को देखता है और मार्गदर्शन की याचना करता है. इसके तत्काल बाद ही उसका युक्तिवाद अपने काम पर वापस लौट आता है, उसे याद आता है कि उसने अभी अभी भगवान् के सामने शिष्यवत् समर्पित हो कर मार्गदर्शन के लिए याचना की है. पता नहीं वे क्या आदेश दे दें. अतः वह उन्हें सावधान करना जरूरी समझता है.

न हि प्रपस्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणम्।
अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणमपि चाधिपत्यम् ॥८॥

पृथ्वी पर धन-धान्य-समृद्ध और निष्कण्टक राज्य तथा स्वर्ग में देवताओं का आधिपत्य मिल जाय तो भी इन्द्रियों को सुखानेवाला मेरा जो शोक है, वह दूर हो जाए, ऐसा मैं नहीं देखता हूं.

अपने दुःख की पहचान अर्जुन इन शब्दों में करता है : 'ऐसा शोक जो इन्द्रियों को सुखा देने वाला है'. यह शब्दचयन इस बात का निराकरण करने के लिए है कि उसका शोक महज दिखावा नहीं है. वह उतना ही वास्तविक है, उसी तरह प्रत्यक्ष है, जिस तरह इन्द्रियों को स्तम्भित कर देने वाली कोई शरीर की व्याधि, जैसे दांत का दर्द. दांत में दर्द होने पर रसना स्वाद चखना भूल जाती है, आंखें सुन्दर दृश्य देखना और नाक सुगन्धित पदार्थों का सेवन भूल जाती है. दांत में उठने वाली हर टीस सुकोमल शैया के स्पर्श को बेमजा कर देती है. शैया में सुख सामग्री के अधिकाधिक विस्तार से क्या दांत का दर्द कम हो जाएगा.

भोग्य सामग्री का विस्तार इन्द्रियों को सुखा देने वाले, शरीर के संत्रास का निदान नहीं हो सकता. धरती का अप्रतिहत साम्राज्य, यहां तक कि स्वर्ग तक का राज्य, ये सब हैं तो भोग्यसामग्री का विस्तार ही. फिर भोग तो इन्द्रियों से जिए जाते हैं. अब यदि कोई ऐसा दुःख है, जो इन्द्रियों को ही सुखाए दे रहा है, तो भोग्य सामग्री का विस्तार, स्वर्ग में हो या धरती पर कोई मायने नहीं रखता. दांत में टीस उठ रही हो ऐसे आदमी के सामने षड्रस व्यञ्जनों से टेबिल भर दी जाए तो क्या, और पूरा कमरा भर दिया जाए तो क्या; यह विस्तार उसके तीक्ष्ण, मूर्तिमान् दुःख का उपचार नहीं हो सकता. यहां अर्जुन श्रीकृष्ण को यह संकेत देना चाहता है कि वे अपने उपदेश में युद्ध और उससे मिलने वाले लौकिक और अलौकिक भोगों को श्रेय रूप में प्रस्तुत न करें. यह श्लोक का ध्वनितार्थ है.

८. अर्जुन : जगद्गुरू का एक निराला शिष्य :

एक विचित्र शिष्य मिला है भगवान् श्रीकृष्ण को. एक तरफ अति आर्त होकर पुकारता है - '*शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्*' (मैं आपका शिष्य हूं, मुझे उपदेश करें, मैं आपकी शरण में हूं). दूसरी तरफ उपदेश की शर्तें तय कर रहा हैं. गुरू को बता रहा है कि उपदेश कैसा हो और कैसा न हो. इतना ही नहीं वह गुरू को उपदेश करने का अवसर देने से पहले ही उन्हें अपना निर्णय भी सुना डालता है : ***'न योत्स्य इति गोविन्द'*** *– हे गोविन्द मैं युद्ध नहीं करूंगा.*

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृशीकेशो गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।९।।

भगवान् श्रीकृष्ण से ऐसा कह कर निद्राजयी एवं शत्रुओं को संताप देने वाला अर्जुन, "हे गोबिन्द मैं युद्ध नहीं करुंगा", ऐसा कह कर चुप हो गया.

यहां अर्जुन के व्यक्तित्व के, एक दूसरे को नकारते दो धरातल स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं. एक है उसके द्वारा बड़ी कुशलता के साथ बुना जाता युक्ति वितान, जो उसके स्वजनमोह और उससे उत्पन्न युद्धोपरति के निर्णय को श्रेय के रूप में निरूपित कर रहा है. दूसरा है, जैसे बिजली कोंधती है, क्षण भर के लिए स्फुरित होती अन्तर्दृष्टि, जो उसे यह बोध कराती है कि श्रेय का स्वरूप न केवल उसके लिए अस्पष्ट है, अपितु इसको तय कर पाना उसकी सामर्थ्य के बाहर है. वह धर्मसंकट की विभीषिका से दो चार होते ही आर्त होकर श्रीकृष्ण के सामने मार्ग दर्शन के लिए समर्पित हो जाता है. लेकिन तुरंत ही उसका बुद्धिवाद पुनः गतिशील होता है और इस समर्पण में से उसके ऐकान्तिक भाव को वापस लेने की कोशिश करता है. वह शर्तें लगाता है कि उपदेश कैसा हो, और कैसा न हो. वह निर्णय भी सुना देता है कि युद्ध नहीं करना है. उसके लिए तो यही श्रेयस्कर है, फिर भी श्रीकृष्ण उपदेश करना ही चाहते हैं तो करें. समर्पण और उसके बाद समर्पण में से कुछ वापस ले लेने का बौद्धिक उपक्रम, भगवान् श्रीकृष्ण के मुख पर बरबस मुस्कान ले आता है - *तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत.* भगवान् श्रीकृष्ण की हंसती हुई सी भंगिमा, संसार के उदास, गुरुगंभीर धर्मोपदेशकों की भीड़ में एक सुखद अपवाद का सृजन करती है. इसकी चर्चा अग्रिम एकक का विषय हैं.

■ ■ ■

तृतीय एकक:

(विभागवचन)

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

संजय ने कहा : हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के मध्य विषाद करते हुए उस अर्जुन से, हंसते हुए से श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा.

अर्जुनस्यविभागवचनैककोऽयं भंगिमयैवोपक्रामतिगीतोपदेशं यथाविधम् । अत्र केन्द्रीयबिम्ब-रूपेण प्रतिष्ठितो वर्तते श्रीकृष्णस्य करुणापूरित-प्रहसन्निव छविः। वाण्याचरणयोः विसंवादेऽन्तर्द्दृष्टिः भगवतः श्रीकृष्णस्य मुखारविन्देऽनायासं मुकुलयति ईषद् हासरेखाम्। इयं हि मूर्तिमती टिप्पणी अर्जुनस्य विचित्र व्यवहारोपरि, संज्ञानं समीक्षा चापि तस्य विभ्रमस्य। आश्वासनमिदं यदर्जुनस्य प्रार्थनां स्वीकृत्य भगवान् श्रीकृष्णः जगद्गुरोः भूमिकायामवतरणाय सन्नद्धः। भगवतः प्रसन्नभंगिमा वक्ष्यमाणोपदेशस्य पूर्वाभासः, *'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'* इति पण्डिताचारस्य साक्षान्निदर्शनत्वात्, महाभारतघटनाचक्रस्य केन्द्रे स्थितस्य योगेश्वरश्रीकृष्णस्य निर्विकारतटस्थतायाऽपि। ध्यातव्यं यदियं सम्पूर्णार्थराशिः भंगिमयैवोक्ता वर्तते। वैशिष्ट्यमिदमस्य श्लोकस्य।

१. **सम्बोध्यविवेकनिरपेक्षधर्मोपदेशस्य अप्रामाणिकत्वात्, भगवान् श्रीकृष्णः प्रज्ञावादमनोभूमिरूपं सम्बोध्यं (अर्जुनम्) पुनः निरीक्षणविश्लेषणयोः विषयं करोति उपदेशप्रवृत्तिपूर्वकम्। 'सेनयोरुभयोर्मध्ये', 'विषीदन्तं' चेति विशेषणद्वयमत्र विशिनष्टि व्यक्तिक्षेत्रम्। इमौ क्रमशः कर्तव्यविषयेऽनिश्चयं तज्जनितविषादं च व्यपदिशन्तौ रेखांकयति उपदेशस्य व्यक्तिक्षेत्रनिबन्धनम्।**

२. धर्मप्रवर्तकानां गुरुगंभीरसम्मर्दे ईषत्हासविभूषितभगवतः श्रीकृष्णस्य छविः प्रस्तौत्येकः सुखदापवादः। स्वस्वदिव्यसंदेशस्य गुरुतरं भारं वहन्तः दायित्वबोधेन भृशं संपीडिताः गुरुगभीरा अतितरं सावधानाः दृश्यन्ते इमे वन्दनीयाः इतिहासपुरुषाः भगवान्बुद्धस्य, भगवान्महावीरस्य, ईसामसीह-पैगम्बरमुहम्मद-गुरुनानकप्रभृतिमहाजनानां सस्मयबिम्बस्य कल्पनाऽपि दुरधिगमा। विश्वस्यास्थापटलस्य कौतुकोऽयं तुलनात्मकधर्मदर्शनस्याध्येतृणां ध्यानमाकर्षयत्यनायासम्।

३. श्रीकृष्णस्य ईषत्हासविभूषितभंगिमाभिव्यञ्जयत्याध्यात्मिकोपचारस्य सम्पूर्णां प्रक्रियाम्। व्यक्तिक्षेत्रस्य,'सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तम्' इत्येतस्य निकटनिरीक्षणं, धर्मसंकटस्य निदानं, तदनुरूपोद्धारकोपदेशस्याश्वासनम् – अस्य सम्पूर्णोपक्रमस्य पुंजीभूताभिव्यक्तिर्हि भगवतः श्रीकृष्णस्य 'प्रहसन्निव' भंगिमा।

४. अपि च भगवतः श्रीकृष्णस्य प्रहसन्निवेति सम्बोधनभंगिमाक्षिपति वक्ष्यमाणकर्तव्य-निर्धारणोपकारकमनोदशामूलमात्मविचारं, निरापदविसंगतेर्हासहेतुत्वात्। यदासन्नं युद्धमर्जनः परां त्रासदीं मन्यते, तात्त्विकदृष्ट्या तस्य निरापदविसंगतिरूपविनिश्चयः हेतुभूतमात्मवाद-माक्षिपन् भगवतो हासभंगिमायै कल्पते अनायासम्।

एकक विमर्श :

संजय द्वारा कहा गया यह श्लोक विभाग वचन है, साथ ही आगे कहे जाने वाले आत्मवाद के प्रकरण की भूमिका भी. इसका का केन्द्रीय बिम्ब है श्रीकृष्ण की करुणापूरित, मुस्कुराती हुई सी' छवि. अर्जुन की वाणी और आचरण के विसंवाद में अन्तर्दृष्टि श्रीकृष्ण के मुख पर बरबस मुस्कान की हल्की रेखा ले आती है. श्रीकृष्ण का यह ईषत् हास अर्जुन के विभ्रम का आकलन भी है और उस पर टिप्पणी भी. इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण की करुणामयी मुस्कान इस बात का आश्वासन है कि मार्गदर्शन के लिए अर्जुन की आर्त पुकार *'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'* को भगवान् ने स्वीकार कर लिया हैं और अब वे अपनी जगद्गुरू की भूमिका में अवतरित होने के लिए प्रस्तुत हैं. यह समस्त अर्थराशि शब्दों से नहीं केवल भंगिमा के द्वारा व्यक्त हुई है. यह इस श्लोक का वैशिष्ट्य है.

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

संजय ने कहा : हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के मध्य विषाद करते हुए उस अर्जुन से, हंसते हुए से श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा.

उक्त श्लोक में तीन बातें कही गई हैं. अर्जुन के रूप में प्रस्तुत उपदेशभूमि का श्रीकृष्ण द्वारा सिंहावलोकन, उसका आकलन तथा श्रीकृष्ण की 'हंसते हुए सी' भंगिमा, जो न केवल अर्जुन के विचित्र व्यवहार पर अपितु सम्पूर्ण सन्दर्भ पर एक सटीक टिप्पणी है, और जो कहा जाने वाला है उसका पूर्वाभास भी. वस्तुतः अग्रिम श्लोक में '*नानु शोचन्ति पण्डिताः*' इस वाक्यांश के द्वारा कहे गए पण्डिताचार का पूर्व निदर्शन है भगवान् श्रीकृष्ण की 'हंसते हुए सी' भंगिमा. यह महाभारत के ऐतिहासिक घटनाचक्र के केन्द्र में रहते हुए, योगेश्वर कृष्ण की निर्विकार तटस्थता की अप्रतिम व्यंजना है.

१. सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तम्... :

समस्याग्रस्त व्यक्तिक्षेत्र का निरीक्षण : श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के व्यक्तिक्षेत्र का निरीक्षण दो विशेषणों में संग्रहीत है : अर्जुन का अनिश्चय, जिसे सेनाओं के मध्य खड़े उसके बिम्ब से बताया गया है (सेनयोरुभवोर्मध्ये), तथा इस अनिश्चय से उत्पन्न विषाद की मनोदशा (विषीदन्तम्). व्याख्येय श्लोक को अध्याय के पहले श्लोक के साथ रख कर पढें तो इसका वैशिष्ट्य सहज स्पष्ट हो जाता है -

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणः।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदन।।१।।
तथा
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

दोनों श्लोकों को साथ रखकर विचार करने से सहज स्पष्ट हो जाता है कि आर्यधर्म के उपदेश के बाद अर्जुन में किस प्रकार का अन्तर आया है. विषाद की मनोदशा यथावत् विद्यमान है यह बात *'विषीदन्तम्'* के उभयत्र प्रयोग से स्पष्ट है. कर्तव्य-वैक्लव्य भी पहले जैसा ही है.

किन्तु कर्तव्य का प्रतिबन्धक यह विषाद अब आंसुओं में प्रवाहित होने वाला भावावेश मात्र नहीं है. उसने एक मुखर बौद्धिक आकार ले लिया है. *'सेनयोरुभयोर्मध्ये'* इस बिम्ब से जिस अनिश्चय की ओर संकेत किया गया है वह विकल्पबुद्धि और तज्जनित आधारभूतसंदेहवाद से उत्पन्न हुआ है. कुछ न करने के लिए अब बाणों से भी पैने तर्क हैं अर्जुन के पास. यह बात पौर्वापर्य सन्दर्भो से स्पष्ट है. ***"हम तो यह भी नहीं जानते कि, युद्ध में विजयी होना या शत्रुओं के द्वारा पराजित होना, दोनों में हमारे लिए श्रेयस्कर क्या है."*** अग्रिम श्लोक में ***'प्रज्ञावादांश्च भाषसे'***(पण्डितों जैसी बातें करता है), यह वाक्यांश अर्जुन के इस विध्वंसक संदेहवाद की ओर ही इशारा करता है जिसने विरोधी सेनाओं के बीच उसे विजड़ित करके रख दिया है.

यहां अर्जुन के दो परस्पर विरोधी रूप सामने आते हैं. एक तरफ ऐसी भावुकता कि आंखों के आंसू थमने का नाम नहीं ले रहे. मार्गदर्शन के लिए ऐसी छटपटाहट, ऐसा समर्पण कि वह उपदेश के लिए श्रीकृष्ण के सामने शिष्य भाव से शरणागत हो रहा है, और दूसरी तरफ ऐसा उद्धत बुद्धिवाद जो श्रेय के समस्त पारम्परिक अर्थों को पहचानने से इन्कार कर देता है - *"हम तो यह भी नहीं जानते कि, युद्ध में विजयी होना या शत्रुओं के द्वारा पराजित होना, दोनों में हमारे लिए श्रेयस्कर क्या है"*.

शिष्यरूप में समर्पित होने के बाद भी अर्जुन के वितर्क थम नहीं रहे. वह निश्चित श्रेय के उपदेश के लिए प्रार्थना तो करता है, किन्तु उसे सुने बिना ही श्रीकृष्ण को अपना निर्णय सुना देता है — ***'न योत्स्य इति गोविन्द'***. जब सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही इस तरह विभाजित है तो निर्णय कैसा और किसका? अर्जुन के इस मिथ्याचार पर श्रीकृष्ण के ओठों पर बरबस हास की हल्की रेखा उभर आती है. यह भंगिमा अर्जुन के उलझन भरे व्यक्तित्व पर एक ऐसी अर्थपूर्ण टिप्पणी है, जो न केवल उसके बारे में श्रीकृष्ण के आकलन को बताती है अपितु उसके निदान और उपयुक्त उपदेश की ओर भी संकेत कर देती है.

२. *"तमुवाच हृषिकेश प्रहसन्निव भारत"* :

उदास, गुरुगम्भीर धर्मप्रवर्तकों की भीड़ में मुस्कुराते श्री कृष्ण का बिम्ब : संसार की महान् धार्मिक विभूतियों के जीवन चरित्र पर नजर डालें तो उनमें कोई भी मुस्कुराते हुए नहीं दिखता. वे

सब के सब गम्भीर व्यक्तित्व के लोग थे. अपने महान उद्देश्य के बोझ से दबे, अपने को लेकर बेहद सावधान. भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, ईसा, पैगम्बर मुहम्मद साहब और गुरु नानक के मुस्कुराते बिम्ब की कल्पना भी करना मुश्किल है. इन गंभीर धार्मिक विभूतियों की पंक्ति में हंसते हुए से श्रीकृष्ण का बिम्ब एक सुखद आश्चर्य लगता है; विश्व के आस्था पटल का एक अनोंखा सत्य जो तुलनात्मक धर्मदर्शन के अध्येताओं का मन बरबस आकर्षित कर लेता है. इसका रहस्य समझना चाहिए.

३. आध्यात्मिक उपचार की सम्पूर्ण प्रक्रिया का एक बिम्ब में संग्रह :

सन्दर्भ पर निकट से विचार करें तो श्री कृष्ण की 'हंसते हुए जैसी' भंगिमा आध्यात्मिक उपचार की एक सम्पूर्ण प्रक्रिया को अभिव्यक्ति दे रही है. अर्जुन के व्यक्तिक्षेत्र का निरीक्षण, उसके धर्मसंकट का निदान(आकलन) और उद्धारक उपदेश का आश्वासन — इस सम्पूर्ण क्रम का फलितार्थ है, हंसते हुए से भगवान् श्री कृष्ण की झांकी.

अर्जुन जिस हालत में है उस पर हंसा नहीं जा सकता. ऐसा करना शालीनता नहीं होगी. कृष्ण हंस नहीं रहे हैं, *'मानो हंस रहे हों'* ऐसा दिखते हैं, करुणा और हास का आश्वस्त करने वाला अविस्मरणीय संगम. तथागत की झोली में करुणा है, केवल करुणा. सब कुछ दुःखमय है (सब्बं दुःखम्), इस गाढ़ी वैश्विक दुःखचेतना में हंसने के लिए, हास के अभिनय के लिए भी अवकाश कहां है? कृष्ण दुःख को समझते हैं, अपनी समग्र करुणा के साथ दुःखसंक्रमित क्षेत्र का निरीक्षण करते हैं. वे देखते हैं कि सीमित दायरे में जो विसंगति एक निरुपाय त्रासदी बन चुकी है, व्यापक संदर्भों से जुड़ते ही वह महत्त्वहीन हो जाती है, जैसे किसी रेखा के समानान्तर बड़ी रेखा खींचते ही पहले वाली रेखा स्वतः छोटी बन जाती है

विसंगति अब भी है, किन्तु अब यह निरापद विसंगति है, जैसे किसी ने उल्टा पैजामा पहन लिया हो, जिस पर हंसा जा सकता है, किन्तु जिसके उपचार हेतु किसी अस्पताल में जाने की जरूरत नहीं है. अतः भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को किसी दुःख निरोधोपाय का उपदेश नहीं करते. वे अर्जुन को शरीर के विपरिणामों से निर्लिप्त आत्मा के शाश्वत स्वरूप का उपदेश करते हैं, जो उसके दुःख को एक निरापद विसंगति में बदलने की सामर्थ्य रखता है.

यह एक वास्तविकता है कि हर किसी के लिए संसार का सबसे बड़ा दु:ख अपना ही दुःख होता है. जब हम उसे व्यापक सन्दर्भों में देखने लगते है तो हमारे दुःख का बोझ अपने आप हलका होने लगता है. कुमारसम्भव का एक स्थल बरबस याद हो आता है. कामदेव के भस्मीभूत हुए शरीर को देखकर विलाप करती उसकी पत्नी रति अपनी असहनीय वेदना को कैसे हलका करने की कोशिश कर रही है, इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है, कविकुलगुरु कालिदास ने :

अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदु:खामिव कुर्वती स्थलीम्।।

धरती पर लोटने से जिसका वक्षस्थल धूलधूसरित हो गया था, वह रति बालों को बिखेरे हुए पुनः विलाप करने लगी, मानों दुःख के भार को सहन न कर पाने के कारण, सारी धरती को दुःखमय कर रही हो. भावार्थ यह कि धरती पर लोटने से तो धरती के छोटे से, शरीरपरिमाण अंश के साथ ही अपने दुःख को बांट पायी हूं, यह सोच कर अब वह अपने लम्बे घने बालों को बिखेर कर, उनकी मदद से अपने उमड़ते दुःख को बाहर बिखेरते हुए हुए मानो सारी घरती को अपने दुःख से समतल कर रही हो(उसमें सहभागी बना रही हो).

४. सांख्य (तत्त्वज्ञान) के उपदेश की भूमिका : दुःख को विकीर्ण कर देना, यह कहना कि *'सब्बं दु::खम्',* अपने दुःख को हलका करने की दिशा में एक कदम है. इससे हमारे दुःख की जो हमारे लिए विशेष हैसियत है वह खतम तो नहीं होती, लेकिन उसका क्षरण जरूर होने लगता है. भगवान् बुद्ध ने जिन चार आर्य सत्यों की बात कही है, वे इस प्रकार हैं : दुःख, दुःख का कारण, मार्ग और दुःख निरोधोपाय.

निकट से विचार करें तो "संसार दुःखमय है", अपनी स्वीकृति में यह प्रथम आर्यसत्य दुःख के बारे में यथार्थ का उद्घाटन ही नहीं, बहुत हद तक दुःखक्षरणोपाय भी है. कैसे, यह बताया जा चुका है. जिस क्षण हम मान लेते हैं कि संसार दुःखमय है, उसी क्षण जीवनदृष्टि में आये परिवर्तन के कारण हमें अपने दुःख का भार कम लगने लगता है. इस दृष्टि से देखें तो **सत्य केवल ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा का ही नहीं, जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है, अपितु**

महत्त्वपूर्ण अर्थ में आचार-शास्त्र का भी आधारभूत मूल्य है. इसी बात को ध्यान में रख कर सुकरात ने कहा था, "सत्य शील है"(Truth is virtue). सत्य केवल वस्तुसंवादी वाक्यविन्यास का ही नाम नहीं है, यह तो एहसास है जो सुख और दुःख के हमारे आकलनों को बदलने की सामर्थ्य रखता है. सत्य और शील का यह एकीभाव ही धर्मचेतना का मूल है, उसका स्वरूप लक्षण, जो उसे दर्शन तथा उसके अवान्तर अनुशासनों, तत्त्वमीमांसा और आचारशास्त्र आदि से अलग करता है.

हंसते हुए से भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन को जिस आत्मवाद के उपदेश के लिए तैयार कर रहे हैं वह धर्मदर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है. संसार के सभी धर्म किसी न किसी रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं तथा इस स्वीकृति में अन्तर्निहित प्रज्ञा को भी, जो प्रत्येक आस्थावान् में धैर्य, न्याय में विश्वास तथा व्यापक संदर्भों में सुख और दुःख के आकलन को सुनिश्चित करती है. शरीरी होते हुए भी शरीर की नश्वरता से अछूता, शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी जिसकी सत्ता बनी रहती है, ऐसे आत्मतत्त्व की मान्यता और उससे प्राप्त प्रज्ञा, जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है, संसार के सभी धर्मों का सामान्य तत्त्व है. इसीलिए हमने आत्मवाद को धर्मदर्शन का मूलभूत सिद्धान्त कहा है. श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मतत्त्व का जो चिन्तन हुआ है वह धर्मदर्शन के सिद्धान्त के रूप में हुआ है, न कि औपनिषदिक तत्त्वमीमांसा के रूप में, जैसा कि वेदान्त परम्परा के गीताभाष्यों का मानना है. इसकी चर्चा आगे के एकक में विस्तार से करेंगे.

■ ■ ■

द्वितीय-परिच्छेदः

सांख्यबुद्धिविचारः

		पृ.सं.
परिच्छेद-समारम्भः	... .	१३९-१४८
प्रथम एककः (श्लो.११)	... ...	१४९-१६०
द्वितीय एककः (श्लो.१२-१५)	... ...	१६१-१७६
तृतीय एककः (श्लो.१६-१८)	... ...	१७७-२०४
चतुर्थ एककः (श्लो.१९-२१)	... ...	२०५-२१८
पंचम एककः (श्लो.२२-२५)	... ...	२१९-२४०
षष्ठ एककः (श्लो.२६-३०)	... ...	२४१-२५६

परिच्छेदः समारम्भः

सांख्यबुद्धिविचारः

अध्यायस्य एकोनचत्वारिंशे श्लोके प्राप्यते विभागवचनम् – *एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रुणु'* इति। तदनुसारं अध्यायस्य एकादशश्लोकतः अष्टत्रिंशं यावत्सांख्यस्योपदेशः, अनन्तरं योगस्येति व्यवस्थितम्।

असमंजसवहो सांख्यविभागः। अस्य वैविध्यपूर्णसुविस्तृतकलेवरे दुर्लक्ष्या न केवलं विभागीयैकता, अपितु वैचारिकसामग्र्यपि सांख्यव्यपदेशप्रमाणिका। अपि च, विभागवचनपूर्वं 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसी'ति अष्टश्लोकेषु वर्णधर्मस्य स्वधर्मस्यार्जुनस्योद्भावनं कृतो वर्तते। कस्मिन्नर्थ इदं सांख्यमिति निर्णयो न सहजः।

वस्तुतस्तु आत्मानात्मविवेको हि आधारभूतविवेकः सांख्यदर्शनस्य। आस्थायामस्य विवेकस्य संग्रहादेव व्यपदेशौचित्यं विभागस्य। संसारस्य सर्वे धर्माः धर्मसम्प्रदायाश्च आत्मसंदर्भं स्वीकुर्वन्त एव प्रवर्तन्ते। धर्मस्य सार्वभौमिकेऽर्थे इयमन्तर्दृष्टिः साकारा भवति गीतायाः द्वितीयाध्यायस्य सांख्यचिन्तने।

दार्शनिकमतविशेषस्य प्रतिपादनं नास्ति गीतायाः सांख्यचिन्तनस्याभीष्टम्। धर्मदर्शनस्य (आचारशास्त्रस्यापि)आधारभूतपरिकल्पत्वेन अत्मविवेकस्य स्थापनाय प्रवर्तते संदर्भितं सांख्यचिन्तनम्। एतदर्थमात्मनः काऽवधारणा परिकल्पनीया, नेदं महत्त्वपूर्णम्। आत्मसंदर्भस्य स्वीकृतिरेव महत्त्वपूर्णा। प्राप्यन्ते तेन सामान्यधार्मिक-नैतिकमूल्यानि सर्वधर्म- धर्मनिरपेक्षसाधारणानि। अस्मिन् विषये कोऽपि भ्रमो न भवेदतः सांख्यबुद्धि-प्रसंगे क्रियतेऽत्र 'आत्मवादे'ति संज्ञाया उपचारः।

संसारे आत्मा हि एकमेवाद्वितीयः असंदिग्धोऽकल्प्यप्रत्याख्यान इति विश्लेषणपुरस्सरं तत्त्वविचारकाः भारतीयाः पाश्चात्याश्च स्थापयन्त्यात्मानमाधारभूतपरिकल्पत्वेन तत्त्वदर्शनस्य। यथा

तत्त्वदर्शनस्य तथैवात्मा ह्याधारभूतो परिकल्पो धर्मदर्शनस्यापीति गीताया अनन्या दृष्टि:, आत्म-व्यतिरिक्तानामाप्तपुरुषाप्तवचनाद्यालम्बनानामास्थाया:संदेहसम्भावनाग्रस्तत्वात्। अतो सांख्यबुद्धि-निमित्तात्मचिन्तनव्याजेन धर्मदर्शनस्यैक आधारभूत: परिकल्पो भवति विचारविषय:।

नास्त्यात्मा केवलं निश्चयात्मकाधारो तत्त्वमीमांसाया:, असंदिग्ध-नैतिकमूल्यानां धैर्य-तितिक्षा-सार्वभौमिककरुणादीनामपि शश्वदनुशास्तृत्वाद्धर्मदर्शनाचारमीमांसयोरपि निश्चयात्मकाधारोऽयम्। विवेच्यप्रसंगे समुचितविश्लेषणेन निदर्शितमिदम् (श्लो.१३-१५)। मूर्तालम्बननिबद्धानां परस्पर-विविदमानानां पुस्तकपंथानां सार्वभौमिकार्थे उद्धारस्य संवादस्य च एकमेवाद्वितीयत्वान्निरतिशयं आत्मपरिकल्पस्य महत्त्वं धर्मदर्शनचिन्तने।

आत्मन: भिन्ना अवधारणा आलक्ष्य विंशतिश्लोकीये(११-३०)सुव्यक्तात्मवादप्रकरणे (विहाय शास्त्रबुद्धिप्रकरणं यत्रात्मा परिकल्प्यते नैतिकव्यक्तिरूपेण) प्राप्यन्ते त्रयो विचारक्रमा: आत्म-परिकल्पानुसारिण:। प्रथमं पंचदशश्लोकेषु (११-२५) प्राप्यते आत्मशाश्वतवादविचार:, तदनु अशाश्वतवादविचार एकस्मिन् श्लोके (२६)। अवधेयं यदात्मनोऽत्यन्तविरुद्धपरिकल्पयो: विश्लेषणेन लभते एक एव मूल्यं निर्विकल्पम् – *तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसीति* सुस्थमनोदशा हि प्राथमिक: समय: प्रामाणिकधर्मानुसंधानस्य। आत्मविमर्शेन निश्चीयते सा। आत्मा शाश्वतो न वा, नेदं महत्त्वपूर्णम्।महत्त्वपूर्णं तु मूल्यमात्मविमर्शजन्यम्। अत्यन्तविरुद्धयोरभिन्नप्रसक्तिर्हि आंशिक-विज्ञप्तिरात्मन: आश्चर्यकोषस्य। चतुश्श्लोकेषु (२७-३०) आश्चर्यवत आश्चर्योपन्यासेनोपसंहरति आत्मवादप्रसंगस्य प्राथमिकं निर्वचनम्। प्रकरणिकमिदं भजते षडैककनिबद्धां संरचनां यस्या: व्याख्यानं वितन्यतेऽत्र यथाक्रमम्।

१. दूसरे अध्याय का सांख्यसन्दर्भ :

पुष्पिका में दूसरे अध्याय को *सांख्ययोग* नाम दिया गया है. इस अध्याय से गीता के उपदेश का विधिवत् समारम्भ होता है. श्रीमद्भगवद्गीता धर्मदर्शन का शास्त्र है और यह युक्तिसंगत ही है कि उपदेश के प्रारम्भ में ही इसकी आधारभूत मान्यताओं को स्पष्ट कर दिया जाए. धार्मिक आस्था के दो आधारभूत स्रोत हैं : आत्मसन्दर्भ (ज्ञान) और विधान (कर्म). कुछ धर्म केवल विधान को ही धर्म का परमार्थ मानते हैं तो कुछ केवल आत्मसन्दर्भ को. श्रीमद्भगवद्गीता दोनों को स्वीकार करते हुए आस्था की एक व्यापक परिकल्पना प्रस्तुत करती है. इस अध्याय में 'सांख्य' और 'योग' नाम से ये आधारभूत परिकल्प गंभीर विवेचना का विषय बनते हैं. ये

पारिभाषिक शब्द हैं और स्वयं में विस्तृत स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखते हैं.

२. 'सांख्य' नाम और इससे उत्पन्न व्याख्या की समस्याएं :

अध्याय के ३९वें श्लोक में यह विभागवचन आता है — *'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां श्रुणु'. यह मैंने तुमसे सांख्यबुद्धि को कहा, अब योग बुद्धि को सुनो.* इसके अनुसार अध्याय के श्लोक ११ से ले कर ३८ तक सांख्य का उपदेश हुआ है और श्लोक ३९ के उत्तरार्ध से लेकर श्लोक ७२ तक योग का उपदेश है. इसमें पहले भाग को दिया *सांख्य* नाम प्रबुद्ध पाठक को उलझन में डाले बिना नहीं रह सकता, क्योंकि इसके कथ्य की विविधता न तो विभागीय एकता को स्वीकार करती प्रतीत होती है और न ही सांख्य का तत्त्वचिन्तन अपने प्रसिद्ध अर्थ में यहां विद्यमान है. अतः इस भाग के 'सांख्य' नाम को लेकर स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है.

कपिल मुनि के नाम से सम्बद्ध, प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतन) के आत्यन्तिक भेद की मान्यता पर आधारित द्वैतवादी दर्शन भारतीय परम्परा में सांख्य नाम से विख्यात है. गीता के १३वें और १४वें अध्यायों में, कुछ परिष्कारों के साथ इसका विस्तार से प्रतिपादन हुआ है. किन्तु गीता के दूसरे अध्याय में, प्रकृति-पुरुष सिद्धान्त, त्रिगुणात्मिका प्रकृति, तथा २४ तत्त्वों की मान्यता जैसी सांख्य की प्रसिद्ध मूलमान्यताओं का कहीं उल्लेख नहीं है. दूसरे अध्याय में, प्रथमदृष्ट्या ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे इस अध्याय को या उस प्रसंग को जिसका *'एषा तेऽभिहिता सांख्ये'* कह कर समापन किया है, सांख्य नाम दिया जा सके. वस्तुतः इस उपसंहार के ठीक पहले के श्लोक अर्जुन को उसके वर्णधर्म (क्षात्रधर्म) का पालन करने को कहते हैं, सांख्य के उपदेश में ८ श्लोकों के इस प्रसंग की प्रासंगिकता को तय कर पाना आसान नहीं है :

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

--- --- ---

हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

एषा तेऽभिहिताऽसांख्ये ... ॥३९॥

तो क्या उक्त श्लोकों में कहे गए वर्णधर्म का ही नाम सांख्य है, ऐसा विचार किसी भी गीता पाठ करने वाले के मन में आ सकता है, खास कर उनके मन में जो सांख्यदर्शन के बारे में कुछ नहीं जानते. जिन्होंने सांख्यदर्शन के बारे में पढ़ रखा है, वे सोच सकते हैं कि गीता में '*एषा तेऽभिहिताऽसांख्ये*' यह कथन शायद असावधानी वश आ गया है. इसका कोई विशेष अर्थ नहीं है. किन्तु न तो वर्णधर्म के उपदेश का नाम सांख्य है और न ही इस प्रसंग के लिए सांख्य शब्द के प्रयोग में कोई गलती या अनवधानता हुई है.

३. दूसरे अध्याय में 'सांख्य' का अर्थ है आस्था का आत्मसन्दर्भ, तन्निष्ठ विवेक :

वास्तविकता यह है कि सांख्यदर्शन का एक आधारभूत विवेक, जिसे संसार के सभी धर्म, किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं, विवेच्य स्थल (श्लोक ११-३८) के केन्द्र में प्रतिष्ठित है. यह आधारभूत विवेक है सांख्य का आत्म- अनात्म- विवेक. शरीर से भिन्न, शरीर के विपरिणामों से असम्पृक्त आत्मतत्त्व की अवधारणा सांख्यदर्शन का ही नहीं धर्मदर्शन का भी मूलभूत सिद्धान्त है, क्योंकि इसको स्वीकार किए बिना मूल्यों के संग्रह और सातत्य, पुण्य और पाप, तदनुसार ईश्वरीय न्याय तथा लोक और परलोक की सर्वधर्मसामान्य व्यवस्थाएं बन नहीं सकतीं. सांख्य शब्द का एक अर्थ विवेक (ज्ञान) भी है. अतः उस सम्पूर्ण सन्दर्भ (श्लो. ११-३८) को, जहां आत्म-अनात्म विवेक को केन्द्र में रख कर आस्था के प्रामाणिक स्वरूप का अनुसंधान हुआ है, सांख्य नाम दिया गया, यह बात सहज समझ में आती है.

४. तत्त्वचिन्तन का आस्था में संग्रह :

गीताचिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है उपलब्ध तत्त्वमीमांसा का धर्मदर्शन के प्रयोजन के लिए परिष्कार तथा धर्मदर्शन में उसका संग्रह. गीता के विद्वान् भाष्यकारों ने इस आधारभूत तथ्य की उपेक्षा की है. अतः उन में से किसी के लिए सांख्य का अर्थ अद्वैत है तो किसी के लिए विशिष्टाद्वैत. विशेष प्रकार की साधना के लिए आत्मतत्त्व की विशेष अवधारणा प्रासंगिक हो सकती है. लेकिन गीता में सांख्य शब्द का प्रयोग आत्मा की किसी विशेष अवधारण को ध्यान में रख

कर नहीं किया गया है. 'सांख्य' यहां उपलक्षण है, सांख्य सहित सभी धर्मों में सामान्य रूप से विद्यमान आत्मविवेक का, जिसे गीता धर्मदर्शन के आधारभूत सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करती है.

'एषा तेऽभिहिताऽसांख्ये' इस उपसंहार-वाक्य के कारण कोई भ्रम न हो, कोई यह न समझ बैठे कि कि प्रकृत स्थल में सांख्य नाम से किसी दार्शनिक मत विशेष का प्रतिपादन हुआ है और धर्मदर्शन के सन्दर्भ में आत्मविवेक के महत्त्व को ठीक से समझा जा सके इन बातों को ध्यान में रखते हुए इस अपेक्षाकृत लम्बे प्रसंग को आत्मवाद नाम देना अधिक उपयुक्त लगता है.

५. आत्मविवेक के आस्था में संग्रह के निहितार्थ :

समस्त चिन्तन के अधिष्ठान के रूप में आत्मतत्त्व अप्रत्याख्येय है. संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसके होने पर संदेह न किया जा सके, या जिसका निषेध न किया जा सके. किन्तु आत्मा को संदेह अथवा प्रत्याख्यान का विषय नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि संदेह अथवा प्रत्याख्यान(खण्डन) स्वयं चिन्तनरूप होने से, समस्त चिन्तन के कर्ता (अधिष्ठान) रूप में आत्मतत्त्व की सत्ता की पुष्टि में ही पर्यवसित होते हैं. इस युक्ति का सहारा लेते हुए, आचार्य शंकर तथा दकार्ते जैसे विचारकों ने, आत्मज्ञान को तत्त्वमीमांसा की प्राथमिक, स्वतःसिद्ध मूलमान्यता के रूप में प्रतिष्ठित किया है.

श्रीमद्भगवद्गीता मूल्यदर्शन के क्षेत्र में तत्त्वमीमांसा की इस मूलमान्यता की सम्भावनाओं पर विचार करती है. आत्मज्ञान जिस प्रकार तत्त्वमीमांसा का मूलभूत सिद्धान्त है, उसी प्रकार क्या धर्मदर्शन के लिए भी स्वतःप्रमाण आदिप्रत्यय के रूप में इसकी प्रतिष्ठा की जा सकती है? वस्तु (fact) और मूल्य (value) को सामान्यतया दार्शनिक सर्वथा भिन्न और असम्बद्ध अनुशासनों का विषय मानते रहे हैं. वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होता है, जब कि शुभाशुभ मूल्यों का, कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान शास्त्रों से अर्थात् ईश्वरीय विधान से प्राप्त होता हैं. यह श्रीमद्भगवद्गीता की अनन्य अन्तर्दृष्टि है कि वह आत्मज्ञान के रूप में तत्त्वमीमांसा और मूल्यदर्शन के बीच एक ऐसे सामान्य परिकल्प का उद्घाटन करती है जो एक साथ वस्तु के मूल्यानुबंध

और मूल्य के वस्तुनिष्ठ आधार का रूप ले सकता है.

आत्मज्ञान केवल तत्त्व का ज्ञान नहीं अपितु स्वयं में एक मूल्यवान् अनुभव है, प्राप्तव्य है. आचरण का अन्तरंग नियामक होने से यह शील है, साथ ही कर्ता और भोक्ता रूप में यह समस्त मूल्यों का अनिवार्य संदर्भ भी. अतः यह बात सहज समझ में आती है कि अर्जुन के धर्मसंकट का समाधान, प्रस्तुत चुनौतियों के बीच उसके लिए प्रामाणिक-आचरण अर्थात् धर्म के अनुसंधान की प्रक्रिया उस आत्मतत्त्व के उपदेश के साथ प्रारम्भ होती है जो समस्त मूल्यचिन्तन का वस्तुनिष्ठ आधार है. हमने गीता के इस सन्दर्भ को आत्मवाद नाम दिया है.

६. गीता में आत्मा के बारे में शाश्वतवादी, अशाश्वतवादी और पदार्थवादी मतों का संग्रह :

भारतीय तत्त्वमीमांसा में आत्मा की चर्चा मुख्यतया दो रूपों में मिलती है : आत्मा का शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद, जिसे भ्रमवश अनात्मवाद भी कह दिया जाता है. गीता का धर्मचिन्तन इन दोनों ही मतों को ध्यान में रखकर, आस्था के लिए आत्मवाद की सम्भावनाओं पर विचार करता है. दूसरे अध्याय के श्लोक १२-२५ में आत्मशाश्वतवाद की और श्लोक २६, अशाश्वतवाद की चर्चा हुई है. अधिसंख्य धर्म किसी न किसी रूप में आत्मशाश्वतवाद का ही समर्थन करते हैं. अशाश्वतवाद बौद्धों की मान्यता है. मृत्यु के बाद, जो किसी जीवन की सम्भावना को स्वीकार नहीं करते, ऐसे पदार्थवादी भी अशाश्वतवाद की कोटि में आते हैं. इस प्रकार विचार करके देखें तो गीता का सांख्यचिन्तन, वेदान्त से लेकर पदार्थवादी नैतिकता पर्यन्त संसार में आस्था की जितनी भी भंगिमाएं हो सकती हैं, उन सबके बीच धर्म के एक सामान्य वस्तुनिष्ठ आधार के रूप में आत्मसन्दर्भ की प्रतिष्ठा करता है.

श्रीमद्भगवद्गीता में जिस रूप में और जिस क्रम में इनकी चर्चा हुई है वह एक प्रकार से विश्व के धर्म परिदृश्य की समानुपाती है. गीता के लिए यह बात तात्कालिक महत्त्व की नहीं है कि आत्मा शाश्वत् है या अशाश्वत्; उसके लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आत्मविचार, शाश्वतवादियों का हो या वैनाशिकों का, जिन आस्थामूल्यों को जन्म दे रहा है, वे समान हैं. गीता की यह चिन्तन सरणि नीचे लिखे तीन श्लोकों से स्पष्ट है :

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

पहले श्लोक में अर्जुन के लिए यह निष्कर्ष कि *'तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए'*, आत्मशाश्वतवाद से प्राप्त है. दूसरे श्लोक में यही निष्कर्ष ***'नैवं शोचितुमर्हसि'*** अशाश्वतवाद से प्राप्त हो रहा है. तीसरे श्लोक में आत्मशाश्वतवाद और अशाश्वतवाद से प्राप्त इस सामान्य जीवनादर्श का संग्रह करके दिखाया गया है. इससे स्पष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता केवल वेदान्त का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र है ऐसा नहीं कहा जा सकता. केवल आत्मशाश्वतवाद को मानने वाले पन्थों का यह शास्त्र है, यह भी नहीं कहा जा सकता. मुख्य बात है आत्मसन्दर्भ की मान्यता.

यह आत्मसन्दर्भ धार्मिक आस्था का अपरिहार्य स्वतः प्रमाण प्रत्यय है, आत्मशाश्वतवादी के लिए भी और अशाश्वतवादी के लिए भी. यहां तक कि पदार्थवादी आचारबोध और साम्प्रतिक मानववादी मूल्यचिन्तन — वस्तुतः कोई भी नैतिक, धार्मिक चिन्तन आत्मसन्दर्भ को स्वीकार किए बिना प्रवृत्त नहीं हो सकता, यह गीता के प्राकरणिक सांख्यचिन्तन का निहितार्थ है. आस्था के केन्द्रीय परिकल्प रूप में आत्मा की स्थापना ही गीता में सांख्य विचार का मूल प्रयोजन है.

६. गीता में सांख्य (आत्मतत्त्व) चिन्तन की भूमिका का बिन्दुवार संग्रह निम्नवत् हैं :

१. व्यक्तित्व के भौतिक, नैतिक और तात्त्विक धरातलों का भेद करते हुए, उनके आचार-पर्यायों का निर्वचन.

२. धर्मसंकटापन्न अर्जुन के लिए कर्तव्यनिर्णय और कर्तव्यनिर्णय के लिए अपेक्षित मनोदशा — दोनों की उपपत्ति में सहायक होना.

३. तत्त्वज्ञान से तितिक्षा, धैर्य तथा समभाव जैसे सनातन मूल्यों की प्राप्ति.

४. विविधताओं के बीच हिन्दूधर्म के लिए एकीभाव का आधार उपलब्ध कराना.

५. विरुद्ध धर्मभावों के बीच तात्त्विक-एकीभाव का निदर्शन कराते हुए आस्था के सार्वभौमिक परिकल्प की स्थापना करना.

यथोक्त विचारानुबंधों का विशेष विवरण भाष्यभूमिका में दिया जा चुका है. इनके आधार पर गीता में प्रामाणिक आस्था की अनुसंधान यात्रा का जो मानचित्र बनता है, उसे आगे एकक क्रम में दिए व्याख्यानों के द्वारा सहज समझा जा सकता है.

■ ■ ■

प्रथम एककः

(प्रज्ञा-प्रज्ञावादविवेक)

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

हे अर्जुन! जो शोक करने के योग्य नहीं हैं उनके लिए तू शोक करता है, और बातें पण्डितों जैसी करता है. किन्तु जिनके प्राण जा चुके हैं और (जिनके) नहीं गए हैं, पण्डित उनके लिए शोक नहीं करते.

१. **केन्द्रीयमहत्त्वं भजते अयमेकाकी श्लोकः द्वितीयस्याध्यायस्य । विधिवदारभ्यते इतः भगवतः श्रीकृष्णस्य गीतोपदेशः। अत आचार्यशङ्करः श्लोकेनानेनैव प्रारभते स्वीयं गीताभाष्यम्. प्रज्ञा -प्रज्ञावादविवेकविषयेऽस्मिन् श्लोके, आस्थायां प्रमाणभूतप्रज्ञायाःआत्मज्ञाननिष्ठत्वात्, आनुषंगिकतयोपलब्धात्मवादप्रसंगः ससंदर्भः सूत्रितो वर्ततेऽत्र. अपि च, अयं श्लोकः प्रारम्भ एव रेखांकयति प्रयोजनं नैतिकमर्यादाश्च वक्ष्यमाणस्यात्मतत्त्वोपदेशस्य '*गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः*' इति। गीताव्याख्यातृणां मार्गदर्शनायेदम्। अनेनोपक्रमितोऽष्टाविंशति श्लोकानां विस्तृतप्रसंगः सांख्येतिनाम्ना व्यवह्रियते विभागवचने '*एषा तेऽभिहिता सांख्ये*' इति। व्यपदेशस्यास्य निहितार्थमपि निकट विचारमर्हति.**

२. **अर्जुनस्य पाण्डित्याभासरूपान् प्रज्ञावादांश्चालक्ष्य उपहसन्निव तं प्रज्ञाप्रज्ञावादविवेके उपदिशति भगवान् श्रीकृष्णः। प्रज्ञा तु आत्मबुद्धिसमुदिताचारविवेकः तेन विहितव्यवहार एव पण्डिताचारः। तद्भिन्नः दार्शनिकसिद्धान्तानां मनोदशातरलतानुगामिव्यवहारो हि प्रज्ञावादः। प्रज्ञाप्रज्ञावादभेद-**

नियामकत्वात् पण्डितलक्षणत्वात् पण्डिताचारहेतुभूतत्वाच्चात्मबुद्धे:, आत्मचर्चा हि अस्य सम्पूर्णप्रसंगस्य संचितप्रतिपत्ति:।

३. आत्मसिद्धान्तो हि धर्मनिष्ठाया: अपरिहार्य: पूर्वकल्प:,अनिवार्यसन्दर्भत्वाद्धर्म शीलस्य। अयमेवात्मवाद:। सर्वे धर्मपन्थान: स्वीकुर्वन्ति आत्मसत्तां, तद्विना आधारभूतस्य धैर्यतितिक्षादि-लक्षणशीलस्य धर्मस्यानुपपत्तित्वात्। विविधमतेषु सामान्य- शीलानुसंधानपरायणं हि गीताया आत्मतत्त्वविवेचनम्। अनात्माभ्युपगमोऽपि पण्डिताचारप्रवर्तकशीलस्योपकारको भवितुमर्हतीति गीतामतम् :

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

४-८. अनेन स्फुटं भवति श्रीमद्भगवद्गीतायामात्मविचारस्य धर्मदर्शनांगभूतप्रयोजनं, वैशिष्ट्यं चास्य औपनिषदिकात्मचिन्तनात् । गीतायां सर्वत्रात्मविचार आचरणपर्यायगुम्फित एव लभ्यते। व्यावहारिकपरिकल्परूपेणैव प्रवर्तते गीताया: आत्मतत्त्वविचार:। परस्परविरुद्धेष्वपि आत्म-परिकल्पेषु सामान्यशीलस्योपपत्तिरेवास्य प्रयोजनम्। अतो प्रज्ञा नाम सर्वसम्प्रदायसामान्य: सर्वातिवादशून्य: आत्मबुद्धिनिष्ठाचारविवेक:। इयमेव प्रज्ञा पण्डितलक्षणा। जनयतीयं व्यवहारं पण्डिताचाररूपं, प्रज्ञावादस्तु दार्शनिकसिद्धान्तानां यथासौविध्यविनियोगेन मनोदशानुगामि-स्वैराचारस्य युक्तियुक्ता प्रस्तुति: । व्यवहारहेतूभौ प्रज्ञाप्रज्ञावादौ क्रमश: जनयत: पण्डिताचारमाभासञ्च पण्डिताचारस्य । अयमेव प्रज्ञाप्रज्ञावादविवेक:। *गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:* इति पण्डिताचारस्य सिद्धि: तत्त्वाचारमीमांसयो: विविधसंदर्भेषु क्रियते एकविंशति- श्लोकात्मके पञ्चैककनिबद्धेऽस्मिन् प्रकरणे।

एकक विमर्श: : अर्जुन के आचरण की जिस विसंगति का पूर्व एकक में केवल भंगिमा के द्वारा संज्ञान लिया गया, उसे यह श्लोक अब प्रज्ञावाद नाम देता है. ***पण्डित*** इस श्लोक का केन्द्रीय विचारकल्प है. इसके साथ संवाद और विसंवाद के द्वारा प्रामाणिक आचरण अर्थात् धर्माचरण की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है

श्लोक का पूर्वार्ध दोहरे विसंवाद को दिखाता है : *वस्तु* और *भाव* का, तथा *शब्द* और *ज्ञान* का. *'जो शोक के योग्य नहीं हैं, उनके लिए तुम शोक करते हो'* (अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्), यह वस्तु और भाव का विसंवाद है, जो पण्डिताचार के अभाव को रेखांकित करता है. ज्ञान के

बिना ही *'पण्डितों जैसी वाणी बोलते हो'* (प्रज्ञावादांश्च भाषसे), यह *ज्ञान* और *वाणी* का विसंवाद है. इन दोनों विसंवादों का संग्रह करते हुए प्रज्ञावाद, अनुभव और आचरण से असम्बद्ध, प्रज्ञा के शब्दव्यवहारजन्य आभास को बताता है.

श्लोक का उत्तरार्ध प्रतीयमान (प्रज्ञावाद) से भिन्न, पण्डित के प्रामाणिक व्यवहार का निदर्शन है. पण्डिताचार में प्रमाण है, पण्डितप्रज्ञा. यह प्रज्ञा ही है जो पण्डित को उसकी पहचान देती है और उसके आचरण को प्रामाणिक बनाती है. प्रज्ञा से तात्पर्य है, शील में रूपान्तरित हुआ आत्मज्ञान. आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित प्रज्ञा द्वारा निरूपित होने से निर्दिष्ट पण्डिताचार (*नानुशोचन्ति पण्डिताः*) में आत्मज्ञान आक्षेपलभ्य है. इस प्रकार श्लोक का उत्तरार्ध,' ***गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'***, बड़ी ही सावधानी के साथ गीता में आत्मवाद-प्रसंग और उसकी नैतिक मर्यादाओं को सूत्ररूप में अवतरित करता है.

प्रकृत श्लोक से लेकर ३८वें श्लोक तक सांख्य नाम से जो चिन्तन हुआ है, वह ***' गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः '***इस सूत्र की ही व्याख्या है. अर्जुन की कर्तव्य-जिज्ञासा के सन्दर्भ में प्रस्तुत आत्मविचार यहां धर्मदर्शन का अंग है, तत्त्वदर्शन का नहीं, यह बात भी इस सूत्र से ही अर्थतः प्राप्त है. विवरण निम्नवत् है.

१. गीता में आत्मविचार :
इसका मूल धर्मजिज्ञासा है, तत्त्वजिज्ञासा नहीं :

गीता में जो आत्मविचार हुआ है, उपनिषदों की भांति न तो तत्त्वजिज्ञासा उसमें निमित्त है और न ही उसे तत्त्वमीमांसा के एक सांगोपांग सिद्धान्तरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है. गीता में आत्मविचार चयनात्मक है. वह धर्म संकट की एक व्यावहारिक समस्या को सामने रख कर प्रवृत्त हुआ है. आस्था के ठहराव के लिए, अनास्थामूलक तर्कवाद के झंझावातों से आस्था को बचाने के लिए धर्मदर्शन के एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में इसका उपदेश हुआ है.

बुद्धि की आत्मनिष्ठा वस्तुतः यावन्मात्र धार्मिक-आस्था का मौलिक सन्दर्भ है. धैर्य तितिक्षा आदि आधारभूत मूल्य, जो सभी धर्मों में सामान्य हैं, सीधे बुद्धि की आत्मनिष्ठा से प्राप्त होते हैं. अध्याय का ११वां श्लोक जहां से आत्मविचार प्रारम्भ होता है, इसके प्रयोजन और सीमाओं

को शुरू में ही बांध देता है. *गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः — जो मर गए हैं और जो जीवित हैं, पण्डित उनको लेकर शोक नहीं करते* — यह उपक्रम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देता है कि आधारभूतशील के रूप में धैर्य की प्रतिष्ठा ही यहां आत्मविचार का प्रयोजन है.

आचार्य शङ्कर ने अपनी व्याख्या में गीता का पहला अध्याय छोड़ दिया है क्योंकि उसमें उन्हें वेदान्त नहीं मिला. वे दूसरे अध्याय के ११वें श्लोक से गीताभाष्य प्रारम्भ करते हैं. किन्तु यहां भी वेदान्त कहां है? है भी तो गौण है. मुख्य प्रतिपाद्य तो शील है, जिसके उपकारक रूप में आत्मा की चर्चा हो रही है.

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।११।।

हे अर्जुन! जो शोक करने के योग्य नहीं हैं उनके लिए तू शोक करता है, और पण्डितों जैसी बातें करता है. किन्तु पण्डित, जिनके प्राण चले गए हैं उनके लिए, और जिनके प्राण नहीं गए हैं उनके लिए शोक नहीं करते.

२. प्रज्ञा-प्रज्ञावादविवेक :

व्याख्येय श्लोक का पूर्वार्ध अर्जुन के व्यवहार में दोहरे अन्तर्विरोध का उद्घाटन करता है. ***'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'*** — *जो शोक के योग्य नहीं हैं उनके लिए तुम शोक करते हो*, यह पहला अन्तर्विरोध है. वस्तु में भाव का विसंवाद, जो अशोच्य में शोक का रूप लेता है. दूसरा अन्तर्विरोध है, ज्ञान और वाणी का विसंवाद जो *प्रज्ञावादांश्च भाषसे* (पण्डितों जैसी वाणी बोलता है) इस वाक्यांश से व्यक्त हुआ है.

अर्जुन का बुद्धिवाद उसको पण्डितों जैसी वाणी दे सकता है, पण्डितों जैसा आचरण नहीं. आचरण और वाणी के व्यवहार का यह विसंवाद, इस बात को बताता है कि वह जो कुछ कह रहा है वे सुनी सुनाई बातें हैं, उनके पीछे अनुभव का आधार नहीं है. आचरण और बौद्धिक व्यवहार का यह विसंवाद, अर्जुन में गहराई तक आस्था के बिखराव और विभाजन को रेखांकित करता है.

३. महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दावली :

आचरण और बौद्धिक व्यवहार के इस विसंवाद को गीता में प्रज्ञावाद नाम दिया गया है. यह शब्द अर्जुन के व्यक्तित्व के विखण्डन और बिखराव की संक्षिप्त प्रस्तुति है. समस्या को

ध्यान में रखते हुए, श्लोक का उत्तरार्ध, अर्जुन के सामने आचरण के लिए पण्डित का आदर्श प्रस्तुत करता है.

इस श्लोक से हमें कुछ महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द प्राप्त होते हैं. ये शब्द हैं, ***प्रज्ञा'*** ***'प्रज्ञावाद'***, ***'पण्डित'*** ***'पण्डिताचार'***. इनमें *'प्रज्ञावाद',* और *'पण्डित'* इन शब्दों का साक्षात् उल्लेख हुआ है जब कि *'प्रज्ञा'* और *'पण्डिताचार'* शब्द आक्षेपलभ्य हैं. इस पारिभाषिक शब्दावली को ठीक से समझना श्लोक को समझने के लिए तो आवश्यक है ही, धर्म के दर्शन और मनोविज्ञान की समस्याओं को समझने के लिए भी उपयोगी है. अतः इस श्लोक की व्याख्या के क्रम में इसका विवरण दिया जा रहा है.

३.१. *'प्रज्ञावाद'* का अर्थ :

प्रज्ञा का सामान्य अर्थ है ज्ञान. *प्रज्ञावाद* का अर्थ हुआ वाणी के द्वारा ज्ञान का आभास या दिखावा. प्रज्ञावाद अनुभव से विलग, सुना सुनाया अपुष्ट ज्ञान है जो भाषा के संस्कार रूप में व्यक्ति को प्राप्त होता है. चूंकि इसका अनुभवरूप में कोई अनुशासक केन्द्र नहीं होता, यह अप्रतिबद्ध भाषासंस्कार आचरण का नियामक न हो कर स्वयं मन की रुझान का सहज अनुगामी हो जाता है. अपने बहुश्रुति-संग्रह में से काम की बातें छांट कर, यह मन की रुझान को सिद्धान्त का आकार और औचित्य देने का काम करता है. वाणी और आचरण का विसंवाद प्रज्ञावाद का स्वरूप लक्षण है, जिसका निदर्शन ***'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे'*** इस वाक्य में हुआ है.

प्रज्ञा का आधार है, एक समग्र व्यक्तित्व, जिसमें भाव, बुद्धि और कर्म के पक्ष परस्पर संश्लिष्ट और संवादशील हों. अर्जुन में समग्रता का यह आधार क्षतिग्रस्त हो चुका है. उसका हृदय क्षात्रधर्म के पारम्परिक विधान का अनुमोदन नहीं करता. आर्यधर्म के रूप में इसका परिष्कार भी उसकी बुद्धि को आश्वस्त नहीं कर पाता. जो नहीं करना है, उसने तय कर लिया है. किन्तु क्या करना है इसे वह तय नहीं कर पा रहा है. उसके तर्क कर्तव्य रूप में जो प्राप्त है उसका निपुण खण्डन तो कर डालते हैं किन्तु उसे करना क्या चाहिए यह नहीं बता पाते. अर्जुन का यह विध्वंसक बुद्धिवाद वाणी के जिस दुरुपयोग को जन्म दे रहा है, उसी को श्रीकृष्ण

'प्रज्ञावाद' कह कर विचार के योग्य एक नाम देते हैं.

यह प्रज्ञावाद वस्तुतः व्यक्तित्व के विखण्डन की सम्पूर्ण प्रक्रिया का उपलक्षण है, जिसका क्रम इस प्रकार है : व्यक्तित्व का बिखराव तत्त्वज्ञान और मूल्यबोध की निरपेक्षता को जन्म देता है. यह निरपेक्षता अनास्था को, अनास्था बौद्धिक-व्यवसाय के बिना ही अर्जुन में पण्डितों जैसे वाणी के व्यवहार को जन्म दे रहा है. इस सम्पूर्ण प्रक्रिया की परिणति जिस बौद्धिक मिथ्याचार में हो रही है, उसी को गीता में प्रज्ञावाद कहा गया है. इस विध्वंसक बुद्धिवाद का निराकरण तर्क से नहीं किया जा सकता, क्योंकि पारे की तरह हर बिन्दु पर टूटते बिखरते, इस बुद्धिवाद का कोई गुरुत्वकेन्द्र नहीं है. अतः यह अश्रेयस्कर है इस बात की सिद्धि तर्क से नहीं, निदर्शन से करते है : ***अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे*** - **हे अर्जुन! जो शोक करने के योग्य नहीं हैं, उनके लिये तू शोक करता है और पण्डितों जैसी बातें करता है'**. यहां तत्त्वज्ञान-निरपेक्ष नैतिकता, उससे उत्पन्न अमर्यादित-बुद्धिवाद अर्जुन के व्यवहार में जो विसंगति उत्पन्न कर रहा है, उसको दिखाया गया है. यह विसंगति-निदर्शन ही, तद्हेतुक बुद्धिवाद के अश्रेयस्कर स्वरूप का भी निदर्शन है.

३.२. प्रज्ञा का स्वरूप :

प्रज्ञावाद के प्रतियोगी रूप में प्रज्ञा के अर्थ को समझना चाहिए. श्लोक के उत्तरार्ध ***'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'*** में निर्दिष्ट पण्डिताचार में यह पूर्वकल्पित है. ***प्रज्ञा* नाम है विधायक तत्त्वज्ञान का.** तत्त्वज्ञान से प्राप्त मूल्यबोध ही सनातन धर्म है. सम्प्रदायबुद्धि विशेषों से भिन्न, अपने इन देशकालावच्छिन्न अवतरणों को प्रमाणित करती धर्मप्रज्ञा, अपनी तत्त्वनिष्ठा के कारण ही सनातनधर्म कहलाती है.

तत्त्वज्ञान से प्राप्त इस मूल्यबोध को व्यक्ति का जीवन-दर्शन भी कहा जा सकता है. यह मन, वचन और आचरण की एकरूपता का नियामक है. यह सत्य है कि ज्ञान लौकिक हो या तात्त्विक, अपने आप में विधायक नहीं होता. वह ज्ञाता के भावपक्ष से जुड़ कर ही मूल्यवान् अर्थात् आचरण का विधायक बनता है. आधुनिक दार्शनिकों का यह मानना है कि विध्यर्थ केवल भावनात्मक अनुमोदन या अननुमोदन को बताता है. जब कोई यह विधि वाक्य बोलता है - 'तुम्हें चोरी नहीं करनी चाहिए' तो आधुनिक दार्शनिकों के अनुसार इसका अर्थ है ' मैं चोरी करने को

पसंद नहीं करता'. जब कोई कहता है कि 'सभी को सच बोलना चाहिए' तो इसका अर्थ है 'मैं सच बोलने को पसंद करता हूं'. मूल्य केवल भाव है, वस्तुगर्भविहीन, यह आशय है अद्यतन पाश्चात्य मूल्यदर्शन का.

यह बात सही है कि व्यक्ति की भावभूमि मूल्यचेतना का मूल है, पसंद और नापसंद उसके प्राथमिक अर्थ. किन्तु मूल्य को विधायक बनाने के लिए, इतना ही काफी नहीं है. मूल्य को प्रवर्तक बनाने के लिए, सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिग्रह आवश्यक है. भावना, पसंद या नापसंद को जन्म देती है. वह विधायक भी हो यह आवश्यक नहीं. दूसरी ओर अकेले ज्ञान, अर्थात् संदर्भनिरपेक्ष वस्तुबोध मूल्यविहीन होता है. उसमें प्रवृत्तिनिमित्त बनने की सामर्थ्य नहीं होती. यह भावभूमि में तत्त्वज्ञान का संग्रह है, जो भाव को मूल्य में बदलता है, साथ ही मूल्यचेतना को तात्त्विक आधार, सार्वभौमिक अर्थ और औचित्य प्रदान करता है. सन्दर्भनिरपेक्ष तत्त्वज्ञान मूल्यविहीन होता है, जब कि विधायक होने के लिए केवल भावना पर्याप्त नहीं. ***भावभूमि में तत्वज्ञान का संग्रह ही उस विधायक प्रज्ञा को जन्म देता है जो समस्त धार्मिक और नैतिक शील का अन्तरंग आधार है.***

३.३. *'पण्डित'* शब्द का अर्थ : मोटे तौर पर देखें तो गीता में पण्डित की अवधारणा तत्त्वज्ञान और मूल्यबोध का मिलनबिन्दु है. वास्तव में यह, आत्मतत्त्व के निश्चयात्मक बोध के एक धार्मिक-नैतिकमूल्य में रूपान्तरण की प्रक्रिया का फलितार्थ है. सामान्यतया तत्त्वज्ञान और मूल्यबोध को दो सर्वथा विविक्त, अन्योन्याभावी अनुशासनों के रूप में मान्यता दी गई है. गीता तत्त्वमीमांसा और आचारशास्त्र के सम्बन्ध की आधारभूत समस्या को केन्द्र में रख कर न केवल जीवन्त सन्दर्भों में विचार करती है अपितु उस प्रक्रिया का निपुण निदर्शन कराती है जिस के द्वारा तत्त्वचिन्तन मूल्यचेतना में रूपान्तरित होता है. दर्शन के क्षेत्र में श्रीमद्भगवद्गीता का यह ध्यान देने योग्य योगदान है. किन्तु उसका विशिष्ट योगदान तो धर्मदर्शन के क्षेत्र में है.

वेदान्त में शील आत्मज्ञान की जिज्ञासा में निमित्त बनता है. ब्रह्मजिज्ञासा के निमित्त रूप में ही — *नित्यानित्यवस्तुविवेक ,इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पत्, तथा मुमुक्षुत्वं* (मोक्ष की इच्छा) —इस शीलसम्पदा की परिकल्पना की गई है वेदान्त में. इससे बिल्कुल उलट है गीता का क्रम. यहां आत्मज्ञान शील का उपकारक बन कर आता है. यह अन्तर है तत्त्वदर्शन

और धर्मदर्शन का. इस विवेक को केन्द्र में रख कर गीता धर्मदर्शन के शास्त्र के रूप में अपने विचारपथ को रेखांकित करती है. धर्म में तत्त्वचिन्तन की प्रासंगिकता, आस्था के लिए आत्मपरिकल्प का महत्त्व, संदेहवादी झंझावातों से आस्था को बचाने में रक्षाकवच के रूप में आत्मवाद की भूमिका — इन विषयों का जैसा कुशल प्रतिपादन श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ है, वैसा कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलता.

३.४. 'पण्डित' और 'तत्त्वदर्शी' :

गीता में ज्ञानी के लिए दो शब्दों का प्रयोग मिलता है, 'पण्डित' और 'तत्त्ववित्'. ये दो शब्द आत्मवाद के क्रमशः 'नैतिक' और 'तात्त्विक' पर्यायों को बताते हैं. बहिर्मुखी और परिवेशोन्मुख हुआ आत्मज्ञान जब आचरण का नियामक बनता है, तब यह प्रज्ञा कहलाता है. जिसका आचरण प्रज्ञा के द्वारा अनुशासित हो, वही पण्डित है, यह अर्थ निष्पन्न होता है. यही निहितार्थ है '***गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः***' इस वाक्य का.

आत्मज्ञान विधायक तभी बनता है जब वह शब्दगम्य हो, परोक्ष और परिवेशोन्मुख अर्थात् विमर्श की योग्यता से सम्पन्न हो. आत्मा के इस विधायक रूप से सर्वथा भिन्न है उसका तात्त्विक, साक्षात्कारात्मक बोध, जिससे सम्पन्न हुआ व्यक्ति तत्त्वदर्शी कहलाता है. इस प्रकार गीता में 'पण्डित' और 'तत्त्वदर्शी', ये दो शब्द भिन्न कोटिक अधिकारों को बताते हैं, जिनमें आत्मज्ञान के क्रमशः व्यावहारिक और तात्त्विक अर्थों की सिद्धि होती है. आत्मज्ञान, जहां पण्डित में परोक्ष, परिवेशोन्मुख और विध्यर्थ-समर्पक होता है वहीं तत्त्वदर्शी में यह, आप्तकाम, अतः सर्वव्यवहार निरपेक्ष, अपने तात्त्विक, साक्षात्कारात्मक स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है.(*उभयोरपि दृष्टोऽन्त-स्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि* — गीता. २.१६). पण्डित में विधायक प्रज्ञा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ आत्मज्ञान, विहित आचरण के द्वारा नैतिक मूल्यों का जनक होता है. तत्त्वदर्शी में आत्मज्ञान उक्तरूप में मूल्यों का जनक न हो कर स्वयं मूल्यवान् अनुभव के रूप में प्रतिष्ठित होता है.

जिस प्रकार अर्जुन का युद्धोपरति-समर्थक युक्तिवाद, 'पण्डित', इस संकल्पना के लिए प्रकरण है, उसी प्रकार 'पण्डित' की संकल्पना प्रकरण है आत्मवाद की चर्चा का. अर्जुन की कर्तव्य-विभ्रम की समस्या, जो प्रारम्भ में एक भावातिरेक की समस्या प्रतीत होती है, दूसरे अध्याय के प्रारम्भ तक पहुंचते पहुंचते एक वैचारिक विभ्रम का रूप ले लेती है. इसका निवारण केवल

एक ऐसी मूल्यचेतना के उद्बोधन के द्वारा ही सम्भव है जो तत्त्वचिन्तन के सुदृढ़ आधार में प्रतिष्ठित हो. इस बात को ध्यान में रखते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के सामने पण्डिताचार का परिकल्प प्रस्तुत करते हैं.

गीता के अनुसार पण्डित वह है जिसमें आत्मतत्त्व का निश्चयात्मक ज्ञान जीवनादर्श के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका हो, आचरण का नियामक बन चुका हो (*गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः*). स्पष्ट है कि गीता में पण्डित की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है, आत्मवाद उसके अर्थ में अन्तर्निविष्ट है. अर्थात् हमें 'पण्डित' के अर्थ को समझना है तो उसमें विधायक प्रज्ञा के रूप में प्रतिष्ठित आत्मा के स्वरूप को समझना होगा.

४. आत्मसन्दर्भ : संदेहवाद के विरुद्ध एक विश्वसनीय रक्षाकवच :

संदेह और अनास्था से आस्था की रक्षा, मौत के फतवे और उग्र प्रदर्शनों से सम्भव नहीं है. इसके लिए आस्था को एक ऐसे आधार में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए जो सन्देह से परे हो. आस्था के लिए आत्मा से अधिक अन्तरंग, आत्मा से अधिक असंदिग्ध और विश्वसनीय आधार नहीं हो सकता. कोई मूर्त आलम्बन, अवतारी पुरुष या उसकी किताब, विश्वसनीयता में आत्मा का स्थान नहीं ले सकते. आत्मचिन्तन तलवार से नहीं, विवेक और बुद्धि के द्वारा आस्था की रक्षा करता है.

रक्षा का यह कार्य दो प्रकार से सम्पन्न होता है. वैचारिक विभ्रम से उत्पन्न अनास्था के विरुद्ध, आत्मप्रत्यय, आस्था को एक विश्वसनीय तात्त्विक आधार देता है. इसके अलावा एक अन्य अपेक्षाकृत सूक्ष्म अर्थ भी है जिसमें आत्मवाद संदेहवाद से धर्म की रक्षा करता है. संदेहवाद और अनास्था का अकेला सबसे बड़ा कारण है, संसार में धर्मों की विविधता और उनके अपने अपने परस्पर विरोधी शास्त्र. आत्मा का परिकल्प, विभिन्न धर्मों और उनकी विविधताओं के बीच एक सामान्य वस्तुनिष्ठ आधार है, जो आस्था को एक सार्वभौमिक अर्थ में प्रतिष्ठित करता है.

५. आस्था की सार्वभौमिक प्रामाणिकता की समस्या :

यह धर्मदर्शन की मौलिक समस्या है. कोई भी धर्म इकाई अपने को प्रामाणिक आस्था के रूप में प्रस्तुत करने का अधिकार रखती है. लेकिन ऐसी कोई भी इकाई न तो सभी धर्मों

के लिए प्रमाणिकता की कसौटी हो सकती है, और ही अपने सन्दर्भ से अन्य धर्मों को अप्रामाणिक घोषित करने के उसके अधिकार को स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि ऐसा करने का अर्थ होगा सामान्य और विशेष के आधारभूत अन्तर का अपलाप करना. अपने को कसौटी के रूप में पेश करने का अर्थ होता है, अपने ही सन्दर्भ से अपनी श्रेष्ठता की सिद्धि. ऐसी श्रेष्ठता तो सभी धर्मों में प्राप्त है, अतः इससे किसी भी धर्म को किसी लाभ, किसी अतिशय का आगम होता नहीं. तत्तद् धर्म अपने सन्दर्भ से दूसरों को अप्रामाणिक घोषित करते हुए सामाजिक असहिष्णुता और अविश्वास को तो बढ़ावा दे सकते हैं, किन्तु इससे आस्था की प्रामाणिकता की खोज में कोई मदद नहीं मिल सकती. **मिशनरी धर्मों की विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा, जिसने संसार में इतने अविश्वास, अराजकता और संघर्षों को जन्म दिया है, वस्तुतः आस्था की प्रामाणिकता की उनकी गलत अवधारणा से प्राप्त है.**

गीता प्रज्ञा-प्रज्ञावाद विवेक के रूप में एक ही श्लोक में उन दो आधारों का संग्रह करती है जो समन्वितरूप से अप्रामाणिक आस्था के दायरों की पहचान करते हुए, प्रामाणिक आस्था की सामान्य, सार्वभौमिक कसौटी प्रस्तुत करते हैं.

६. तत्त्वदर्शन में धर्म के सार्वभौमिक आधार की खोज :

धर्म के मूर्त आलम्बन – पुस्तक, पैगम्बर, गुरू या अवतारी पुरुष, किसी भी धर्म के क्यों न हों, समाज विशेष के स्थानीय संदर्भों से बंधे होते हैं, अतः सुव्यक्त अव्याप्ति दोष के कारण उन पर आधारित कोई भी *विशेष,* धर्म का सार्वभौमिक अर्थ नहीं हो सकता. सार्वभौमिक अर्थ के अभाव में, उनमें से किसी को भी आस्था की प्रामाणिक कसौटी के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता. अतः आस्था की प्रामाणिकता की कसौटी की खोज तत्तद् धर्मालम्बनों की बजाय तत्त्वदर्शन में होनी चाहिए. यह अप्रतिम हिन्दू अन्तर्दृष्टि श्रीमद्भागवद्गीता के धर्मचिन्तन में साकार होती है.

गीता किसी अवतारी पुरुष या उसके माध्यम से अवतरित दिव्य उपदेश की बजाय, तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठित प्रज्ञा को आस्था की कसौटी के रूप में प्रस्तुत करती है. प्रज्ञा-निरूपित-आचरण ही धर्म का प्रामाणिक, सार्वभौमिक अर्थ है. तत्त्वज्ञान से यहां तात्पर्य आत्मज्ञान से है. किसी भी व्यक्ति

के लिए आत्मा की सत्ता अर्थात् अपने होने का एहसास, सर्वाधिक प्रामाणिक, सर्वाधिक अन्तरंग, नितान्त अप्रत्याख्येय सत्य है. इस आत्म-प्रत्यय में प्रतिष्ठित प्रज्ञा को ही गीता धर्म की सार्वभौमिक कसौटी के रूप में प्रस्तुत करती है.

७. आत्मसन्दर्भ :
आस्था का अप्रत्याख्येय, सार्वभौमिक आलम्बन :

इस दृश्य जगत् से परे अपने अस्तित्व की मान्यता तथा कर्म की नैतिक सम्भावनाओं की स्वीकृति — ये दो मान्यताएं किसी भी प्रामाणिक आस्था की न्यूनतम शर्तें हैं. इन्हें स्वीकार करके आचरण में प्रवृत्त होने वाला कोई भी व्यक्ति एक प्रामाणिक धर्म को जीता है. वस्तुतः दूसरी मान्यता — कर्म की नैतिक सम्भावनाओं की स्वीकृति भी कर्ता और भोक्तारूप में एक अविकल आत्मसन्दर्भ को ही परिकल्पित करती है. अतः निकट से देखें तो व्यक्तित्व के तात्त्विक आधार रूप में आत्मा की स्वीकृति — जिसकी सत्ता इस शरीर के नष्ट हो जाने पर भी बनी रहती है, एक प्रामाणिक आस्था की पर्याप्त शर्त है. आस्था की इस कसौटी में संदेह, 'कुफ्र', 'पाप', या 'शैतानी भटकाव' के लिए कोई जगह नहीं बनती, क्योंकि 'अपने होने के एहसास' में किसी भी व्यक्ति को कोई भ्रम, संदेह या अनास्था नहीं हो सकती.

आस्था के जिन मूर्त आलम्बनों को लेकर संदेह हो सकता है और जिनसे विसंवाद तथाकथित 'कुफ्र' और 'भटकाव' की अवधारणाओं को जन्म देता है — ईश्वर, अवतरित माध्यम अवतारी पुरुष और शास्त्र — वे अपनी विसंवाद की सम्भावनाओं के कारण ही आस्था की प्रामाणिकता के निर्णायक आधार नहीं हो सकते. आत्म-सन्दर्भ ही आस्था की प्रामाणिकता की कसौटी हो सकता है, क्योंकि आत्मा के होने में किसी को संदेह नहीं हो सकता, जबकि आप्त आलम्बन — शास्त्रवचन और अवतारी पुरुष — कभी संदेहों से परे नहीं हो सकते. आत्मसन्दर्भ को धर्म की प्रामाणिकता की कसौटी मान लेने पर न केवल जैन, बौद्धादि अनीश्वरवादी सम्प्रदाय अधार्मिक होने से बच जाते हैं, अपितु विशुद्ध इहलौकिक नैतिकता भी आस्था की ही कोटि में आ जाती है. आज का मानववादी चिन्तन ईश्वर और उसके विधान की बात को तो स्वीकार नहीं करता, किन्तु यह मानव के अस्तित्व की पवित्रता, उसका सौन्दर्य, समस्त मूल्यों के उत्स रूप में मानव की प्रतिष्ठा करते हुए, लौकिक व्यक्तित्व के रूप में ही सही, एक आत्मसंदर्भ को स्वीकार

करके ही प्रवृत्त होता है. आत्मसन्दर्भ को स्वीकार करने के कारण मानववाद भी प्रथम दृष्ट्या आस्था की ही कोटि में आता है. यह सभी धर्मों के बीच, आस्था के सामान्य-परिकल्प के रूप में आत्मसन्दर्भ की अपरिहार्यता का निदर्शन है.

८. दूसरे अध्याय के ११वें श्लोक का केन्द्रीय महत्त्व :

दूसरे अध्याय का ११वां श्लोक गीता में विशेष महत्त्व रखता है. यहीं से भगवान् श्रीकृष्ण के अर्जुन के प्रति उपदेश का विधिवत् समारम्भ होता है. अतः आचार्य शङ्कर ने अपना गीताभाष्य यहीं से प्रारम्भ किया है.

इस श्लोक में प्रज्ञा-प्रज्ञावादविवेक के रूप में आस्था की प्रामाणिकता की समस्या और उसके नियामकरूप में आत्मतत्त्व विचार का आक्षेप किया गया है. यह श्लोक आत्मवाद को सूत्र रूप में प्रस्तुत करता है, साथ ही बड़ी सावधानी के साथ आत्मतत्त्व के उपदेश के प्रयोजन को, उसकी प्रासंगिक नैतिकमर्यादा को भी प्रारम्भ में ही रेखांकित कर देता है - *गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः*. इस श्लोक से उपक्रमित २८ श्लोकों के विस्तृत और विविधता पूर्ण प्रसंग को ***सांख्य*** नाम दिया गया है. यह नाम आत्मविवेककेन्द्रित जीवनदृष्टि को बताता है. निकट से देखें तो सम्पूर्ण सांख्य प्रसंग, सूत्र ***गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः*** की ही व्याख्या है.

■ ■ ■

द्वितीय एकक:

(आत्म-विवेक, तन्निष्ठ सनातनमूल्य
और उनका फलानुबंध)

(क) नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२।

(ख) देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

(ग) यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, अथवा तू नहीं था, अथवा ये राजा लोग नहीं थे; और न ऐसा ही है कि इससे परे हम सब नहीं रहेंगे(१२). जिस प्रकार इस शरीर में रहते हुए जीवात्मा को बालपन, यौवन और वृद्धावस्था प्राप्त होती है, उसी प्रकार उसे देहान्तर की प्राप्ति होती है. धीर पुरुष इससे मोहित नहीं होते(१३). हे अर्जुन! इन्द्रियां और उनके विषय तो सर्दी गर्मी और सुख दुःख के एहसासों को देनेवाले हैं. ये उत्पत्ति-विनाशशील हैं, और अनित्य हैं. हे भरतवंशी अर्जुन, तू उन्हें सहन कर(१४). क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! सुख और दुःख के प्रति समभावी जिस धीर पुरुष को ये व्यथित नहीं करते, वह अमरता का अधिकारी होता है(१५).

सनातन-मूल्यानामनुसंधानं तन्निरूपिता स्वरूपोपतोपपत्तिश्च सनातनधर्मस्य मूर्धाभिषिक्त-सैद्धान्तिकोपलब्धिरस्यैककस्य ।

न त्वेवाहमित्यतः सोऽमृतत्वाय कल्पत इत्यन्तं श्लोकचतुष्टयात्मकैककोऽयं विभावयति विभागचतुष्टयम्। आत्मशाश्वतवादं केन्द्रे निधाय, निरूप्यतेऽत्र आत्मभावस्य पण्डिताचारलक्षणनैतिक-बोधे रूपान्तरप्रक्रिया । इयं हि एककस्य चिन्तनसंरचना यथाविभागम् : (क) आत्मशाश्वतवादस्य मूलस्थापनायाः प्रवर्तनम् (श्लो.१२), (ख) ततः देहात्मविवेकस्य सिद्धिः, तेन प्रज्ञागमः मृत्योः निर्विकारस्वीकृतिरूपः(श्लो.१३), (ग) तत्त्वज्ञानस्य प्रज्ञायां रूपान्तरणस्य साधना तितिक्षारूपा (श्लो. १४). तितिक्षाया साधनायाः साधनसाध्यरूपे परिकल्पिते द्वे सोपाने, सुखदुःखादि-प्राकृत-प्रवृत्तिहेतूनां विमूल्यनं निर्विकारस्वीकृतिश्चापतितस्य। विमूल्यनं समत्वे रूपान्तरितं कल्पते अन्तःकरणस्य शोधनाय। अपरतं निर्विकारस्वीकृतिर्धैर्यपर्याया कल्पते आचरणस्य शुद्धिः। एवं तितिक्षाया एव भिन्नपरिवेश-कल्पित-शीलपर्याये समत्वधैर्ये । आभ्यां परिशोधिताचारान्तःकरणः तितिक्षायाः साधकोऽमृतत्वाय कल्पते – *समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पत* इति

एकक विमर्श :

यह विचार एकक आत्मशाश्वतवाद को केन्द्र में रखते हुए आत्मचेतना के प्रामाणिक शील अर्थात् पण्डिताचार में रूपान्तरण की प्रक्रिया का निदर्शन कराता है. इस क्रम में यह तत्त्वानुशीलन से प्राप्त सनातनमूल्यों की पहचान करते हुए उन पर आधारित सनातनधर्म के स्वरूप को रेखांकित करता है. सैद्धान्तिक दृष्टि से यह इस एकक की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है.

एकक के चार विभाग हैं : (क) आत्मा नित्य है, इस मूल स्थापना की प्रस्तुति(श्लो. १२). (ख) आत्मा की नित्यता से देहात्मविवेक की तथा देहात्मविवेक से मृत्यु की उपस्थिति में निर्विकारभाव की सिद्धि(श्लो. १३). यहां **'धीरस्तत्र न मुह्यति'** यह तत्त्वदर्शन से प्राप्त पहला मूल्य विमर्श है.

(ग) यह निर्विकारभाव आत्मविवेक का प्रामाणिक व्यवहार है. यह व्यवहार आत्मविवेक से साक्षात् प्राप्त नहीं होता. इसमें परिकल्पित है आत्मविवेक के शील में रूपान्तरण की सम्पूर्ण साधना. आत्मविवेक से देहेन्द्रियसंघात की निस्सरता, उसकी निस्सरता से उससे प्राप्त संयोगों की, संयोगजन्य सुखदुःखादि मूल्यों की निस्सारता — इस द्विधा विवेक के मनन से जिस शील का आविर्भाव होता है वह है तितिक्षा. आभ्यन्तर और बाह्य विषयों में व्यवहारभेद से तितिक्षा ही समभाव और धैर्य के मूल्यों में रूपान्तरित होती है. धैर्यपर्यन्त इस साधना के पूरा होने पर ही

हम कह सकते हैं : ***धीरस्तत्र न मुह्यति*** (श्लो.१४). (घ) उक्त क्रम से प्राप्त आचरण ही परम श्रेय की सिद्धि का पथ है (**सोऽमृतत्वाय कल्पते**), अतः प्रामाणिक धर्माचरण है; तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठित यथोक्त मूल्यसंग्रह ही सनातन धर्म है, यह फलितार्थ हुआ.

निकट से देखें तो यह अर्थराशि श्लोक ११ में दिए गए सूत्र की ही व्याख्या है. श्लोकों की व्याख्या के क्रम में यह बात स्पष्ट हो जाएगी.

१. आस्था के सनातन मूल्यों का अनुसंधान :

सनातनमूल्यों का अनुसंधान तथा इस प्रक्रिया के द्वारा सनातन धर्म के स्वरूप की प्रतिपत्ति, व्याख्येय एकक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है. सनातन धर्म की चर्चा बहुत होती है. मानक वाच्यार्थ के अभाव में, विद्वान् इस शब्द को सुविधाजनक अर्थ देते रहे हैं. महाभारत की यह शैली है कि वह किसी मूल्य के सार्वभौमिक स्वरूप को रेखांकित करने के लिए *'एष धर्मो सनातनः'* कह कर उसे मान्यता देती है. इस प्रकार, महाभारत के अनुसार, '**सनातनधर्म**' संज्ञा क्रमशः सार्वभौमिकमूल्य, मूल्यसंग्रह तथा इस संग्रह में प्रतिष्ठित आस्था का नाम बन जाता है. सवाल यह है कि इन मूल्यों में ऐसा क्या है कि उन्हें 'सनातनधर्म' बनाता है. वह क्या है जो कतिपय मूल्यों को सनातन धर्म की पहचान देता है. इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता. स्पष्टीकरण मिलता है व्याख्येय एकक में जो सनातन आस्थामूल्यों के संग्रह की प्रक्रिया को रेखांकित करता है.

जैसा कि कहा जा चुका है, यह एकक ग्यारहवें श्लोक के सूत्रवाक्य ***'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'*** की व्याख्या है. यह वाक्य तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठित व्यक्ति के व्यवहार का निदर्शन है. यह व्यवहार, अपनी उपपत्ति के लिए कुछ शील-विशेषों को परिकल्पित करता है. .इस शीलसम्पदा की विशेषता यह है, कि यह किसी धर्मविधान(शास्त्र)से नहीं, साक्षात् तत्त्वज्ञान से प्राप्त होती है. यह शील सम्पदा विहिताचार को नहीं, पण्डिताचार को जन्म देती है.

सामान्यतया 'वस्तु'(fact) और 'मूल्य'(value) के अन्तर को आत्यन्तिक माना जाता है. 'वस्तु' ज्ञान की, जबकि मूल्य कर्म की प्रामाणिकता का आधार है. इनके अनुशासन भी अलग अलग हैं. 'वस्तु' का ज्ञान तत्त्वदर्शन अथवा विज्ञान से होता है, जबकि शुभाशुभ मूल्यों के ज्ञान का, कर्तव्य-अकर्तव्य के ज्ञान का स्रोत हैं आप्तवचन(धर्मशास्त्र).

इस द्वैत को नकारते हुए, जब आत्मा का ज्ञान, सम्यक् बोध के साथ सम्यक् आचरण को भी जन्म देता है, तब उस आचरण में परिलक्षित शीलसम्पदा (मूल्य) का स्रोत तत्त्वज्ञान होता है, विधि नहीं. साक्षात् तत्त्वज्ञान से प्राप्त होने के कारण ही ये शील(मूल्य) सनातन कहलाते हैं और इनका समवाय सनातनधर्म. यहां जिन्हें चर्चा के लिए चुना गया है वे मूल्य हैं, धैर्य, तितिक्षा, और समभाव. एकक के चार श्लोक आत्मा के तत्त्वज्ञान से इन मूल्यों की प्राप्ति के क्रम को दिखाते हुए, इनके सनातन स्वरूप को रेखांकित करते हैं.

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२।

ऐसा कभी नहीं था कि मैं कदाचित् पहले न रहा होऊं या तुम अथवा ये राजा लोग न रहे हों, अथवा इस युद्ध की धटना के बाद हम आगे होंगे नहीं .

२. आत्मा की नित्यता : '*नत्वेवाहं जातु नासं...*' :

२.१. शास्त्रीय निर्वचन : यह श्लोक आत्मा के नित्य स्वरूप को मूल स्थापना के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके अर्थ को स्पष्ट करता है. नित्य का अर्थ है ऐसी वस्तु जिसकी सत्ता सदा बनी रहे; किसी भी काल में जिसकी सत्ता का अभाव न हो. किसी वस्तु का जन्म होने का अर्थ है कि अतीत में जो उसका अभाव, उसका विनाश. जन्म के पूर्व वस्तु के इस अभाव को पारिभाषिक भाषा में प्रागभाव कहते हैं. जो नित्य और अजन्मा है वह इस प्रागभाव का विषय नहीं हो सकता. लेकिन नित्य की अवधारणा में अतीत के ही नहीं भविष्य के अभाव का भी निषेध बैठा है. भविष्यत्कालीन यह अभाव वस्तु की वर्तमान सत्ता के नष्ट होने से प्राप्त होता है. पारिभाषिक शब्दावली में इसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं. जो नित्य है उसका विनाश नहीं होता, वह प्रध्वंस का अप्रतियोगी होता है, यह अर्थ भी नित्य के लक्षण में निविष्ट है. इस प्रकार '*प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वम्*' यह नित्य का शास्त्रीय लक्षण उपपन्न होता है.

२.२. शास्त्रार्थ का सरल रूपान्तरण : प्रकृत श्लोक नित्यता की पाण्डित्यपूर्ण समझ का उपस्थित परिदृश्य में अभिनीत रूपान्तर प्रस्तुत करता है, भगवान् श्रीकृष्ण, स्वयं अर्जुन और युद्ध के लिए सन्नद्ध राजागण — अर्जुन के लिए युद्ध भूमि के परिदृश्य का जीवन्त संग्रह है. इनके नश्वर शरीरों में विराजमान आत्मा की सत्ता का किसी भी काल में लोप नहीं होता, यही आत्मा

की नित्यता है, उसका शाश्वत् स्वरूप. श्लोक का पूर्वार्ध, अतीत में आत्मा की सत्ता के अभाव का निराकरण करता है, इसे पारिभाषिक शब्दावली में 'प्रागभावाप्रतियोगित्व' कहा जाता है : *ऐसा कभी नहीं था कि मैं कदाचित् पहले न रहा होऊं, या तुम अथवा ये राजा लोग न रहे हों,* यह कथन आत्मा के इस प्रागभावाप्रतियोगित्व का उपस्थित परिदृश्य में अभिनीत रूपान्तर है.

श्लोक का उत्तरार्ध 'सर्वे वयमतः परम्,' इन शब्दों में ऊपर कहे चेतन परिदृश्य का संग्रह करते हुए, भविष्य में भी आत्मा के रूप में उसकी अबाधित सत्ता का आश्वासन देता है. यहां ''न चैव न भविष्यामः' इसमें दोहरा नकार प्रयोग ध्यान देने योग्य है. यहां 'न भविष्यामः' कह कर आत्मा के ध्वंसप्रतियोगित्व को परिकल्पित करता है जब कि प्रथम नकार(न चैव) इस परिकल्पित का निषेध करते हुए आत्मा के ध्वंसाप्रतियोगित्व को बताता है.

३. व्याख्येय श्लोक के बारे में कुछ ध्यान देने योग्य बातें :

३.१. विचारप्रत्यय की अभिनीत प्रस्तुति : आत्मा के नित्यस्वरूप की सिद्धि के लिए पण्डित जिस शास्त्रभाषा का प्रयोग करते हैं, विवेच्य श्लोक सामान्य जन के प्रयोजन से स्थानीय परिदृश्य में उसका अभिनीत रूपान्तर प्रस्तुत करता है. यहां विषय की गंभीरता के साथ बिना कोई समझौता किए, बिना पारिभाषिक शब्दावली में उलझे, तत्त्वदर्शन के एक महत्त्वपूर्ण विचारप्रत्यय को कुरुक्षेत्र के सन्दर्भ का एक दृश्य बना कर उपस्थित कर दिया गया है, ताकि सामान्य जन उसे आसानी से समझ सकें. गीता की शैली के इस वैभव का आकलन ऊपर कहे शास्त्रीय विवरण की पृष्ठभूमि में ही सम्भव था, अतः उसकी चर्चा की गई.

३.२. पुनर्जन्म की मान्यता का संकेत : इस श्लोक में अन्तर्निहित है, पुनर्जन्म की मान्यता. इसे स्वीकार किए बिना श्लोक का अर्थ उपपन्न नहीं होता. पुनर्जन्म हिन्दूधर्म की मौलिक मान्यता है. ईसाई इस्लामादि धर्मों में इसकी मान्यता नहीं है. तत्त्वदर्शन प्रधान गीता भाष्यों ने इस ओर ध्यान देना जरूरी नहीं समझा. किन्तु जो गीता को हिन्दू आस्था का शास्त्र मानते हैं, वे तुलनात्मक विमर्श के इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु की उपेक्षा नहीं कर सकते. यहां तथा अन्यत्र, गीता में जहां भी पुनर्जन्म की चर्चा हुई है वह साक्षात् न हो कर आक्षेपलभ्य है, यह भी ध्यान में रखने की बात है.

३.३. आत्म-विवेक की सक्रम अवधारणा :

आत्मा की सत्ता का किसी काल में लोप नहीं होता, यह मान्यता त्रिधा विवेक को जन्म देती है : (१) शरीर से आत्मा का अन्तर अर्थात् देहात्मविवेक, (२) देहाश्रित इन्द्रियसंघात एवं उनसे उत्पन्न शीतोष्णादि अनुभवों में अनात्मभाव, तथा (३) इन अनुभवों पर आधारित सुख-दुःखात्मक मूल्यव्यवस्था, तथा तदाश्रित आचारदर्शन में अनात्मबुद्धि. इस क्रम में नीचे दिया श्लोक देहात्मविवेक को रूपायित बताता है.

४. देहात्म-विवेक : आत्मविवेक का प्रथम विमर्श :

(ख) देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥

जिस प्रकार इस शरीर में रहते हुए जीवात्मा को बालपन यौवन और वृद्धावस्था प्राप्त होती हैं उसी प्रकार उसे देहान्तर की प्राप्ति होती है. धीर पुरुष इससे मोहित नहीं होते.

ऊपर दिया श्लोक दो बातें कहता है : देहात्मविवेक को और उस पर आधारित प्रज्ञा के स्वरूप को. *'देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा, तथा देहान्तरप्राप्तिः'* यह आत्मविवेक का स्वरूप है, जबकि *'धीरस्तत्र न मुह्यति'* यह प्रज्ञा है जो इस विवेक से प्राप्त होती है. इन दोनों पर और उस प्रक्रिया पर भी जिससे विवेक प्रज्ञा में रूपान्तरित होता है, यथाक्रम विचार करेंगे.

४.१. *'देहिनोऽस्मिन् यथा देहे ...'* :

उपमा के द्वारा देहात्म-विवेक का उद्भावन : *'जैसे इस देही को देह में रहते बालपन यौवन और वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है वैसे ही होती है देहान्तर की प्राप्ति'.* यह आत्मविवेक की उपमा में गुम्फित सघन प्रस्तुति है. यहां 'देह' और 'देही' इन दो शब्दों से विवेक के मूल में बैठे भेदप्रतियोगियों (आत्मा और शरीर) के स्वरूप, उनका सम्बन्ध, उस सम्बन्ध से प्राप्त प्रपंच, प्रपंच के बीच आत्मा का अविकल स्वरूप — विवेक के ये सभी पक्ष और इससे भी अधिक बहुत कुछ है जो उपमा के द्वारा कह दिया गया है.

'देही' शब्द का अर्थ है देह में रहने वाला अर्थात् आत्मा. यह संज्ञा शब्द निपुणता के साथ आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को परिभाषित करता है. आत्मा का शरीर के साथ वही सम्बन्ध होता है जो एक घर में रहने वाले (गेही) का घर (गेह) के साथ होता है. इस सम्बन्ध के बारे

में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं :

१. 'गेह' 'गेही' को उसकी पहचान देता है, उसका पता बन जाता है जिस पर डाक आती है, मेहमान आते हैं. आत्मा को उस शरीर से पहचाना जाता है, जो उसका तात्कालिक निवास है

२. देही (आत्मा) और देह(शरीर)का सम्बन्ध बाह्य है आरोपित है ठीक वैसा ही जैसा घर में रहने वाले व्यक्ति का घर के साथ होता है. एक घर में रहने वाला व्यक्ति निर्विकार रहते हुए दूसरे घर में, दूसरे से तीसरे घर में जा सकता है. शरीर और आत्मा के इस आरोपित सांयोगिक स्वरूप को ही आगे जीर्णवस्त्र और उसको धारणा करने वाले की उपमा से कहा है (वासांसि जीर्णीनि यथा विहाय...)

'देही' पद के अर्थ विश्लेषण से प्राप्त इन निष्कर्षों को ही प्रकृत श्लोक उपमा में सजा कर प्रस्तुत करता है. बाल्यावस्था, यौवन और वार्धक्य शरीर की अवस्थाएं हैं जो शरीर सम्बन्ध से आत्मा में प्राप्त होती हैं, ठीक वैसे ही जैसे घर में रहने वाले को घर के सम्बन्ध से उसकी पहचान मिलती है. 'मैं युवा हूं', 'मैं वृद्ध हूं' आदि विमर्श आत्मा में शरीर सम्बन्ध से प्राप्त संयोगों के उदाहरण हैं.

गीता इसी बात को आगे बढ़ाती है. जिस प्रकार शरीर सम्बन्ध से यौवन, जरा आदि अवस्थान्तरों की आत्मा प्राप्ति होती है, उसी प्रकार देहान्तर की प्राप्ति को भी समझना चाहिए, क्योंकि देहान्तर भी अवस्थान्तर का ही रूप है. मृत्यु के बाद नए शरीर में प्रवेश भी शरीर सम्बन्ध से प्राप्त आत्मा का एक नूतन परिचय है, एक अभिनव आरोप है, इससे अधिक कुछ नहीं.

४.२. *'तथा देहान्तरप्राप्तिः'...* :

मृत्यु और पुनर्जन्म को संकेत में कहता निरापद शब्द चयन : मृत्यु एक भयावह अपरिहार्यता है. भयावहता भी ऐसी है कि लोग मौत की सीधे सीधे चर्चा से भी घबराते हैं. मौत की घटना को कहना ही हो तो इसे एक आश्वस्त करने वाली शक्ल में पेश करते हैं. कुछ इसे 'स्वर्गवासी होना' बताते हैं, तो अन्य अपनी अपनी आस्था के अनुसार 'गोलोकधाम वासी होने' और 'लीला में प्रवेश' जैसे आलंकारिक वचनों से कहते हैं. लेकिन निरापद शब्द से मौत को कहने का चलन पुराना है. कुमारसम्भव में, रति निहायत भोले अन्दाज में महज 'अदर्शन' कह कर अपने प्रियतम

की मृत्यु का संज्ञान लेती है (प्रियमत्यन्तविलुप्तदर्शनम्). गीता तो इससे भी अधिक निरापद शब्द का प्रयोग करती है. **'देहान्तरप्राप्ति'** एक ऐसा शब्द है, जो अपने व्यवहार भर से मृत्यु को निरापद बनाते हुए, पुनर्जन्म के आश्वासन के साथ उसे प्रस्तुत करता है. मृत्यु, बालपन यौवनादि अवस्थान्तरों के ही क्रम में प्राप्त जन्मान्तर का नाम है, इन्हीं की भांति सहज और निरापद, यह बात शब्दचयन से ही स्पष्ट है.

उपमा की विशेषता यह है कि वह एक निर्णायक संकेत तो देती है किन्तु उसमें अन्त तक कुछ ऐसा छूट जाता है जो निर्णय को निर्णायक नहीं बनने देता. बालपन, यौवन और वार्धक्य के बीच आश्वस्त करने वाले अविकल तादात्म्य का आधार होता है अविकल स्मृति. यह आश्वस्त करने वाला स्मृति का तारतम्य देहान्तरप्राप्ति में उपलब्ध नहीं होता. पूर्वजन्म की स्मृति के अभाव में, 'जो मैं पिछले शरीर में था वही मैं इस नए शरीर मैं हूं', ऐसा तादात्म्यविमर्श देहान्तर में सम्भव नहीं होता. इसके लिए पुनर्जन्म के परिकल्प को स्वतंत्र प्रमाणों से स्थापित करने की जरूरत बनी रहती है. यहां इतना ही कहा जा सकता है कि नित्य रूप में परिकल्पित आत्मा का स्वरूप मृत्यु के विरुद्ध, जहां मृत्यु प्राप्त है वहां जन्मान्तर के रूप में सातत्य का अविकल आश्वासन है. यह आश्वासन ही उपमा से कहे निष्कर्ष को निर्णायक बनाता है.

४.३. विवेक का प्रज्ञा में रूपान्तरण (धीरस्तत्र न मुह्यति) : मृत्यु तभी विचलित करने वाली भयावहता ग्रहण करती है जब वह अस्तित्व के आत्यन्तिक अवसान के रूप में सामने आती है. किन्तु यदि मृत्यु केवल शरीरान्तरण है और उसी प्रकार निरापद है जिस प्रकार शरीर में बालपन, यौवनादि के अवस्थान्तरण, तब तो उससे भयभीत होने वाली कोई बात नहीं हो सकती. इस समझ के साथ जो मृत्यु का सामना करता है, वह उससे विचलित नहीं होता. यह अविचलभाव ही प्रज्ञा है जो देहात्म-विवेक से प्राप्त होती है.

५. मन और इन्द्रियसंघात से आत्मा का पार्थक्य :

ज्ञान स्वतः शील में रूपान्तरित नहीं होता. आत्मविवेक का प्रज्ञा में रूपान्तरण एक लम्बी साधना को परिकल्पित करता है. यह साधना विवेक के क्रमिक सोपानों का अनुसरण करती है. शरीरात्म-विवेक की चर्चा के बाद, विवेक की सूक्ष्मतर कोटि को कहने के लिए

अग्रिम श्लोक प्रवृत्त होता है :

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यांस्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

इन्द्रिय और उनके विषय तो सर्दी गर्मी और सुख दुःख के एहसासों को देनेवाले हैं. ये उत्पन्न होने वाले, विनाशशील और अनित्य हैं. हे भरतवंशी अर्जुन! तू उन्हें सहन कर.

५.१. आत्मविवेक का दूसरा विमर्श : उसके नैतिक पर्याय : आत्मा इन्द्रिय-मनसंघात से भिन्न है, यह आत्मविवेक का दूसरा चरण है. अनात्म में आत्मभाव की प्रसक्ति से, शरीर से लेकर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, और अहंकार पर्यन्त, व्यक्तित्व के सूक्ष्मतर होते अनात्म स्तरों का निर्माण होता है. बाह्य जगत से उनका संसर्ग ज्ञान और आचरण के लौकिक पर्यायों को जन्म देता है. इन्द्रियां इस संसर्ग का मुख्य साधन हैं. उनके द्वारा उपलब्ध कराया निर्विकल्प इन्द्रियवित्त, निश्चय की प्रक्रिया से गुजरते हुए क्रमशः शीतोष्णादि विषयों के ज्ञान तथा उनमें सुखदुःखादि के प्राकृत मूल्यविनिश्चयों को जन्म देता है. *'शीतोष्ण'* और *'सुखदुःख'* इन दो शब्द-द्वन्द्वों का प्रयोग इन्द्रियवित्त पर निर्मित आनुभविक और नैतिक पर्यायों को दिखाने के लिए किया गया है. *मात्रास्पर्श* शब्द का अर्थ यहां इन्द्रिय और विषय का संसर्ग नहीं अपितु उस संसर्ग से प्राप्त निर्विकल्प इन्द्रियवित्त है, जिसको आधार बना कर ज्ञान के वस्तुनिष्ठ और आचारनिष्ठ विकल्पों का सृजन होता है. ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा के इस प्राथमिक उपादान पर थोड़ा निकट से विचार करने की जरूरत है.

५.२. 'मात्रास्पर्श' पद का अर्थ : आचार्य शङ्कर ने *'मात्रा'* पद का अर्थ 'इन्द्रियां' तथा *'स्पर्श'* का अर्थ विषय किया है. इस प्रकार ***मात्रास्पर्शाः*** पद का अर्थ हुआ इन्द्रियार्थ संयोग.(**मात्रा आभिर्मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि। मात्राणां स्पर्शाः मात्रास्पर्शाः शब्दादिभिः संयोगाः**). अन्य विद्वान् मात्रा का अर्थ विषय तथा स्पर्श का अर्थ संयोग करते है. (**मीयन्त इति मात्रा विषयाः, तेषां स्पर्शाःसम्बन्धाः त एव शीतोष्णसुखदुःखदाः**). दोनों ही व्याख्याएं ***मात्रास्पर्शाः*** पद के इन्द्रियार्थसंयोग अर्थ में ही पर्यवसित होती हैं.

यहां ***'स्पर्श'*** शब्द का अर्थ विचारणीय है. यह शब्द क्रिया रूप में सम्बन्ध (संयोग) को बताता जब कि संज्ञारूप में यह सम्बन्ध के कार्य अर्थात् संयोगजनित अनुभव को बताता

है. *"मैं स्पर्श करता हूं"*, और *"मुझे स्पर्श प्राप्त हुआ "*, ये प्रयोग स्पर्श पद के क्रमशः संयोग और उपलब्धि बोधक अर्थों को दर्शाते हैं. प्रकृत श्लोक में *मात्रास्पर्शाः* पद का इन्द्रियार्थसंयोग अर्थ करने के लिए सम्बन्ध और सम्बन्धी दोनों की कल्पना करनी पड़ेगी. अतः इस गौरवदोष के कारण यह अर्थ स्वीकार्य नहीं हो सकता. अतः इन्द्रियवित्त रूप में विषय की उपलब्धि, ज्ञान की प्रक्रिया के लिए वेदना रूप में विषय का संग्रह, यह अर्थ ही *मात्रास्पर्शाः* इस पद का स्वीकार्य अर्थ हो सकता है.

आचार्य शङ्कर ने मात्रा पद की जो व्युत्पत्ति दी है उससे प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया को सहज समझा जा सकता है. उनके अनुसार '*मात्रा*' पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार है : *मात्रा आभिर्मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि*, जिनके द्वारा शब्दादि विषयों को नापा जाता है, अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियां. ये इन्द्रियां अपने स्वभाव और सामर्थ्य के पैमाने में ही विषय का संग्रह करती है, अतः उन्हें विषयों का पैमाना कहा गया है, सो ठीक ही है. विषय की यह पैमाइश दो रूपों में प्राप्त होती है : विषय का वेदना रूप में संग्रह तथा उस संग्रह का 'कुछ है' ऐसा निर्विकल्प निर्धारण. शीतोष्ण और सुखदुःखादि विकल्पों की सिद्धि अभी भी दूर है.

५.३. '*मात्रास्पर्श*' एक ध्यान देने योग्य पारिभाषिक शब्द : यह एक सामान्य भ्रान्ति है कि इन्द्रियां विषय का यथावत् एवं अव्यवहित प्रकाशन करती हैं. वास्तविकता यह है कि इन्द्रियां विषय से संसर्ग करके उसकी वेदना का अपने में संग्रह करती हैं. भारतीय दर्शन में साम्प्रदायिकों ने अपनी अपनी प्रतिबद्धताओं के अनुसार इसे 'निर्विकल्प-प्रत्यक्ष', 'स्वलक्षण' आदि नाम दिए हैं. पाश्चात्य विचारकों ने इसके लिए सैंन्सडेटा (*sense data*) शब्द का प्रयोग किया है जो वस्तुस्थिति के अधिक निकट है. हमने स्वयं इसके लिए 'इन्द्रियवित्त' शब्द का प्रयोग किया है. प्राचीन वाङ्मय में इसके लिए कोई उपयुक्त शब्द हो सकता है तो वह है गीता का *मात्रास्पर्श.*

शब्द जो भी हो, कथ्य केवल इतना ही है कि इन्द्रियां घट वस्तु को 'यह घट है' इस स्फुट आकार में ग्रहण नहीं करतीं, वे केवल प्राथमिक उपादानभूत वेदना का संग्रह करती हैं. जहां तक इन्द्रियार्थ संयोग की बात है, वह इस सामग्री (इन्द्रियवित्त) को उत्पन्न करके उपरत हो जाता है. इन्द्रियार्थ संयोग से प्राप्त ज्ञान की यह प्राथमिक उपादान सामग्री ही गीता के ***मात्रास्पर्श*** शब्द का वाच्य है.

५.४. इन्द्रियवित्त का ज्ञान में, ज्ञान का शील में रूपान्तरण : यथोक्त इन्द्रियवित्त में, निर्विकल्प से सविकल्प की दिशा में निर्धारण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ होती है वह क्रमशः इन्द्रिय, मन और बुद्धि के सोपानों पर निश्चय की प्रक्रिया से गुजरती शीतोष्णादि विषयों के ज्ञान कल्पों को जन्म देती है. पुनः शीतोष्णादि विषय, कुछ अन्य उपाधियों से जुड़ कर, मन की संस्काराहित चेतना में अनुकूल या प्रतिकूल निर्धारण को ग्रहण करते हैं. शरीर के साथ संवाद और विसंवाद वस्तुओं में क्रमशः सुख और दुःख के मूल्यों का आधान करते हैं. यथा – शीतकाल में शरीर की आवश्यकता के अनुसार उष्ण स्पर्श में सुखबुद्धि और शीतल स्पर्श में दुःखबुद्धि बनती है. ये सुख और दुःख जैविक मूल्य हैं, जो प्राणिमात्र के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति हेतु उपलब्ध कराते हैं. इस प्रकार स्वयं में मूल्यनिरपेक्ष शीतोष्णादि विषय, शरीर-सम्बन्ध से हेयोपादेय अर्थों को ग्रहण करते हैं.

६. 'तांस्तितिक्षस्व भारत' :

६.१. आत्मविवेक से प्राप्त प्राथमिक मूल्यबोध : ऊपर दिए विश्लेषण से स्पष्ट है कि हेयोपादेय मूल्य वस्तुओं के स्वरूपनिष्ठ धर्म नहीं हैं. वे अनेकानेक संयोगों से उपकृत, अतः स्वयं अपने बारे में अनिश्चित शरीर सम्बन्ध से वस्तुओं में प्राप्त होते हैं. संयोगजन्य, अतर्कित, आगमापायी अतः अतात्त्विक होने से, ये सुखदुःखादि प्राकृत मूल्य संग्रह के योग्य नहीं हैं. अतः '***उन्हें तू बर्दाश्त कर*** यह नैतिक परामर्श उपर्युक्त विश्लेषण का अपरिहार्य निष्कर्ष है. किन्तु यह निष्कर्ष विशेष विवरण की अपेक्षा रखता है.

६.२. ज्ञान के मूल्य में रूपान्तरण की प्रक्रिया :

व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो ***मात्रास्पर्श*** शब्द व्यक्ति के उसके परिवेश के साथ अनुक्षण प्राप्त और नष्ट होते संयोगों से उत्पन्न वेदनासंतानों को बताता है. मनुष्य अपने निरन्तर गतिशील परिवेश के साथ संयोग और वियोग को झेलता रहता है. उनसे उत्पन्न, सुख और दुःख के जैविक मूल्यों में रूपान्तरित होती वेदना सन्तति आजीवन मनुष्य के उद्यमों को नियंत्रित करती है, उन्हें दिशा देती है. यही जीवन व्यापार है. प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका प्रारब्ध ही उसका परिवेश होता है; यह परिवेश व्यक्ति के लिए उन संयोगों को उपलब्ध कराता है, जो वेदना उपादानों को जन्म देते हुए सुखदुःखादि अर्थों के जनक कहे जा सकते हैं.

प्रारब्धोपात्त इन संयोगों पर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता. इनके चुनाव की कोई स्वतंत्रता उसे नहीं होती. जैसे आसमान से गिरते ओले और पानी के संयोग किसान के बस में नहीं होते, सुखदुःखादि के संयोग मनुष्य के अधिकार के बाहर की बात है. आगे गीता में इसी तथ्य को *'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'* कह कर सूत्रबद्ध किया है. जिस पर अधिकार नहीं, जिसका आगमन और बिछोह व्यक्ति के उद्यम के आधीन नहीं, उस आपतित को सहज स्वीकार कर लेना चाहिए यह प्रज्ञा अनुभव के नियतिवादी विश्लेषण की सहज उपपत्ति है. आपतित की निर्विकार स्वीकृति का ही नाम है तितिक्षा.

६.३. नैतिक मूल्य रूप में तितिक्षा का आकलन : यतः मानव का समस्त व्यवहार सुख के संग्रह और दुःख के परिहार के लिए किए जाते प्रयत्नों का समवाय है, यह कहा जा सकता है कि तितिक्षा की मूल्यरूप में प्रतिष्ठा से लौकिक और धार्मिक समस्त व्यवहार के उच्छेद की स्थिति उत्पन्न हो सकती है. सुखदुःखादि की निर्विकार स्वीकृति को शील में मान्यता देने के बाद, कम से कम इनको निमित्त बना कर व्यक्ति के किसी प्रयत्न का कोई अर्थ नहीं रह जाता.

निकट से देखें तो इस प्रकार की शंका के लिए कोई औचित्य नहीं है. प्रयत्न आपतित से पहले होता है, जब कि तितिक्षा का विषय सिद्ध आपतित है. दोनों के दायरे अलग हैं. अतः तितिक्षा में प्रयत्न की भूमिका के निषेध के लिए कोई अवकाश हो ही नहीं सकता. बिना प्रयत्न के अथवा यथाशक्ति प्रयत्न कर लेने के बाद, फलरूप कुछ अर्थों का संयोग अपरिहार्य है. वे प्रिय (सुख) अथवा अप्रिय (दुःख) रूप में ही आएंगे, यह भी निश्चित है. इस अपरिहार्य आपतित की सहज स्वीकृति ही तितिक्षा है. यह मन का शील है जिसका मूल्य, और तत्त्वदर्शन से प्राप्त होने के कारण जिसकी प्रामाणिकता, दोनों ही निरपवाद हैं.

७. मूल्य विमर्श के धरातल : तात्त्विक और लौकिक : यहां ध्यान देने की बात यह है कि गीता में तितिक्षा का शील किसी शास्त्र विधान से नहीं अपितु तत्त्वदर्शन से प्राप्त है. तत्त्वदर्शन से तात्पर्य यहां व्यक्तित्व दर्शन है. आध्यात्मदर्शन में व्यक्तित्व के दो धरातल माने गए हैं, तात्त्विक और व्यावहारिक. आत्मा व्यक्तित्व का तात्त्विक, स्वसंवेदी, निरवयव आधार है जब कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार के क्रमशः सूक्ष्म होते परिवेशसंवादी करणोपकरणों का संघात, व्यक्तित्व की प्रतीयमान, व्यावहारिक सतह का निर्माण करता है. आत्मा पर आरोपित, यह व्यक्तित्व का अनात्मरूप है, जो अपने अधिष्ठान (आत्मा) से एकात्मक अर्थ (आत्मविमर्श) को प्राप्त करता है.

७.१. तितिक्षा का सम्पूर्ण अर्थ :

आपतित का विमूल्यन और स्वीकृति : लोकव्यवहार और उसकी मूल्यव्यवस्था अनात्मनिष्ठ है. इस बात को ध्यान में रखते हुए, आत्मज्ञान निरूपित मूल्यानुसंधान की दिशा में पहला कदम है, व्यवहारजगत् के सुखदुःखादि निसर्ग प्रवृत्ति हेतुओं में मूल्यबुद्धि का निषेध. जब तक व्यवहार जगत् की सत्ता है, सुखदुःखादि अर्थ भी वास्तविक हैं. उनकी प्रवृत्ति हेतुता भी वास्तविक है, उतनी ही जितना व्यवहार जगत्. अतः वस्तुरूप में इनका अथवा इनके व्यवहार का उच्छेद न तो सम्भव है और न ही अभीष्ट. *गीता वस्तुरूप में नहीं, मूल्यरूप में सुखदुःखादि का निषेध करती है.* सुखादि के स्वरूप का विश्लेषण करें तो उसमें इन्द्रियार्थ संयोग, संयोग से इन्द्रियवित्त, इन्द्रियवित्त से जो विषय की संरचना प्राप्त होती है, उसकी वेदना में, व्यक्तित्व-संघात के साथ संवाद और विसंवाद के अनुसार, सुख या दुःख रूप में निर्धारण प्राप्त होता है. इस प्रकार निर्धारित सुख या दुःख में, 'यह सुख पाने योग्य हैं इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए', 'यह दुःख हेय है, इससे बचने का उपाय ढूंडना चाहिए', ऐसा मूल्य-विनिश्चय प्राप्त होता है. इस प्राकृत-मूल्यविनिश्चय के निराकरण की साधना की प्राथमिक उपलब्धि है तितिक्षा

गीता सुखदुःखादि के विमूल्यन के लिए दो आधार प्रस्तुत करती है : ये सुखदुःखादि आगमापायी अर्थात् आने और जाने वाले हैं, तथा यह कि ये अनित्य है; प्रारब्धाधीन नियति प्रवाह के ये संयोग स्वरूपतः संग्रह के अयोग्य हैं, अतः पुरुषार्थ के भी. इन्हें सिर्फ स्वीकार ही किया जा सकता है. आपतित की निर्विकार स्वीकृति, यह तितिक्षा की साधना का फलितार्थ है. ***'तांस्तितिक्षस्व भारत'*** का अर्थ यह नहीं है कि 'इन्हें बर्दाश्त कर', बल्कि इसका अर्थ है 'आपतित को सहज स्वीकार कर', कारण कि आपतित बर्दाश्त करने का कोई विकल्प नहीं देता, अतः 'इन्हें 'बर्दाश्त कर' इस परामर्श का कोई अर्थ नहीं रह जाता. विकल्प केवल इस बात को ले कर हो सकता है कि हम आपतित को बर्दाश्त किस तरह करते हैं. आपतित की सहज स्वीकृति प्राकृत-प्रवृत्तिनिमित्तों के (सुखदुःखादि के) विमूल्यन के बिना सम्भव नहीं है. इस प्रकार साध्य साधन रूप में प्राप्त आपतित की स्वीकृति और विमूल्यन, तितिक्षा का सम्पूर्ण अर्थ है.

७.२. अमृतत्व के द्वार खोलती तितिक्षा की साधना :

जो संयोग जन्य हैं, आगमापायी और अनित्य हैं, जिनमें सुखदुःखादिमूल्यविनिश्चय पुनः अतिरिक्त संयोग की अपेक्षा रखते हैं, ऐसी अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाएं, कभी भी पुरुषार्थ का

विषय (मूल्य) नहीं हो सकतीं. ये प्रारब्धाधीन, नियति प्रवाह के संयोग, संग्रह के अयोग्य और पुरुषार्थ से परे हैं. इनके इस अनात्म स्वरूप को समझते हुए इनका विमूल्यन, इनको मूल्य से रीता करके देखना, जिस नैतिक आध्यात्मिक मूल्य को जन्म देता है उसका नाम है तितिक्षा. वेदनाओं में सुखदुःखादि मूल्याभास मन को निरंतर उद्वेलित करते रहते हैं, और उसे अनेक प्रकार के संकल्पों में उलझाए रहते हैं. इस कारण से मन, मूल्य के शाश्वत उत्स, व्यक्तित्त्व के तात्त्विक आधार की ओर उन्मुख नहीं हो पाता. इन संयोगों का विमूल्यन करके, मन को समभाव और धैर्य में दीक्षित करती तितिक्षा व्यक्ति के लिए अमृतत्व के द्वार खोलती है :

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! सुखदुःख में समभाव रखने वाले जिस धीर पुरुष को ये (इन्द्रियों के विषय) व्याकुल नहीं कर सकते, वह अमृतत्व का अधिकारी होता है.

८. 'यं हि न व्यथयन्त्येते...'

८.१. तितिक्षा के द्विधा व्यवसाय : समभाव और धैर्य : *समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्त्वाय कल्पते,* इस पंक्ति में अमृतत्त्व के अधिकारी के लिए *'धीरम्'* तथा *'समदु:खसुखम्'* इन दो विशेषणों का प्रयोग हुआ है. ये भिन्न परिवेशों में पल्लवित, भिन्न प्रयोजनों को सम्बोधित तितिक्षा के ही शील पर्याय हैं.

लौकिक प्रवृत्ति-हेतुओं में (सुखदुःखादि में) मूल्यबुद्धि का निषेध, परिपक्व होकर समत्व के शील में परिणत होता है, जब कि आपतित की निर्विकार स्वीकृति का अभ्यास 'धैर्य' बन कर प्रतिष्ठित होता है. समत्व से अन्तःकरण की शुद्धि होती है तो धैर्य से आचरण की. इस दोहरी शीलसम्पदा से सम्पन्न, तितिक्षा का साधक, जिसका अन्तःकरण और आचरण यथोक्त साधना के द्वारा शुद्ध हो चुके हैं, अनित्य एवं आगमापायी लौकिक-मूल्यों के संसार का अतिक्रमण करके आत्मसाक्षात्कार की पूर्णता में जीवन के शश्वद् परमार्थ (अमृतत्व) का अधिकारी बनता है, यह श्लोक का विशदार्थ है.

यह कहा जा सकता है कि तितिक्षा अपने आप में आत्मसाक्षात्कार का सम्पूर्ण कारण नहीं है. श्रवण, मनन निदिध्यासनादि अन्य साधनों की सहायता से ही शुद्धान्तःकरण में

आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि होती है. इस साम्प्रदायिक पक्ष को स्वीकार करने पर भी आचरण और अन्तःकरण के परिशोधन की साधना के रूप में तितिक्षा की हैसियत निरपवाद है. जहां तक गीता की बात है, शुद्धान्तःकरण स्वयं में आत्मसाक्षात्कार का समग्र एवं पर्याप्त आधार है. " *जिसे ये व्यथित नहीं करते, सुखदुःख में समभाव को प्राप्त वह अमृतत्व को प्राप्त करता है*" — श्लोक की इस वाक्य रचना से स्पष्ट है कि तितिक्षा अमृतत्व की सिद्धि में पूर्ण एवं निरुपाधिक कारण है.

८.२. अमृतत्त्व की साधना : तितिक्षा को सामान्यतया कष्टसहिष्णुता के अर्थ में लिया जाता है. यह इस शब्द का आधा अधूरा अर्थ है. गीता में यह तत्त्वानुशीलन के शील में रूपान्तरण की एक समग्र साधना का नाम है. यह साधना सुख दुःखादि लौकिक मूल्यों के अतात्त्विक, आगमापायी स्वरूप के मनन के साथ प्रारम्भ होती है. इस मनन से क्रमशः सुखदुखादि में मूल्यबुद्धि का अपलाप, तितिक्षा की प्राप्ति, मन और आचरण में तितिक्षा के व्यवसाय से क्रमशः *समभाव* और *धैर्य* के शीलपर्यायों का आविर्भाव होता है.

समभाव में प्रतिष्ठित मन ही शुद्धान्तःकरण है. इस प्रकार तितिक्षा, एक ओर समत्व की साधना के द्वारा उद्वेगों का रेचन करते हुए अन्तःकरण की शुद्धि करती है, तो दूसरी ओर धैर्य में रूपान्तरित हो कर आचरण का परिष्कार. इस साधना से परिशुद्ध हुआ व्यक्तिक्षेत्र अमृतत्त्व की योग्यता अर्जित करता है. यहां अमृतत्त्व का अर्थ है आत्मभाव में अविचल प्रतिष्ठा. यही आस्था का परमार्थ है. इसकी सिद्धि के लिए, तितिक्षा के रूप में आत्मतत्त्वविवेक पर आधारित एक लम्बी साधना को परिकल्पित किया गया है. कष्टसहिष्णुता तो उसके व्यवहार का एक छोटा सा अंश मात्र है.

ऊपर दिए विवरण से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि तितिक्षा मन का शील है केवल बर्दाश्त करने की भौतिक सामर्थ्य नहीं. मन और आचरण के संस्कार से अछूती कष्ट-सहिष्णुता तितिक्षा नहीं है; वह तो तपस्या है. जहां तक आपतित को झेलने की बात है उसे तो सभी झेलते हैं. हम कैसे झेलते हैं यह महत्त्वपूर्ण है. लोकव्यवहार के प्रवृत्ति हेतुओं की अनात्मरूप में समझ, तदनुसार उनके पराधीन, सांयोगिक चरित्र के निश्चय को हेतु बनाते हुए उनमें मूल्यबुद्धि का निराकरण, मन पर उनकी पकड़ को दुर्बल करता है, या यों कहें कि मन को उनके अभिनिवेश से मुक्त करता है. तितिक्षा के द्वारा जो अविकारी भाव में दीक्षित हैं, जिनके मन व्यापक चेतना

में उन्मेष के लिए तैयार हैं, उनके लिए आत्मसाक्षात्कार उसी तरह सहज होता है जैसे भरी दोपहर में सामने उपस्थित वस्तु को देखने के लिए सिर्फ आंख खोलने भर की जरूरत पड़ती है.

संग्रह और उपसंहार :

ऊपर धैर्य, तितिक्षा, और समभाव के रूप में जिस शीलसम्पदा की चर्चा हुई है वह किसी शास्त्रविधान से नहीं, साक्षात् आत्मा के तत्त्वदर्शन से प्राप्त है. यह इसका महत्त्वपूर्ण पक्ष है, जो इसे सनातनधर्म की हैसियत देता है. सनातनधर्म की कोटि में जो मूल्य आते हैं वे निगमन नहीं, तत्त्वज्ञान के भावपर्याय हैं. गीता इनमें से केवल कुछ की चर्चा करके उनके सनातन भावार्थ का निदर्शन कराती है.

यथोक्त शीलसम्पदा (धैर्य, तितिक्षा, समभाव), समस्त धर्मविधानों का सनातन पूर्वकल्प है. विभिन्न देश और काल के पर्यायों में सनातन मूल्यों का विनियोग विभिन्न धर्मविग्रहों को जन्म देता है, जिनमें हिन्दूधर्म भी एक है. हिन्दूधर्म में अन्य धर्मविग्रहों से कुछ विशेष है तो सिर्फ इतना कि हिन्दूधर्म इस विवेक में दीक्षित होकर विनम्र हुआ है. वह अपने 'आखिरी' होने का, दुनियां का एकमात्र प्रामाणिक धर्मविग्रह होने का भरम नहीं पालता. अपनी सार्वभौमिक प्रतिष्ठा के लिए वह कोई जिहाद भी नहीं करता, क्योंकि वह अपने से आगे की मंजिल को भलीभांति जानता है.

■ ■ ■

तृतीय एकक :

(तत्त्व की द्वन्द्वात्मक अवधारणा : आत्मा के तत्त्वदर्शन
से युद्ध युद्धकर्तव्य का निगमन)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥

असत् की सत्ता नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता. इन दोनों की ही परिणति को तत्त्वज्ञानियों द्वारा देखा गया है(१६). उसको तू अविनाशी जान जिसके द्वारा यह सब व्याप्त है. इस अव्यय का विनाश कोई भी नहीं कर सकता (१७). इस अविनाशी, अप्रमेय, नित्य जीवात्मा के ये शरीर अन्तवाले कहे हैं. इसलिए हे भरतवंशी! तू युद्ध कर(१८).

श्लोकत्रयात्मकैककस्य प्रथमः श्लोकः निरूपयति गीतायाः औत्पत्तिकीं तत्त्वदृष्टिं सदसद्भाव-त्रिपुटिकल्पिताम्। अनुपदौ द्वौ श्लोकौ प्रस्तुवतः अस्याः प्रतिपत्ती क्रमशः वस्तुभूतां, नैतिकविनियोगरूपाञ्च। 'तस्माद्युध्यस्व भारत' इत्यैककनिष्कर्षो हि गीताव्याख्याकराणां सततासमंजसहेतुः आचारमीमांसायाः गभीरप्रश्नानुषंगिकत्वात्।

१. अपि गीतायाः तत्त्वदर्शनं तदेव यत् साम्प्रदायिकाः तस्यां दर्शयन्ति अथवा वर्तते गीतायाः कापि स्वीया तत्त्वदृष्टिरनन्तर्भावनीया, इत्येको रुचिकरगवेषणाविषयो भवितुमर्हति. विवेच्यैककस्य

प्रथमः श्लोकोऽवतारयति गीतायाः मौलिकतत्त्वदृष्टिम्. 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यस्मिन्नाधारभूतसूत्रे प्रयुक्ताः त्रयः पारिभाषिकशब्दाः, सदसद्भावे'ति तात्त्विककोटि-संज्ञकाः। अत्र 'अभाव' इत्यस्य नास्ति तात्त्विककोट्यर्हता, भावस्यैव निषेधपर्यायत्वात्तस्य। यथा *अभावः* भावस्यनिषेधपर्यायः न तथा असत् सतः, भावनिषेधयोः भावमूलत्वात्, भिन्नतात्त्विककोट्योः सदसतोः ताभ्यामनुपपत्तिः।

तत्त्वस्यैका द्वन्द्वात्मकावधारणा प्रस्तुता वर्ततेऽत्र । सदसदिति द्वे आधारभूते कोटी तत्त्वस्यान- न्तरभावनीये । अनयोर्मध्ये भेदविनिगमका हि आत्मविमर्शयोग्यता । विमर्शयोग्यता सम्पन्नो हि सत्, चेतनस्वरूपत्वात्। तद्भिन्नं, असद्धि विमर्शशून्यं, अचेतनत्वात् आत्मनिरीक्षणयोग्यता- विरहितम् । विमर्शात्सत्स्वरूपे आविर्भवत्यस्तित्वं भावरूपम्. अस्तित्वं नाम सतः देशकाला- वच्छिन्ना व्यक्तिः।

१.१ आत्मविमर्शस्य योग्यताभावात् 'असत्' नैव भवितुं शक्नोति सर्जनस्याधारः। सदेव सृष्टेः प्रभवः,विमर्शयोग्यतायुक्तत्वात्। योग्यता युक्तेऽपि सति (सत्स्वरूपे) स्वत एव न प्रवर्तते विमर्शः, निमित्तसाकांक्षत्वात्तस्य । योग्यतातिरिक्तं विमर्शनिमित्ततापि सत्स्वरूपे कल्प्यते चेत्तर्हि सतमात्मसात् कुर्वन्त्यनवस्था तस्योच्छेद एव पर्यवस्यति। अतो विमर्शनिमित्तस्य स्थापना सत्स्वरूपाद् बहिरेव कर्तव्या। एतदेव तार्किकमौचित्यं सत्समनन्तरं तत्त्वस्य असत्कोटेः परिकल्पनायाः। द्वन्द्वात्मक-परिकल्पे तत्त्वस्य सदसद्रूपे द्वे कोटी; तयोः परस्परसंवादादेकायाः वैकारिककोटेश्च स्वीकृतिर्भवत्यपरिहार्या । सांख्यदर्शनस्येयं अन्तर्दृष्टिः प्रतीयते गीतातत्त्व-चिन्तनस्याधारः।

१.२ सत्यपि संरचनासाम्ये गीताचिन्तनं महत्त्वपूर्णरूपेण सांख्यचिन्तनाद् भिन्नं, वेदान्तचिन्तनादपि । गीताचिन्तनानुसारं सदेव भावसृष्टेः उपादानं निमित्तमपि, न तु सत्प्रतियोगी, यथा मन्यन्ते सांख्याः। अयं हि निहितार्थः *'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत'* इत्यस्य। चेतनात्मनोऽधिकारः सर्जनात्मकता। विमर्शशून्यः एकाकी चेतनबिन्दुरूपपुरुषः नैव भवितुं शक्यते गीतायाः सद्रूपात्मा; नापि सृष्टिः जड़प्रकृतेः कार्यम्। असन्निमित्तविमर्शरूप-सर्जनात्मकतायाः सत एव (पुरुषादेव) निरुक्तिः प्रशस्यतरा । अस्यां परिकल्पनायां न केवलं सिद्धान्तलाघवोऽपितु लाभो व्यापकसंदर्भे गरिमामयास्थालम्बनस्यापि। जड़प्रकृतेः कार्यं सृष्टिः अध्यासस्यवेत्यंगीकरणे जन्मनैव परित्यागायाभिशप्त इव जारजाता इव प्रतीयते सृष्टिः। नायं सिद्धान्त आस्थया गरिमामयमालम्बनं भवितुं शक्यते मानवस्याश्वासनाय ।

१.३. अत्र निरूपितः सदसद्वन्दः सांख्यदर्शने प्रकृतिपुरुषेति नाम्ना व्यपदिश्यते। तयोः परस्परभाव-जन्यमहदादिकार्याणि एव गीतायाः भावपदार्थः। अन्तरमेतावदेव यद् गीता भावपदार्थं सतः कार्यं मन्यमाना प्रतीयते न तु प्रकृतेः असतोऽपरपर्यायस्य । निकटतया पर्यालोचितं गीतायाः सत्कार्यवादोऽयं वास्तविकः न तु औपचारिकः। सदसतोः आधारभूतं द्वन्द्वमिदं साम्प्रदायिकैः यथासौविध्यं *ब्रह्ममाययोः, ईश्वरशक्त्योः, बिन्दुनादयोः* द्वन्द्वप्रभृतिषु अनूदितो वर्तते । न केवलं एतावद् आस्थालम्बनभूतेषु शिवशक्ति-सीताराम-राधाकृष्णादिदेवविग्रहेष्वपि अस्य सद्भावो लक्षयितुं शक्यते । श्रीमद्भगवद्गीता सदसद्भावेति नितान्तासाम्प्रदायिक-रंगहीन-शब्दावल्यां प्रस्तौति आधारभूतां द्वन्द्वात्मकतां, याऽभिव्याप्यते धर्मं, दर्शनं, उपासनापद्धतिं कलाविज्ञानौ, वस्तुतः प्रत्येकमुच्उच्छ्वासं हिन्दुधर्मस्य।

२. सदधिष्ठाने असद्विमर्शाज्जायते भावपदार्थः। भेदविशिष्टात्मबोधोऽयम्। सदसती हि द्वे तात्त्विककोटी अविकार्ये; तद्भिन्नः भावस्तु विकारी, देशकालावच्छिन्नमस्तित्वं, सदधिष्ठानाद-स्तित्ववान्, जाग्रत इव प्रतीयतेऽधिष्ठानचैतन्यात्। सदसद्वन्द्वस्य भावरूपपरिणतेः रहस्यं यः सम्यग्रूपेणावगच्छति, स एव तत्त्वदर्शी – *उभयोरपि द्रष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिरिति* ।

२.१-२. *'उभयोरपि दृष्टोऽन्त'* इत्यस्मिन् वाक्यांशे अन्तेति पदं हि परिणामवाचि। अग्रिमौ द्वौ श्लोकौ क्रमशः विवृणुतः भावरूपां नैतिकबोधरूपाञ्च परिणती द्वन्द्वात्मकतायाः। *'येनसर्वमिदंततम्'* इति भावरूपा परिणतेः स्पष्टीकरणम्। *'तस्माद्युध्यस्व भारत'* इत्यनेन निदर्श्यते नैतिक नैतिकपरिणतिः द्वन्द्वात्मकतायाः।

२.३. आत्मनः प्राप्यते द्विधा भूमिका, विमर्शानुयोगित्वेन भावप्रत्ययानामालम्बनत्वेन। तस्यैव विवरणं दीयते 'अविनाशि तु तद्विद्धी'ति श्लोके.

३. नित्य आत्मा शरीरोऽनित्यः इति द्विधा विवेकः परिणमते एकस्मिन्निरपवादे युद्धविधाने –

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अस्य श्लोकस्य कथ्यस्य द्वौ भागौ, भूतार्थविधिनिरूपकौ। *'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः, अनाशिनोऽप्रमेयस्य'* इति भूतार्थनिरूपकः प्रथमो विभागः । *'तस्माद्युध्यस्व भारत''* इत्ययं द्वितीयो विभागः।

४. सन्तीमे प्रथमविभागस्य विशेषविचारबिन्दवः : (१) आत्मनविचारसन्दर्भे 'शरीरी', 'अविनाशी'

'अप्रमेय' इति विशेषणपदानां स्पष्टीकरणम् (२) शरीर-शरीरी-सम्बन्धग्रन्थि:, अस्या: स्पष्टीकरणं निहितार्थाश्च।

५. तत्त्वज्ञानाद् विध्यर्थस्य निगमनाज्जायन्ते महत्त्वपूर्णसैद्धान्तिकप्रश्ना: यथा : (१) विध्यर्थनिरूपणे तत्त्वज्ञानस्य विनियोगस्य प्रामाणिकता, (२) किं वस्तुज्ञानं कर्तव्यज्ञानं च द्वे सर्वथा असम्बद्धानुशासने अथवा तयोर्मध्ये कल्प्य: कोऽपि उपकार्योपकारकसम्बन्ध:. यदि कल्प्यस्तर्हि कर्तव्यनिर्धारणे तत्त्वज्ञानस्य प्रमाणिकविनियोगस्य के समया:, सन्तीमे महत्त्वपूर्णविचार-बिन्दवोऽस्य प्रसंगस्य।

६. आपाततया विवेच्यश्लोक: निदर्शयति तत्त्वदर्शनस्य एकं शिथिलं अतिसरलप्रयोगं यस्मिन् मृत्युर्विजहाति स्वकीयमर्थम्। अयं युगपदेवाश्वासयति हन्यं हन्तारञ्च. यत: मृत्यो: कोऽपि तात्त्विकोऽर्थ एव नास्ति तर्हि हनने कीदृशी हिंसा, को वा पाप: ? "अविनश्वर आत्मा. तस्य वधोऽशक्य:। शरीरस्तु प्रकृत्या नश्वर एव, वधिकं विनाऽपि तस्य विनाश: निश्चित:। अतो "न कोऽपि घातित:, न कोऽपि अपराद्धो मया"। श्रीमद्भगवदगीताया: विचारसरणिमवलम्ब्य कोऽपि वधिक एवं वक्तुं शक्नोति।

७. गीतायामेतादृशानामन्यप्रयोगानामपि समीक्षार्हत्वात् प्रासंगिको भवति तेषां सर्वेक्षणम्।

८-९ प्रतीयते यद् तत्त्वदर्शनस्य विध्यर्थे विनियोगस्य अनभीष्टपरिणते: चेतना आसीदाचार्यशङ्करे. अतो तस्य स्पष्टीकरणम् – 'तस्माद्युध्यस्व भारत' इति अनुवादमात्रं न तु विधि:''। सामान्य भाषायां युद्धवैमुख्यनिराकरणे न तु युद्धविधाने तात्पर्यमस्य वाक्यस्य, पूर्वप्राप्तत्वाद्युद्धप्रवृत्ते:। अतो 'तस्माद्युध्यस्य भारत' इति वाक्यं प्राप्त युद्धस्यानुवादं कृत्वा तस्माद् वैमुख्यस्य निराकरणमात्रं करोति तत्त्वदर्शनसाहाय्येन। संक्षेपेण युद्धाद् विमुखो मा भू: एतावदेव अर्थोऽस्य वाक्यस्य, 'युद्धं कुरु' इति विध्यर्थस्य निरवकाशत्वात्।

व्युत्पन्नमपि समाधानमिदं नातिक्रामति शाब्दिकसमाधानस्य सीमितार्थवत्ताम्, 'युद्धं कुरु' युद्धाद्विमुखो मा भू:' इत्यनयोर्मध्ये न किमपि व्यावहारिकमन्तरं, युद्धप्रवृत्त्युपकारकत्वादुभयो:।

१०. चेत्तत्त्वदर्शनं अवरोधयत्यर्जुनस्य युद्धोपरतिमात्रं, नायं विशेषचिन्ताविषय:। किन्त्वस्य सर्वोपसंहारी युक्तिवाद: मानवस्य दायित्वबोधस्य तन्मूलकनैतिकबोधस्यात्यन्तिकोच्छेदनं कल्पते चिन्तनीयमिदम्। नायं दर्शयति विश्वसनीयां सम्मानार्हां भूमिकां तत्त्वदर्शनस्य.

१०.१. व्यक्त्यां यत् शाश्वतं तस्य हननमशक्यं, यदशाश्वतं तन्न कोऽपि रक्षयितुं समर्थः, इयं वाचोयुक्तिः व्यक्तेः स्वरूपस्यातिसरलीकरणम्। 'व्यक्तिः' न शाश्वतः नापि क्षणभंगुरः ; स तु एकः संघातः, अस्तित्वं किमपि स्वकीयकर्मफलभोगपार्यन्तिकम्। अस्तित्वं नाम सावधिकसत्ता जीवनं कंचित्कालिकं, यदात्मनः नैतिकतात्त्विकसम्भावनानां पूरणाय जीवनं धारयति. मृत्युर्भवति नात्मनो न च शरीरस्य। संघात एव मृत्योर्विषयः। आत्मशरीरयोर्मध्ये उभौ स्पृशतः उभाभ्यामुपकृतस्याप्लावितस्य अस्तित्वस्यैव मृत्युर्भवति. पुनः नायमात्मा अपितु अस्तित्वमेव नैतिकबोधस्य मौलिको सन्दर्भः। मूल्यानां मध्ये सर्वोपरि हि अस्तित्वरक्षामूल्यम्। अयं हि स्वकीयसम्भावना-निश्शेषावधिकास्तित्वाधिकारः यं प्रत्येकव्यक्तिः अन्यान्दत्त्वैवार्जयत्यात्मकृते। एवं परस्परास्तित्वाधिकारेण निर्माणं भवति सभ्यसमाजस्य। स्वपरसामान्यास्तित्वरक्षा हि आधारभूतं नैतिकदायित्वं, यस्योच्छेदः नैतिकव्यवस्थाश्रित- सम्पूर्णसभ्यतायाः विनाशे पर्यवसति. इयं चिन्ता एव अर्जुनस्य युद्धवैमुख्यमूलम्। तथा हि – *कुलक्षये प्रणश्यान्ति . .. .. कुलधर्माश्च शाश्वताः* (१.४०-४३)

१०.२. अस्तित्वं नत्वात्मशरीरौ अर्जुनस्य चिन्ताविषयः। कुरुक्षेत्रे युद्धाय सन्नद्धः प्रत्येकयोद्धा हि एकः सार्थकः संघातः। जीवेदसौ स्वकीयसम्भावनावधिं, अतो युद्धनिवारणाय प्रयत्नो विधेयः, इत्यर्जुनस्य चिन्तनम्. तमर्जुनं प्रति एतादृशी वाचोयुक्तिः – 'चिन्तां मा कुरु इमे योद्धारः आत्मा भूत्वा जीविष्यन्ति शरीरं भूत्वा मरिष्यन्ति नैवाश्वासनाय प्रभवति कस्यचिदपि प्रबुद्धजनस्य।

११. अस्यां परिस्थित्यां धर्मे कर्तव्यविनिश्चयरूपे तत्त्वदर्शनस्य प्रामाणिकविनियोगस्य समस्या भवत्याधारभूता समस्या सिद्धान्तचिन्तनस्य।

१२. गीता स्वीकरोति द्वौ सन्दर्भौ प्रामणिकविनियोगस्य। प्रथमो हि अवरोधनिवर्तकविनियोगः, निदर्शितः अर्जुनस्य स्वजनव्यामोहनिराकरणे। अपि च केषांचनाधारभूतमूल्यानां तितिक्षा-धैर्य-समभाव-सहिष्णुतादीनां साक्षात्प्राप्तिर्भवति आत्मतत्त्व- विवेकेनेति गीतायाः मतम्। अयं द्वितीयः सन्दर्भः प्रामाणिक विनियोगस्य।

१३. तत्त्वदर्शनस्य कुयोगं विरुद्ध्य प्रबोधस्य शास्त्ररूपेण प्रवर्तते गीताशास्त्रम्। नेदमौपनिषदिकतत्त्वचिन्तनस्यानुवादमात्रं यथा बहुशः प्रचारितं, नियमविधिरयम्, ऐकान्तिकतत्त्वदर्शनाभिनिवेशजनितविभीषिकां विरुद्ध्य या हि अभिशापो हिन्दूसमाजस्य। सन्तीमे प्रमुखाः कुयोगाः तत्त्वदर्शनस्य कर्तव्यबोधस्यापलापः, मिथ्याचारः, विपर्यस्तकर्तव्य- बुद्धिश्च।

आस्थयां तत्त्वदर्शनस्य संग्रहो हि हिन्दुधर्मस्य मौलिकं वैशिष्ट्यम् अस्य निरपवादतार्किकप्रस्थानबिन्दु:। ददातीदं हिन्दूधर्ममेकं व्यक्तित्वं व्यतिरिक्तं सामीधर्मेभ्य: ईश्वरकेन्द्रितेभ्य:। नेदं तात्पर्यमस्य यद् हिन्दूधर्मोऽनीश्वरवादी। हिन्दूनां बहुसंख्यसंप्रदाया ईश्वरवादिन एव। किन्तु हिन्दु-सम्प्रदाया: ईश्वरं तत्त्वदर्शनस्यानिवार्य- निष्कर्षरूपेण स्वीकुर्वन्ति, तत्त्वस्य पूर्णताया:, द्वन्द्वात्मकप्रक्रियाया: विश्रान्तिबिन्दुरूपेण परिकल्पन्ते परमात्मानम्। सर्वेभ्य: हिन्दुसम्प्रदायेभ्य: – ईश्वरवाद्यनीश्वरवादिभ्यो – तत्त्वदर्शनं हि प्राथमिकं प्रस्थानम्। हिन्दू-आस्थया अस्याधारभूतवैशिष्ट्यस्य स्पष्टीकरणाय प्रवर्तते सांख्यस्योपदेश: गीताया: द्वितीयेऽध्याये।

एकक विमर्श : तीन श्लोकों के इस एकक का पहला श्लोक(१६) गीतातत्त्वदर्शन के त्रिपुट्यात्मक परिकल्प को सूत्रबद्ध करता है. पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग के कारण यह गीता के अत्यन्त दुरूह स्थलों में से एक है. दूसरा श्लोक(१७) इस सूत्र की व्याख्या करता है. तीसरा श्लोक तात्कालिक परिस्थिति में आत्म-अनात्म विवेक के नैतिक विनियोग को बताता है. 'तस्माद्युध्यस्व भारत' अपने इस निर्णयवाक्य के द्वारा अर्जुन के लिए युद्ध का विधान करने वाला यह श्लोक, गीता के प्रबुद्ध पाठकों के लिए सदा से ही उलझन में डालने वाला रहा है. इससे जुड़े हैं आचारमीमांसा के अनेक प्रश्न जो गंभीर चिंतन के लिए विवश करते हैं. इन श्लोकों पर यथाक्रम विचार करते हैं.

(क) गीता का अपना तत्त्वदर्शन :

क्या गीता का तत्त्वदर्शन वही है जो सम्प्रदायिक व्याख्याकार उसमें दिखाते रहे हैं, अथवा गीता की अपनी भी कोई तत्त्वदृष्टि है, स्वतंत्र और अनन्तरभावनीया, यह गवेषणा का रुचिकर विषय हो सकता है. विवेच्य एकक का प्रथम श्लोक जिस चिन्तन का प्रवर्तन कर रहा है, उसे गीता की मौलिक तत्त्वदृष्टि कहा जा सकता है.

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:॥१६॥

असत् की सत्ता नहीं होती. और सत् का अभाव नहीं होता. तत्त्वज्ञानियों द्वारा इन दोनों की ही परिणति को देखा गया है.

१. तत्त्व की द्वन्द्वात्मक अवधारणा : *'नासतो विद्यते भावो ...* : 'सत्', 'असत्' और 'भाव' की त्रिपुटी :

यहां तीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है : सत्, असत् और भाव. भाव के निषेध का ही नाम अभाव है. अतः अभाव की गणना यहां नहीं की गई है. यह भी ध्यान देने की बात है कि जिस प्रकार भाव का निषेध अभाव है उसी प्रकार असत् सत् का निषेध नहीं है, क्योंकि भाव और अभाव भावकोटि के बुद्धिकल्प हैं, जबकि 'सत्' और 'असत्' सर्वथा भिन्न तात्त्विक कोटियां हैं, ऐसी कि जिनमें एक का निषेध दूसरी का स्वतः आक्षेप नहीं करता. ***नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'***, यह वाक्य *असत्* और *सत्* में क्रमशः भावाभाव का निषेध करता है, उनके भावाभावों का नहीं. यह विवेक महत्त्वपूर्ण है.

यहां तत्त्व की एक द्वन्द्वात्मक अवधारणा प्रस्तुत की गई है. 'सत्' और 'असत्' तत्त्व की दो आधारभूत कोटियां हैं, जिनका एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता. इनके बीच अन्तर का आधार है आत्मविमर्श की योग्यता. *असत्* में आत्म विमर्श अर्थात् अपने को देखने की सामर्थ्य नहीं होती जबकि *सत्* में ऐसे विमर्श की योग्यता होती है. यह विमर्श *सत्* में अस्तित्व को जन्म देता है. अस्तित्व से तात्पर्य है *सत्* की देश-कालावच्छिन्ना व्यक्ति. इस प्रकार गीतादर्शन, तत्त्व की तीन कोटियों को मान्यता देता है. 'सत्' और 'असत्' की दो प्राथमिक अनन्तर्भावी कोटियां तथा 'सत्' में विमर्श जनित कोटि 'भाव'.

'असत्' में आत्मविमर्श की योग्यता नहीं होती. आत्मविमर्श की योग्यता न होने से, 'असत्' की सत्ता है', ऐसा भावरूप विमर्श सम्भव नहीं है. यही निहितार्थ है ***'नासतो विद्यते भावो'*** का. भाव ही सृजन है. विमर्शशून्य होने से 'असत्' किसी भी प्रकार के सृजन का अधिष्ठान नहीं हो सकता. सृजन का अधिष्ठान सत् ही हो सकता है, क्योंकि उसमें आत्मविमर्श की योग्यता होती है. ***'नाभावो विद्यते सतः'*** यह कथन 'सत्' की विमर्शयोग्यता को, भावरूप सृजन के अनपायी आधार के रूप में सत् के स्वरूप को रेखांकित करता है. वस्तुतः सृजन और आत्मविमर्श के बीच कार्यकारण सम्बन्ध है. 'सत्' में आत्मविमर्श की योग्यता होते हुए भी, यह विमर्श स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकता. यदि विमर्शयोग्यता के अलावा विमर्श के निमित्त को भी हम सत् में ही स्थापित कर देते हैं, तो सृजन का कभी लोप होगा ही नहीं, और सृजन की यह अनवस्था सत्

को लील जाएगी, उसके स्वरूप का ही उच्छेद कर देगी. अतः 'सत्' में आत्मविमर्श के निमित्त की स्थापना सत् के बाहर सत् से भिन्न कोटि में होनी चाहिए. यह 'सत्' से अलग 'असत्' की स्वतंत्र कोटि की मान्यता का दार्शनिक औचित्य है.

१.१. सांख्य और वेदान्त से गीताचिन्तन का वैशिष्ट्य : सृष्टि की द्वन्द्वात्मक संरचना को समझने के लिए तत्त्व की दो मूल कोटियां और उनके पारस्परिक संवाद से उत्पन्न एक वैकारिक कोटि की स्वीकृति अपरिहार्य हो जाती है. सांख्य दर्शन की यह अन्तर्दृष्टि ही यहां गीता तत्त्वचिन्तन का आधार है. किन्तु गीता का चिन्तन महत्त्वपूर्ण रूप में सांख्य से अलग है, वेदान्त से भी. गीता में 'भाव', अर्थात् वैकारिक सृष्टि का अधिष्ठान सत्स्वरूप आत्मा है, जड़ प्रकृति (असत्) नहीं, जैसी कि सांख्य की मान्यता है. सर्जनात्मकता चेतनात्मा का अधिकार है, अचेतन प्रकृति का नहीं.

सांख्य और वेदान्त से गीता का मत इस मायने में भिन्न है कि गीता में आत्मा एक एकाकी, विमर्शशून्य, असत् का केवल शब्दमात्रिक प्रतियोगी नहीं है; और न ही यह सृष्टि जड़ प्रकृति का कार्य. पुरुष के सान्निध्य से जड़ प्रकृति में, या सदधिष्ठान पर मिथ्या आरोप में सर्जनात्मकता को स्थापित करने के बजाय, चेतन के विमर्श में उसे स्थापित करने में लघुता और औचित्य के यौक्तिक लाभ ही नहीं, व्यापक नैतिक एवं सैद्धान्तिक लाभ भी हैं. सृष्टि को जड़ प्रकृति, शून्य या मिथ्या आरोप से उत्पन्न मानने पर ऐसा लगता है मानो किसी बच्चे को जन्म होते ही नाजायज कह कर फेंक दिया जाए. ऐसा सिद्धान्त एक गरिमामय, आश्वस्त करने वाले दर्शन का आधार नहीं हो सकता.

१.२.सृष्टि की द्वन्द्वात्मक समझ : मौलिक हिन्दूदृष्टि : सांख्यदर्शन में 'असत्' और 'सत्' की आधारभूत कोटियों को क्रमशः 'प्रकृति' और 'पुरुष' नाम दिया है. उनके पारस्परिक विमर्श से महदादि तत्त्वों की जो वैकारिक कोटि बनती है, गीता में उसी को भाव नाम दिया है. अन्तर केवल इतना ही है कि गीता की रुझान भाव को असत् की बजाय सत् में प्रतिष्ठित करने की दिखती है. निकट से देखें तो गीता का यह 'सत्कार्यवाद' सांख्य की तुलना में अधिक वास्तविक है.

साम्प्रदायिक चिन्तन में, 'सत्' और 'असत्' के द्वन्द्व को 'ब्रह्म' और 'माया' 'ईश्वर' और उसकी 'शक्ति,' बिन्दु और नाद, शिव और शक्ति, चेतन तत्त्व और उसके विलास के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है. इतना ही नहीं, आस्था के आलम्बनों में, शिवशक्ति, लक्ष्मीनारायण

सीताराम, राधाकृष्ण आदि देवविग्रहों में भी इस द्वन्द्वात्मकता को देखा जा सकता है. किन्तु इसे कहने के लिए गीता — 'सत्' 'असत्' और 'भाव'— की जिस त्रिपुटी का प्रयोग करती है वह सांख्य के प्रकृति और पुरुष की तुलना में न केवल नितान्त रंगहीन और असाम्प्रदायिक है, अपितु कहीं बेहतर ढंग से उस आधारभूत द्वन्द्वात्मक योजना के धुरों को उजागर करती है, जो सृष्टि की हिन्दू समझ का मूल है, और जो, हिन्दू के धर्म, दर्शन, उपासनापद्धति, कलाविज्ञान, वस्तुतः उसके प्रत्येक उच्छ्वास में व्याप्त है.

२. तत्त्वदर्शी : अन्तिम परिणति पर्यन्त जो द्वन्द्वात्मकता के मर्म को देख सके : 'असत्' का सान्निध्य 'सत्' के अधिष्ठान में जिस आत्मविमर्श को जन्म देता है उसी का नाम है 'भाव'. 'सत्' और 'असत्', चिरन्तन, एवं अविकारी कोटियां हैं, जब कि 'भाव' विकारी, देशकालावच्छिन्न, अस्तित्व का नाम है जो अपने 'सत्' अधिष्ठान से अस्तित्ववान्, उसके चैतन्य से जागृत जैसा प्रतीत होता है. 'सत्' 'असत्' के द्वन्द्व और उसकी भावरूपा परिणति के रहस्य को ठीक से समझना ही उनके अन्त को समझना है. जो इस द्वन्द्वात्मकता की परिणतियों को ठीक से समझता है वही तत्त्वदर्शी है — **उभयोरपि द्रष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**.

२.१. *'अन्तः'* पद के अर्थ से प्राप्त 'भाव' और 'मूल्य' के विमर्श : *'उभयोरपि दृष्टोऽन्तः'* इस वाक्य में 'अन्तः' पद परिणामवाची है. द्वन्द्वात्मकता के परिणाम दो रूपों में सामने आते हैं : भाव प्रपंच के रूप में और मूल्यबोध के रूप में. आगे के दो श्लोक क्रमशः द्वन्द्वात्मकता की भावरूपा और नैतिक-विमर्शरूपा परिणतियों को बताते हैं. *'येन सर्वमिदं ततम्'* यह भावरूपा परिणति का निदर्शन है, जबकि *'तस्माद्युध्यस्व भारत'* यह द्वन्द्वात्मकता के नैतिक विमर्श का.

२.२. 'भाव'-प्रपंच का निर्वचन :

आत्मा ही तत्त्व की सत् कोटि है. असत् की परिकल्पना सत् के विमर्श प्रतियोगी के रूप में की गई है. असत् की उपस्थिति से, उसके सन्निध्य के बोधमात्र से सत् (आत्मा) में आत्मविमर्श 'मैं इससे अलग हूं', ऐसा भेदोपहित-तादात्म्य अस्तित्व में आता है.

इस भेदोपहित आत्मभाव के साथ एक परिच्छिन्न विकारी सत्ता अस्तित्व में आती है जो 'सत्' और 'असत्' से भिन्न तत्त्व की एक तीसरी 'भाव' कोटि का सृजन करती है. यह 'भाव'

वस्तुतः 'सत्' के अधिष्ठान में 'असत्' के विमर्श से उत्पन्न प्रतीयमान है. यह प्रतीयमान, भावसत्ता का प्राथमिक आगम है. आत्मा पुनः इस प्राथमिक भाव व्यक्ति में, जो सत् और असत् दोनों से भिन्न है, भेद विमर्श के द्वारा अपने को पुनः परिभाषित करते हुए, अग्रिम भाव व्यक्ति को जन्म देता है. इस क्रम में अस्तित्व में आती भाव संततियों में से प्रत्येक क्रमशः 'सत्' अधिष्ठान से अधिक दूर अधिक व्यवहित, पूर्व भावव्यक्ति की तुलना में अधिक सीमित, अधिक स्थूल होती जाती है.

इस प्रकार सत् (आत्मा) के अधिष्ठान में भेद विमर्श की जटिल होती प्रक्रिया के क्रम में अहंकार, बुद्धि, मन, ज्ञान और कर्म की इन्द्रियों का आविर्भाव होता है. इनका संघात, जिसका एकीभाव अधिष्ठान की एकता के द्वारा सुनिश्चित होता है, एक सांसारिक, शरीरी व्यक्तित्व का निर्माण करता है. यह 'व्यक्ति' न केवल आत्मा है और न केवल शरीर. यह एक निश्चित देश और काल के बीच रहने वाला सावधिक अस्तित्व है. सत् और असत् से भिन्न यह, तत्त्व की भाव कोटि को दर्शाता है. जहां 'सत्' और 'असत्' निरवधिक और अविकारी हैं, भावजगत् विकारी और सावधिक है. अद्वैत वेदान्त, ''जो न सत् है न असत् है', ऐसा कह कर माया के स्वरूप का निर्वचन करता है. 'सत् और असत् से भिन्न होना माया का यह लक्षण न केवल 'भाव' में घटित होता है, अपितु 'भाव' में उसके व्यवहार का स्पष्ट निदर्शन और सुसंगत व्याख्या प्राप्त होती है. पहले 'असत्' से भेद विमर्श और फिर 'सत्' और 'असत्' दोनों से भेद विमर्श भावसंतति के उद्भव का रहस्य है.

२.३. *अविनाशि तु तद्विद्धि ... :*

आत्मा की दोहरी भूमिका : विमर्श के अनुयोगी तथा तज्जन्य 'भाव' के अधिष्ठान के रूप में : इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में सत् (आत्मा) की भूमिका को दो रूपों में देखा जा सकता है. असत्-विमर्श के अनुयोगी के रूप में तथा उसके परिणाम 'भाव' प्रत्ययों के आलम्बन के रूप में. इन दोनों भूमिकाओं का निर्वाह करते हुए भी सत् (आत्मा) के स्वरूप में कोई विकार नहीं आता. विकार केवल भाव जगत् का अधिकार है. इसे नीचे दिए श्लोक में स्पष्ट किया गया है :

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

नाशरहित तो तू उसको जान जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है. इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है.

ऊपर दिए श्लोक में तीन बातें कही गई हैं : आत्मा का स्वरूप स्वतंत्र एवं अविनाशी है (*अविनाशि तु तद्विद्धि*), यह पहली बात है. दूसरी बात यह कि भावजगत् का यह जो विस्तार दिखता है, उसका उपादान कारण भी आत्मा है और निमित्त कारण भी. इस बात को स्पष्ट रूप से रेखांकित करता है *'येन सर्वमिदं ततम्'* यह वाक्यांश. तीसरी बात यह कि भावजगत् का अधिष्ठान और निमित्त होने के वाबजूद आत्मा में कोई विकार या कमी नहीं आती. इसी बात को कहने के लिए 'अव्यय' विशेषण का प्रयोग हुआ है : *विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति'.*

'नाभावो विद्यते सतः' (सत् की सत्ता का कभी अभाव नहीं होता), सत् का यह लक्षण आत्मा में ही धटित होता है. क्योंकि संसार में आत्मा ही एक मात्र पदार्थ है जिसकी सत्ता का निषेध सम्भव नहीं है. जो व्यक्ति आत्मा की सत्ता का निषेध करता है, 'आत्मा नहीं है' ऐसा कहता है वह भी निषेध के कर्ता रूप में आत्मा को स्वीकार करके ही निषेध करने में प्रवृत्त होता है. यह आत्मा भावजगत् का कारण भी है और अधिष्ठान भी. विशेष बात यह है कि भावविमर्श की इस योग्यता के कारण आत्मा के नित्य अविनाशी स्वरूप में कोई विकार नहीं आता, क्योंकि विमर्श चेतनात्मा का स्वभाव है. अपने सत्स्वरूप के कारण यह आत्मा विमर्श-निमित्त (असत्) का नियन्ता भी है और संयोजक भी.

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो आत्मा के बारे में यहां कही गई है वह है — *येन सर्वमिदं ततम्.* " — *जिस के द्वारा यह सब (भाव-प्रपंच) विस्तार को प्राप्त है. 'ततम्'* पद का अर्थ है, 'विस्तार को प्राप्त' या 'व्याप्त'. आत्मा का भावजगत् में विस्तार वास्तविक है या प्रतीयमान, विस्तार आत्मा के स्वरूप में प्राप्त है या यह उसके अधिष्ठान में अज्ञानसम्भूत आरोप है, इन प्रश्नों के निर्णायक उत्तर की तलाश ने वेदान्त के अलग अलग सम्प्रदायों को जन्म दिया. 'आत्मा से यह सब व्याप्त है', इसका अर्थ हुआ, भावजगत् में जो भावांश है, जो अल्पकालिक सत्ता है, वह भी उसकी अपनी नहीं अपितु नित्यस्वरूप आत्मा से ही प्राप्त है.

सृष्टि का सम्बन्धी होने से, आत्मा के वैभव में कण मात्र की भी कमी नहीं आती. आत्मा पूर्ण, और अविनाशी है. अव्यय होना, उसकी पूर्णता का लक्षण है . *'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते* — पूर्ण में से पूर्ण को निकाल भी लिया जाए तो भी पूर्ण ही बचता है. आत्मा अपने अधिष्ठान में आविर्भूत भावजगत् को निर्विकार रहते हुए ही उद्भासित करती है, उसे जीवनदान

देती है, बिना अपना कुछ भी खोए, यही उसके अव्यय होने का अर्थ है.

३. श्लोक *'अन्तवन्त इमे देहा:'*... :

३.१. तत्त्वदर्शन और युद्धविधि की एकीकृत प्रस्तुति : आत्मा के तत्त्वदर्शन का पुनराख्यान और उससे युद्धविधि की प्राप्ति, यह अग्रिम श्लोक का कथ्य है.

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता: शरीरिण:।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥

नाशरहित,अप्रमेय,नित्यस्वरूप, इस शरीरी (शरीर में रहनेवाले)आत्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं. इसलिए हे अर्जुन ! तू युद्ध कर.

३.२. श्लोक के विचारबिन्दु : कथ्य के आधार पर व्याख्येय श्लोक के मोटे तौर पर दो भाग हैं, आत्मअनात्मविवेक और उस पर आधारित युद्धविधि. विशेष विचारबिन्दु इस प्रकार हैं : (१)देह की नश्वरता तथा उससे भिन्न आत्मा का नित्य स्वरूप, (२) आत्मा के लिए प्रयुक्त संज्ञा और विशेषण पदों का स्पष्टीकरण, (३) एक आत्मा के अनेक शरीरों के साथ सम्बन्ध की बात, तथा धर्म और तत्त्वदर्शन की दृष्टि से इसके निहितार्थ, (४) कहे गए देहात्मविवेक का युद्ध समर्थक युक्ति के रूप में प्रयोग तथा उस युक्ति का परीक्षण.

४. व्याख्येय श्लोक में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली :

यह श्लोक गीता की उस विशिष्ट शैली की निर्माण प्रक्रिया में अन्तर्दृष्टि देता है, जो उसे सर्वसम्प्रदाय सामान्य, धर्मदर्शन के शास्त्र का रूप देती है. इस शैली का प्रमुख तत्त्व है, पारिभाषिक शब्दों का सुविचारित प्रयोग, जो कहीं प्रचलित पारिभाषिक शब्दों को नया अर्थ देता है, तो कहीं प्रचलित शब्दों को छोड़ कर, सर्वसामान्य अर्थ को कहने के लिए एक नए शब्द को चलन देता है. आत्मा के लिए *शरीरी* शब्द का चुनाव एक ऐसा ही प्रयोग है. यह एक आधारभूत परिकल्प के लिए सर्वस्वीकार्य संज्ञा की तलाश को रेखांकित करता है, जो धर्मदर्शन के निर्माण की प्राथमिक आवश्यकता है.

४.१. *'शरीरी'*, *'अविनाशी'*, तथा *'अप्रमेय'* शब्दों के अर्थ : देह की अनित्यता प्रत्यक्ष है. *'अन्तवन्त इमे देहा:'* इस वाक्य के द्वारा एक ऐसे तथ्य को कहा गया है जिसके बारे में

कोई विवाद नहीं हो सकता. अतः कुछ अधिक कहने की जरूरत भी नहीं. लेकिन जब आत्मा को नित्य कहा जाता है तो आत्मा के स्वरूप, उसकी नित्यता तथा शरीर के साथ उसके सम्बन्ध, इन सब को ले कर अनेकानेक सवाल उठ खड़े होते हैं. अतः विशेष सावधानी बरतते हुए, आत्मा के लिए गीता *शरीरी* के रूप में एक ऐसे संज्ञा शब्द का चुनाव करती है, जो एक निर्विवाद तथ्य को कहता है. अशरीरी आत्मा एक अप्रसिद्ध वस्तु है. आत्मा को शरीर-सम्बन्ध से ही पहचाना जाता है, शरीर सम्बन्ध से ही वह व्यवहार का विषय बनती है. 'शरीरी' शब्द आत्मा का निर्विवाद लक्षण भी है और अभिधान भी.

आत्मा का शरीर सम्बन्ध उसी तरह प्रत्यक्ष है जैसे देह की अनित्यता. अपने नश्वर सम्बन्धी (देह) से भिन्न, आत्मा के स्वरूप को बताने के लिए तीन विशेषण पदों का प्रयोग हुआ है : **नित्य, अविनाशी**, और **अप्रमेय**. नित्यता आत्मा का स्वरूप है जिसके स्पष्टीकरण के लिए दो विशेषणों का प्रयोग हुआ है, अविनाशी और अप्रमेय. इनमें 'अविनाशी' पद 'नित्य' के अर्थ का विश्लेषण है, जब कि 'अप्रमेय' पद, नित्यता के उस अर्थ को कहता है, जिसमें हमारे ज्ञानतंत्र की विषयता स्वरूपतः व्याहत है – *यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह* (जिसे बिना ग्रहण किए वाणी मन सहित वापस लौट आती है). हमारी इन्द्रियां, मन और वाणी, जो सीमित और परिच्छिन्न और सावयव है उसी को ग्रहण कर सकती हैं. निरवयव होने से, आत्मा का तात्त्विक स्वरूप इनकी पकड़ के बाहर की चीज है. *अप्रमेय* पद न केवल आत्मा के तात्त्विक स्वरूप को बताता है, अपितु वह किस प्रकार तत्त्वरूप में प्रतिष्ठित है, इस बात को भी बताता है.

अप्रमेय होने का अर्थ आत्मा का अप्रसिद्ध या अविज्ञात होना नहीं, अपितु उसका प्रमाणतंत्र का अविषय होना है. जैसे दीपक को अपना प्रकाश करने के लिए किसी अन्य दीपक की जरूरत नहीं पड़ती है, उसी प्रकार आत्मा अपने प्रकाशन के लिए प्रमाणतंत्र पर निर्भर नहीं है. आत्मा हर अनुभव में प्रकाशित है, हर ज्ञान का निरपेक्ष पूर्वकल्प है, और इस अर्थ में ***आत्मा सतत प्रकाशरूप है, प्रकाशन का विषय नहीं***. ज्ञानतंत्र का अविषय होना ही अप्रमेय होना है.

४.२. आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की गुत्थी : अनित्य शरीरों में रहने वाला, यह आत्मा नित्य और अविनाशी है, ऐसे आत्माद्वैत की प्राप्ति इस श्लोक से होती है. किन्तु सभी शरीरों में एक ही आत्मतत्त्व का निवास है, तब तो एक शरीर के अनुभव दूसरे में प्राप्त होंगे और प्रति शरीर

कर्तृत्व भोक्तृत्व की व्यवस्था बन नहीं पाएगी. इस समस्या को ध्यान में रखते हुए अद्वैतमत में आत्मा और जीवात्मा के बीच अन्तर किया गया है, ताकि कर्म के सिद्धान्त, पुण्य पाप और कर्तृत्व-भोक्तृत्व की व्यवस्था बन सके. आत्मा सर्वत्र एकरस, सत्स्वरूप, चेतन एवं आनन्दमय परमार्थ है. भिन्न शरीरों में उपाधि भेद से यह आत्मतत्त्व जीवात्मा का रूप लेता है. पुण्य और पाप को करने और भोगने वाली, कर्तृत्व-भोक्तृत्व विशिष्ट जो सत्ता है वह जीवात्मा है, परमार्थ आत्मतत्त्व नहीं.

शांकर मत में आत्मा और जीवात्मा का अन्तर एक सैद्धान्तिक अपरिहार्यता है. अन्य मतों में इस अन्तर को मानने की कोई सैद्धान्तिक विवशता नहीं है. प्रकृत श्लोक में 'शरीरिणः' इस पद का अर्थ अद्वैत वेदान्ती के लिए जीवात्मा तथा अन्य सम्प्रदायों के लिए आत्मा अर्थ होगा. जहां तक गीता पाठ की बात है उसमें तो केवल 'शरीरी' शब्द का प्रयोग हुआ है. **'शरीरी' अर्थात् शरीर में रहने वाला, यह अर्थ का अधिकतम विस्तार है जो आत्मन् शब्द को दिया जा सकता है. इस शब्द की व्यावहार उपपत्तियां निम्नवत् हैं :**

१. आत्मा को ***शरीरी*** यानी शरीर में रहने वाला कहा है. यह एक ऐसा लक्षण है जो आत्मा की समस्त अवधारणाओं पर घटित होता है. आत्मा, जीव, पुरुष, रूह, स्पिरिट, माइन्ड, जीव, साक्षी — जितने भी सम्भावित अशरीरी भाव हैं, उन सबसे हमारा परिचय शरीरी रूप में ही है. यह आत्मा की एक व्यापक, सर्वसम्प्रदायसामान्य, सर्वसम्प्रदाय-निरपेक्ष अवधारणा है. यहां तक कि पदार्थवादी भी इसे स्वीकार कर सकते है, क्योंकि वे जिसे चेतन संयोग रूप में स्वीकार करते हैं उसका भी अधिष्ठान शरीर ही है, यानी वह भी शरीरी कहलाने का अधिकारी है.

२. एक आत्मा के अनेक शरीरों के साथ सम्बन्ध की बात कही गई है : ***अन्तवन्त इमे देहाः नित्यस्योक्ता शरीरिणः***. यह सम्बन्ध दो रूप ले सकता है : युगपत् और क्रमिक. युगपत् सम्बन्ध की बात गीता के ईश्वरवाद के अन्तर्गत आती है. ईश्वर साक्षी और भोक्ता, दोनों ही रूपों में युगपत् अनंत चेतन बिन्दुओं (आत्माओं) से सम्बद्ध होता है. लेकिन प्रकृत संदर्भ से हट कर है यह बात.

३. यहां आत्मा के अनेक शरीरों के साथ सम्बन्ध की बात को शरीर सन्तानों के साथ क्रमिक

सम्बन्ध के रूप में समझना चाहिए. शरीर में यह संततिक्रम दो रूपों में हो सकता है. शरीर की विभिन्न अवस्थाओं, यथा बालपन, यौवन, वृद्धावस्था आदि में जो तादात्म्यभाव प्राप्त होता है, वह एक ही आत्मा के क्रमिक शरीर सम्बन्धों को बताता है. एक-जन्मवादी इस्लाम ईसाई प्रभृति धर्मों तथा पदार्थवादियों के लिए यह अर्थ ही अभीष्ट हो सकता है. इसके अतिरिक्त जो पुनर्जन्म मानते हैं उनके लिए अवस्थाक्रम के अलावा आत्मा में सम्बन्धों के जन्मान्तरक्रम को भी स्वीकार करना जरूरी हो जाता है.

व्याख्येय श्लोक का पहला भाग आत्मा के तत्त्वदर्शन के बारे में है, जिसके विभिन्न पक्षों की यहां विस्तार से चर्चा हुई है. दूसरा भाग तत्त्वदर्शन से युद्धविधि के निगमन का है. यह प्रसंग बहुत ही उलझा हुआ है, और निकट विवेचना की अपेक्षा रखता है.

(ख) तत्त्वदर्शन से युद्धविधि की प्राप्ति :

आत्मा के नित्यस्वरूप तथा शरीर की अनित्यता — इस द्विधा विवेक की संग्रहीत परिणति एक युक्ति के रूप में होती है जो अर्जुन के लिए युद्ध का विधान करती है. सम्यक् प्रतिपत्ति के लिए मूल को एक बार पुनः उद्धृत कर रहे हैं :

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥

नाशरहित,अप्रमेय और नित्यस्वरूप, शरीर में रहनेवाले इस आत्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं. इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध कर.

५. युद्धविधि से सम्बन्धित विचारबिन्दु :

शरीर नश्वर है उसमें रहनेवाला आत्मा अविनाशी है. यह एक तत्त्वविनिश्चय है, जिसे हेतु रूप में प्रस्तुत करते हुए *'तस्माद्युध्यस्व भारत'* इस युद्ध विधान की प्राप्ति होती है. तत्त्वदर्शन से प्राप्त यह विधान जिन विचार बिन्दुओं को जन्म देता है उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं : (१) युद्ध के विधान (कर्तव्यविधि) में तत्त्वदर्शन का विनियोग और उससे उत्पन्न समस्याएं (२) समस्याओं को ध्यान में रखते हुए सन्दर्भ सहित प्रकृत वाक्यार्थ पर पुनर्विचार (३) क्या *तत्त्वदर्शन* और *आचारविधि* परस्पर सर्वथा असम्बद्ध अनुशासन हैं या कुछ सीमाओं के अन्दर, उनके बीच

उपकार्य उपकारक भाव स्वीकार किया जा सकता है. (४) यदि उनके बीच ऐसा कोई सम्बन्ध है तो आचारविधि के निर्धारण में तत्त्वदर्शन की भूमिका और उसकी प्रामाणिक शर्तों की पहचान, ये कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु हैं, जो इस श्लोक की व्याख्या के क्रम में हमारे सामने आते हैं.

६. युद्ध के निर्णय में तत्त्वदर्शन का विनियोग और उससे उत्पन्न समस्याएं :

आत्मा अविनाशी है यह बात समझ में आती है. शरीर नश्वर है यह भी समझ में आया. लेकिन इनको संग्रहीत करके युद्ध के समर्थन में युक्ति के रूप में प्रस्तुत करना किसी भी प्रबुद्ध व्यक्ति को अलझन में डाल सकता है. आत्मा अमर है अतः उसकी मृत्यु तो हो नहीं सकती. शरीर है ही नश्वर; उसका विनाश युद्ध में हो या अन्यत्र, यह है अवश्यम्भावी. जो अवश्यम्भावी है उसके लिए किसी को भी दोषी, किसी को भी उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता. अतः अर्जुन को युद्ध करने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिए. *'तस्माद्युध्यस्व भारत'.*

तत्त्वदर्शन के इस शिथिल, अति सरल विनियोग में मृत्यु अपना अर्थ खो बैठती है. यह एक आश्वासन है मरने वाले के लिए भी, मारने वाले के लिए भी. जब मृत्यु का कोई तात्त्विक अर्थ है ही नहीं तो दूसरे को मारने में हिंसा कैसी, पाप कैसा ? कोई भी हत्यारा गीता की युक्ति का सहारा लेकर कह सकता है : *'आत्मा अविनाशी है अतः उसका तो वध सम्भव नहीं, और जिस शरीर को उसने नष्ट किया है वह है ही नश्वर, अतः उसने किसी को नहीं मारा, उसने कोई अपराध नहीं किया'.*

७. गीता में इस प्रकार के प्रयोगों का सर्वेक्षण :

व्याख्येय श्लोक तत्त्वदर्शन से सीधे सीधे *'तस्माद्युध्यस्व भारत'* इस आचारविधि का निगमन है. सभी विसंगतियां, जिनकी ऊपर चर्चा की गई है, इस विवादास्पद निगमन से ही प्राप्त हो रही हैं. वास्तविकता यह है कि कुछ विरल अपवादों को छोड़ कर, भूतार्थ से सीधे सीधे आचारविधि की प्राप्ति नहीं होती. व्याख्याधीन श्लोक के अलावा गीता में और भी स्थल हैं जो तथ्य के कथन से आचारविधि का निगमन करते दिखते हैं. व्याख्येय श्लोक के साथ नीचे दिए ऐसे श्लोकों का रचनासाम्य ध्यान देने योग्य है :

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ।। (गी.२.१८)

(इस नाशरहित, अप्रमेय और नित्यस्वरूप आत्मा के, ये सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं. इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर.)

इसी क्रम में ध्यान देने योग्य हैं नीचे दिए श्लोक :

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिवेदना।।२८।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

ऊपर दिए सभी श्लोक, आत्मा के स्वरूप समर्पक वाक्य को हेतु रूप में प्रस्तुत करते हुए युद्ध का/शोक न करने का/विधान करते हैं. इन प्रयोगों को किस तरह समझा जाए? यह मानते हुए कि दोनों के बीच कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं बनता, क्या तत्त्वदर्शन किसी रूप में आचरण (शील) का उपकारक हो सकता है? यदि हां, तो तत्त्वदर्शन के प्रामाणिक विनियोग की शर्तें क्या होंगी? इन प्रश्नों के उत्तर पर निर्भर करती है इन सभी श्लोकों की व्याख्या की दिशा.

८. समस्या का शास्त्रीय समाधान :

'तस्माद्युध्यस्व भारत' यह वाक्य युद्ध का विधान नहीं करता, पहले से प्राप्त युद्ध का केवल अनुवाद करता है, यह समस्या का शास्त्रीय समाधान है

तत्त्वदर्शन का युद्ध समर्थक युक्ति के रूप में विनियोग अटपटा लगता है. आचार्य शङ्कर को भी यह बात खटकी होगी तभी उन्होंने यह स्पष्टीकरण देना जरूरी समझा कि 'तस्माद् युध्यस्व भारत' यह कथन युद्ध का विधान नहीं करता केवल पूर्व प्राप्त युद्ध प्रवृत्ति का अनुवाद करता है. *'तस्माद्युध्यस्व' इति अनुवादमात्रं, न विधिः'* (गीता. शां.भा.)

युद्ध में प्रवृत्ति तो पहले से प्राप्त है. अर्जुन शस्त्रसज्जित हो कर आया ही युद्ध करने के लिए है. अतः उसके विधान की न आवश्यकता है और न ही उसके लिए अवकाश. जो पहले से प्राप्त है उसका विधान किया जाए तो मीमांसाशास्त्र की भाषा में उसे अनुवाद कहा जाता है.

हाथ में गांडीव का संधान करते अर्जुन की प्रवृत्ति, युद्ध के लिए सन्नद्ध बान्धवों और गुरुजनों को देख कर हठात् अवरुद्ध हो जाती है. वह '*न योत्स्य इति गोविन्द*' ऐसा कहते हुए युद्ध से विरत होने का निश्चय करता है. उसका युद्ध से हटने का यह निर्णय ही श्रीकृष्ण की समीक्षा का विषय बनता है. अतः *तस्माद्युध्यस्व भारत*' का अर्थ युद्ध का विधान नहीं बल्कि युद्धोपरति का प्रत्याख्यान ही हो सकता है. *'इसलिए तुम युद्ध करो'* यह इसका अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रसंगप्राप्त नहीं है.

प्रसंगप्राप्त है अर्जुन का युद्ध से हटने का निर्णय. अतः इस निगमन वाक्य का अर्थ हुआ, 'इसलिए तुम युद्ध से विरत मत होओ'. यदि अर्जुन युद्ध से हटने के निश्चय को बदल देता है, तो युद्धप्रवृत्ति जो पहले से प्राप्त है, अवरोध के हटते ही पुनः प्राप्त हो जाएगी. स्पष्ट है कि यहां युद्ध के विधान की न तो कोई आवश्यकता है और न ही वह प्रसंग प्राप्त है. यह समाधान का शास्त्रीय रूप है.

व्युत्पन्न होते हुए भी यह समाधान शाब्दिकसमाधान की सीमित अर्थवत्ता का अतिक्रमण नहीं करता. *'युद्ध करो'* और *'युद्ध से विरत मत होओ'* इन दोनों में कोई व्यावहारिक अन्तर नहीं है. *तस्माद्युध्यस्व भारत*' इसका अर्थ युद्धविधान न मान कर अनुवाद ही मान लिया जाए, तब भी समस्या समाप्त नहीं होती. कारण कि अर्जुन की आपत्ति युद्ध की नैतिकता को ले कर है, जिसके निराकरण के लिए तत्त्वदर्शन का सहारा लिया जा रहा है. क्या तत्त्वदर्शन का ऐसा प्रयोग प्रामाणिक है? इसके परीक्षण के लिए समस्या के मूल में जाना होगा. केवल शाब्दिक समाधान काफी नहीं है.

९. तत्त्वचिन्तन के विनियोग की परिस्थिति :

कर्तव्यविचार में तत्त्वदर्शन के लिए द्वार खोलता अर्जुन का स्वजन व्यामोह : उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अर्जुन का युद्ध से हटने का निर्णय ही नैतिक आकलन का विषय बन सकता है. अपने निर्णय के समर्थन में वह स्वजनहानि को युक्ति रूप में प्रस्तुत करता है. सगे सम्बन्धियों को

युद्धस्थल में देखकर अर्जुन का यह स्वजनभाव उद्‌बुद्ध हो उठता है :

"तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथपितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।।१.२६

(वहां अर्जुन ने अपने पिताओं, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों पुत्रों पौत्रों और मित्रों को उपस्थित देखा)

युद्धोपरति में निमित्त बना अर्जुन का यह स्वजनभाव ही कर्तव्यविचार में तत्त्वचिन्तन के हस्तक्षेप का निमित्त बनता है. जिन स्वजनों की युद्ध में मृत्यु की सम्भावना से अर्जुन इतना उद्विग्न है, वे स्वजन हैं क्या? मृत्यु का रहस्य क्या है? यह स्वजनभाव है क्या जो मृत्यु को इतनी भयावह, इतनी त्रासदायक बनाता है? क्या युद्ध से हटकर अर्जुन इस स्वजनविनाश को टाल सकता है और कब तक? ये सवाल अर्जुन को सीधे तत्त्वदर्शन की दहलीज पर लाकर खड़ा कर देते हैं.

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की समस्या को ध्यान में रखते हुए, व्यक्तित्व विश्लेषण को अपने समाधान का आधार बनाते हैं. व्यक्तित्व के दो ही धरातल हैं, आत्मा और शरीर. आत्मा तो नित्य है, अविनाशी है, अतः उसकी मृत्यु तो हो नहीं सकती. जहां तक शरीर की बात है, वह तो है ही नश्वर. मृत्यु उसे नष्ट करती भी है, तो वह उसे नष्ट करती है जिसे नष्ट होना ही है. फिर अर्जुन युद्ध से हट कर किसकी रक्षा करना चाहता है? युद्ध की भूमिका आत्मा और शरीर दोनों के प्रति अप्रासंगिक है. आत्मा के प्रति इसलिए कि वह उसे छू भी नहीं सकता : शरीर के प्रति इसलिए कि विनाश उसमें स्वभाव से प्राप्त है, और युद्ध इसमें कोई अतिशय उत्पन्न नहीं कर सकता. ऐसी स्थिति में अर्जुन युद्ध से हट कर किसकी रक्षा करना चाहता है? उसकी जो अविनाशी है या उसकी जो नश्वर है, और युद्ध के बिना भी जिसका विनाश अवश्यम्भावी है? हर स्थिति में युद्धोपरति निष्प्रयोजन है.

१०. मृत्यु के तथ्य को नकारता तत्त्वदर्शन : उससे उत्पन्न विसंगतियां :

उक्त तत्त्वदर्शन अर्जुन की युद्धोपरति को ही निष्प्रयोजन बनाता तो विशेष समस्या न होती. इसका सर्वोपसंहारी युक्तिवाद मानव के समस्त नैतिक विनिश्चयों को निष्प्रयोजन बनाता है; अपने निरुपाय नियतिवाद के द्वारा दायित्वबोध को मूल में ही कुण्ठित करते हुए, यह नैतिक अराजकता को जन्म दे सकता है. उपर्युक्त तत्त्वदर्शन एक वधिक को यह कहने का मौका देता है कि आत्मा

अमर है और शरीर तो स्वभाव से ही नश्वर है, अतः वह किसी का भी वध नहीं कर रहा है. आत्मा तो अवध्य है उसे मारा नहीं जा सकता और शरीर नश्वर है; उसे नष्ट होना ही है, कोई उसे मारे या न मारे. अतः वह वध करके भी किसी को नहीं मार रहा. गीता के तत्त्वदर्शन का यह सम्भावित विनियोग न तो गीता के लिए और न ही तत्त्वदर्शन के लिए सम्मान की बात हो सकता है.

१०.१. मृत्यु संघात की होती है, न कि शरीर या आत्मा की :

उक्त विसंगति, मृत्यु के तथ्य को नकारने की है, जो मृत्यु के आलम्बनभूत व्यक्तिसंघात को नकारने से उत्पन्न होती है. यह कहना कि व्यक्ति में जो शाश्वत् है उसे कोई मार नहीं सकता और जो नश्वर है उसे बचाया नहीं जा सकता, व्यक्ति के स्वरूप का अति सरलीकरण है. **व्यक्ति न तो शाश्वत् है और न ही क्षणस्थायी. वह तो अस्तित्व है, संघात है, जिसे अपने कर्म और भोगों की संभावनाओं के फलागम पर्यन्त टिके रहना है. अस्तित्व का अर्थ ही है सावधिक सत्ता, कुछ समय तक रहने वाला जीवन, जो अपने होने के अर्थ की खोज में है.**

मृत्यु न तो आत्मा की होती है और न ही शरीर की; मौत तो आत्मा और शरीर के बीच, दोनों को छूते, दोनों से उपकृत और आप्लावित होते अस्तित्व की होती है जो स्वयं में एक संघात है, चेतन और अचेतन के बीच के अनगिनत समवायों का. यह अस्तित्व ही है (आत्मा नहीं) जो मूल्यों को जन्म देता है, नैतिक रसात्मक और तात्त्विक. इनमें आधारभूत मूल्य है, अस्तित्वरक्षा, जो प्रत्येक प्राणी के लिए एक साथ अधिकार और दायित्व का सृजन करता है.

१०.२. अर्जुन की चिन्ता अस्तित्व को लेकर है, आत्मा या शरीर को लेकर नहीं :

प्रत्येक अस्तित्व को अपनी जैविक सम्भावनाओं के निःश्शेष होने तक, अस्तित्व में बने रहने का अधिकार एक ऐसा अधिकार है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को देकर अपने लिए सुनिश्चित करता है. इसके फलस्वरूप एक सभ्य समाज का निर्माण होता है. अस्तित्व रक्षा, एक स्व-पर सामान्य, आधारभूत नैतिक दायित्व है, जिसकी उपेक्षा परस्परभाव पर टिकी सम्पूर्ण नैतिक व्यवस्था और उसके द्वारा अस्तित्व में आई सभ्यता का उच्छेद कर सकती है. यही अर्जुन की चिन्ता है जो उसे युद्ध से हटने को प्रेरित कर रही है :

कुलक्षये प्रणश्यन्ति .... कुल धर्माश्च शाश्वता :. (गीता १.४०-४३)

प्रत्येक योद्धा, दुर्योधन के पक्ष का हो या पाण्डवों के पक्ष का — एक सार्थक संघात है; वह जिए ताकि अपनी सम्भावनाओं को साकार कर सके, इसके लिए हर कीमत पर युद्ध को टाला जाना चाहिए, ऐसा अर्जुन का सोचना है. उससे **यह कहना कि तुम फिक्र न करो, ये योद्धा आत्मा बन कर जिएंगे और शरीर बन कर मरेंगे, एक आश्वस्त करने वाली बात तो नहीं हो सकती.**

११. तत्त्वज्ञान के द्वारा कर्तव्यविनिश्चय : प्रामाणिकता की समस्या :

'नश्वर शरीरों वाले नित्य आत्मा' और 'युद्ध करने' या 'शोक न करने' के विधान के बीच कोई व्याप्ति, कोई अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है, जो आत्मज्ञान से इन विधानों के निगमन को सुनिश्चित कर सके. वस्तुभूत कथन से 'ऐसा करो' या 'ऐसा करना चाहिए', इस प्रकार का कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता. जब भी ऐसे निष्कर्ष निकाले जाते हैं, वे सविकल्प और अनुपसंहारी होते हैं. यथा — ***'आत्मा अविनाशी है'***, इस कथन से जिस प्रकार युद्ध कर्म का विधान प्राप्त किया गया है, उसी प्रकार युद्ध न करने का, या यों कहें कि कुछ भी न करने का विधान भी प्राप्त किया जा सकता है. यथा — *आत्मा अविनाशी है नित्य, मुक्त स्वभाव है; हमारे कुछ भी करने (या न करने) से इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अतः हमें कुछ भी नहीं करना चाहिए.*

शरीर की नश्वरता की युक्ति से युद्ध का समर्थन हो सकता है तो भोगों के समर्थन के लिए भी इसका प्रयोग किया जा सकता है, और किया जाता रहा है, यथा —

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

जब तक जिओ, सुखों को जिओ, कर्जा लेकर (भी) घी पिओ. (मृत्यु के उपरान्त) भस्मीभूत हुए इस देह का फिर यहां आना कहां?

ऊपर दिए विश्लेषण से स्पष्ट है कि कर्तव्यविधि में तत्त्वज्ञान का विनियोग न केवल अनुपसंहारी होता है अपितु एक साथ परस्पर विरोधी मूल्यों का उपकारक हो सकता है. अतः साम्प्रदायिक चिन्तन और आधुनिक अनुभववादी दार्शनिक, इस बारे में एक मत हैं कि भूतार्थ से कर्तव्यविधि की प्राप्ति सम्भव नहीं है. यह अनुल्लंघ्य द्वैत जहां दर्शनशास्त्र को नैतिकचिन्ता

से मुक्त करता है, वहीं धर्म को अधिक कट्टर, अन्तर्मुखी और विचारशून्य बनाता है. अतः कर्तव्यविधि में तत्त्वज्ञान के निवेश की सम्भावनाओं पर नए सिरे से विचार होना चाहिए.

१२. आस्था में तत्त्वदर्शन का संग्रह क्यों जरूरी है?

आस्था में तत्त्वदर्शन का विनियोग धर्म (कर्तव्यविनिश्चय) को सार्वभौमिक आधारों में प्रतिष्ठित करता है, स्थानीय, ऐतिहासिक-प्रतिबद्धताओं को शिथिल करते हुए, धर्म को संवाद और संग्रह की व्यापक भूमि से जोड़ता है. आस्था में तत्त्वदर्शन की भूमिका को नकारने का अर्थ है, उसे सदा के लिए विमर्शशून्य कट्टरवाद के गर्त में ढकेलना. इस विशिष्ट भूमिका के कारण आस्था में तत्त्वदर्शन के संग्रह को स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है. किन्तु तत्त्वदर्शन का अविचारित विनियोग नैतिक अराजकता को जन्म दे सकता है. अतः मूल्यविनिश्चय में तत्त्वदर्शन के प्रामाणिक विनियोग के दायरों और मानकों की पहचान एक आधारभूत समस्या बन कर सामने आती है.

बे आधार जिनके सन्दर्भ से कर्तव्यनिर्धारण के किसी तात्त्विक नियोजन को प्रामाणिक कहा जा सकता है, इस प्रकार हैं :

१३. प्रामाणिक संग्रह की शर्तें और सम्भावित दायरे :

१३.१. अवरोधनिवर्तक विनियोग : तत्त्व से विधि का साक्षात् निगमन, अनैकान्तिक होने से अप्रामाणिक है. किन्तु अवरोध निवर्तक होते हुए जब तत्त्वज्ञान परोक्ष रूप में विधि का प्रवर्तक होता है तब उसका यह व्यवहार प्रामाणिकविनियोग की कोटि में आता है.

विवेच्य श्लोक में प्रवर्तित तत्त्वज्ञान के युद्ध-कर्तव्य के साथ अनविनाभावी होने से, *तस्माद्युध्यस्व भारत* इस निष्कर्ष की साक्षात् उपपत्ति नहीं बनती. किन्तु तत्त्वज्ञान एक अन्य मार्ग से इस निष्कर्ष से सम्बद्ध हो कर उसके निगमन में हेतु बन जाता है. युद्ध में जो प्रतिबंधक मनोदशा है, तत्त्वज्ञान उसका निवारण करता है. ज्ञान में अज्ञान और अज्ञानजनित मनोदशा का निवर्तकत्व सहज प्राप्त है. प्रतिबंधक मनोदशा की निवृत्ति होने पर, आविष्कृत कर्तव्य के साथ निवर्तक ज्ञान का सीधा सम्बन्ध बन जाता है. यह सम्बन्ध ज्ञान से कर्तव्य के निगमन को सुनिश्चित करता है. विध्यर्थ में तत्त्वनियोजन का यह एक प्रामाणिक रूप है.

१३.२. तत्त्वदर्शन से साक्षात् मूल्यदोहन : तत्त्वज्ञान से साक्षात् प्राप्त होते हैं, तितिक्षा, धैर्य समभाव और सहिष्णुता के आधारभूत मूल्य. धर्म तथा नीति के शास्त्रों में भी इन मूल्यों का विधान मिलता है. किन्तु हमारे लिए ये महत्त्वपूर्ण इसलिए हो जाते हैं क्योंकि गीता में ये मूल्य शास्त्रविधान से नहीं, सीधे आत्मा के तत्त्वज्ञान से प्राप्त होते हैं. श्लोक १३ ओर १४ की व्याख्या के क्रम में इनकी चर्चा हो चुकी है. ये मूल्य तत्त्वज्ञान का भावरूप हैं, अधिक स्पष्ट रूप से कहें तो आत्मशाश्वतवाद का भावरूप हैं, और इस अर्थ में सनातन मूल्य. ये उस परा-नैतिकप्रज्ञा का संग्रह करते हैं जिसके बिना कोई भी आचारसंहिता प्रवृत नहीं हो सकती. वस्तुतः तितिक्षा, धैर्य और समभाव पूर्वकल्प हैं हर धर्मविधान के.

धैर्य आस्था का मूलाधार है, समस्त आपतित विसंगतियों के विरुद्ध उसका रक्षा कवच, जबकि तितिक्षा समस्त निग्रहमूलक नैतिकता का मूलाधार. ये मूल्य जब शास्त्रविधि का रूप लेते हैं, तब ये नैतिक-अनैतिक के विभाजक मानस को, अलगाव, घृणा तथा नैतिक होने के दम्भ को जन्म देते हैं. ये ही मूल्य जब तत्त्वदर्शन से प्राप्त होते हैं तब समन्वय, समर्पण भाव, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति करुणा और सहिष्णुता का हेतु बनते हैं. घटनाओं के तात्त्विक विनिश्चय में न तो सदाचारी होने के अहंकार के लिए जगह हो सकती है और न अनैतिक के प्रति घृणा, क्योंकि तत्त्वनिष्ठा प्रतीयमान के संग्रह और अतिक्रमण की भूमि है. इससे भिन्न शास्त्रविहित नैतिकता चिरंतन निरोध की भूमि है, असहज और सदा भयभीत.

यथोक्त मूल्य, जब क्रमशः तत्त्वदर्शन और शास्त्र से प्राप्त होते हैं, तो इस उद्भवभेद से उनके व्यवहार में जो अन्तर आता है, वह बड़े ही महत्त्वपूर्ण ढंग से हिन्दू और सामी नैतिकबोध के अंतर को उद्भासित करता है. **श्रीमद्भगवद्गीता में तत्त्वज्ञान से धैर्य, समभाव और तितिक्षा के भावकल्पों की सिद्धि, शीलविनिश्चय में तत्त्वदर्शन के प्रामाणिक विनियोग के छोटे से किन्तु महत्त्वपूर्ण दायरे को रेखांकित करती है.**

प्रकृत संदर्भ में, आत्म-अनात्म विवेक प्रतिबंधक व्यामोह का निवारण करके, पहले से घटना रूप में प्राप्त युद्ध में नैतिक विनिश्चय का आक्षेप करता है. नियति अव्यक्त है. उसे स्वीकार करके, उससे जुड़कर, उसका हिस्सा बनकर उसमें निमित्तमात्र बन कर ही मानव उसका नियंत्रण कर सकता है. निमित्त मात्र बनने का अर्थ होता है, अहंकार का परित्याग; केवल उतने भर अहंकार

को बचाकर रखना, जिससे नियति में निमित्तता का निर्वाह हो सके, बाकी अहंकार का समर्पण कर देना. इस त्याग में सम्मिलित है, उस अहंकार का परित्याग, जो अपने को स्वतंत्र कर्ता मानता है, नियति के विरुद्ध अपने निर्णयों के द्वारा अपने को परिभाषित करता है. यह अहंकार स्वयं नियति का अंग है. उसका समर्पण करना ही नियति से मुक्त होना है. इस तात्त्विक नियतिवाद से हमें साक्षात् प्राप्त होते हैं, धैर्य तितिक्षा और समर्पण के आधारभूत मूल्य.

एक वधिक जब पशु का वध करता है, और इस कर्म में अपने को नियति का अंग मान कर चलता है, उस समय उसमें पशु की असहायता की बजाय अपनी असहायता की चेतना कहीं अधिक पैनी होती है. यह एहसास कि वह पशु से अधिक स्वतंत्र नहीं है, उसके भीतर प्राणिमात्र की असहायता के बोध को पैदा करता है. यहां तत्त्वदृष्टि जिस सार्वभौमिक करुणा को जन्म देती है, उसमें प्रतिष्ठित वधिक, अधिक समय तक वधिक नहीं रह सकता. ये कुछ ऐसे स्थल हैं जहां तत्त्वदृष्टि सीधे नैतिक बोध को जन्म दे रही है.

यहां तक तत्त्वज्ञान के आस्था में प्रामाणिक विनियोग की चर्चा हुई. इसके अप्रामाणिक विनियोग भी ध्यान देने योग्य है.

१४. धर्म में तत्त्वज्ञान के अप्रामाणिक विनियोग :

कर्तव्य का अपलाप, पलायन, विपर्यस्त कर्तव्यबुद्धि तथा मिथ्याचार (पाखण्ड), ये तत्त्वदर्शन के अप्रामाणिक विनियोग के कुछ रूप हैं, जिनके बारे में यहां चर्चा करेंगे. इनमें मूल्यबोध को अप्रासंगिक बनाती, विध्यर्थ का अपलाप करती या कृपणतापूर्वक उसे एक कामचलाऊ हैसियत अनुमन्य करती, तत्त्व की ऐकान्तिक, सर्वग्रासी स्थापना तत्त्वज्ञान के अप्रामाणिक विनियोग का सर्वाधिक खटकने वाला रूप है. इसका निकट निदर्शन है, आचार्य शङ्कर की परम्परा का वेदान्तचिन्तन.

१४.१. कर्तव्यबोध का अपलाप : अप्रामाणिक विनियोग का पहला प्रकार : तत्त्वावगति अर्थात् आत्मबोध ही एक मात्र मूल्य है. लोक और शास्त्र के समस्त मूल्य अज्ञानजनित हैं, निरर्थक हैं. ये मूल्य जिन्हें गीता में 'कर्म' नाम से कहा गया है, तत्त्वावगति में उपकारक होते हुए ही मूल्यवान् हो सकते हैं. कर्म तत्त्वावगति में किस प्रकार उपकारक हो सकते हैं, इस बारे में वेदान्त

के सम्प्रदायों के बीच गहरे मतभेद हैं; किन्तु समस्त लौकिक और वैदिक मूल्यों से परे तत्त्वबोध की परम पुरुषार्थ रूप में स्थापना की बात को वेदान्त के सभी आचार्य निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं. इस एकरूपता में गीता के पारम्परिक भाष्य — उनमें से अधिकांश वेदान्त सम्प्रदायों की परम्परा में लिखे गए हैं — आचार्य शंकर के तत्त्वदर्शनाभिनिवेश की ही पुष्टि करते हैं. उन्हें स्वतंत्र गीताभाष्य न कहकर आचार्य शंकर के गीताभाष्य पर टिप्पण कहना ही उचित होगा.

लगभग १२ सदियों का पारम्परिक गीता-पाण्डित्य आचार्य शंकर के तत्त्वदर्शनाभिनिवेश का अतिक्रमण नहीं कर सका, यह आचार्य शंकर की अनतिक्रमणीय प्रतिभा का पैमाना है और हिन्दूसमाज के दुर्भाग्य का भी, क्योंकि ऐकान्तिक तत्त्वदर्शनाभिनिवेश हिन्दू मानस को सामयिक चुनौतियों के प्रति उदासीन बनाते हुए, एक मिथ्या समाजदर्शन का सृजन करता है. भगवान् श्री कृष्ण में तत्त्वदर्शन पर आधारित मिथ्या समाजदर्शन और उसकी भयावह सम्भावनाओं की भरपूर चेतना थी. अतःगीता अपने स्वरूप में तत्त्वदर्शन के कुयोग के विरुद्ध चेतावनी और मार्गदर्शन का शास्त्र बन कर उभरती है. यह बात गीतोपदेश के लिए युद्धक्षेत्र के सुविचारित चुनाव से ही स्पष्ट है.

१४.२. श्रीमद्भगवद्गीता : तत्त्वदर्शन के कुयोग के विरुद्ध चेतावनी का शास्त्र : युद्ध के विधान में तत्त्वदर्शन के नियोजन का संदेश स्पष्ट है. गीता का उपदेश निदर्शन के द्वारा स्वयं में यह संदेश है कि तत्त्वदर्शन का प्रयोग कहां कितना और किस विधि से होना चाहिए. अपने इस अनुशासित स्वरूप में गीता तत्त्वदर्शन के कुयोग के विरुद्ध चेतावनी और मार्गदर्शन का शास्त्र बन कर उभरती है. **उपनिषदों के तत्त्वदर्शन का अनुवाद मात्र नहीं है श्रीमद्भगवद्गीता, जैसा कि अधिकांश विचारक मानते हैं; यह तत्त्वदर्शन के विनियोग के नियमन का शास्त्र है. यहां अनुवाद नहीं, नियमविधि है, तत्त्वनिष्ठाजनित उस विभीषिका के विरुद्ध जो हिन्दूसमाज का अभिशाप बन चुकी है.**

१४.३. मिथ्याचार : तत्त्वदर्शन के दुर्विनियोग का दूसरा रूप : ऐकान्तिक तत्त्वनिष्ठा व्यापक सामाजिक दायित्वों के प्रति घृणा और उदासीनता का दर्शन है. कतिपय विरल अपवादों को छोड़ कर यह सामान्यतया कर्तव्यपराङ्मुख, आरामतलब जीवनचर्या में विजड़ित हो कर रह जाता है. स्वरूपावगति से पूर्व ही ऐकान्तिक स्वात्माभिनिवेश व्यक्ति को आत्मा के स्वरूप से साक्षात् प्राप्त,

तितिक्षा और धैर्य जैसे मूल्यों के प्रति निरपेक्ष बना देता है. इस प्रकार अपने स्वरूप के अनुशासन को नकारते ऐकान्तिक तत्त्वदर्शन की सहज गति है मिथ्याचार.

इस मिथ्याचार को अधुनातन सुविधाओं से सम्पन्न काटेजों में रहने वाले साधूसंतो और भोगों को भगवान् की तरह पूजने वाले धर्माचार्यों के जीवन में सहज देखा जा सकता है. तत्त्वज्ञान में सदा प्रतिष्ठित, नित्य समाधिस्थ इन महाजनों की विवशता है, ऐश्वर्य के बीच रहना और भोगों को भोगना, ताकि संसार यह समझ सके कि ये भोगों से ऊपर उठ चुके है. यह मिथ्याचार धर्मोपदेशकों और कथावाचकों और धर्मनिरपेक्ष राजनेताओं के व्यवहार में और मुखर होकर सामने आता है. जब आततायी अत्याचारों के बीच लोग मार्गदर्शन और परित्राण के लिए पुकार रहे हों, ऐसे समय में, ***तस्माद्युध्यस्व भारत,*** गीता के इस कर्तव्यसूत्र की अनदेखी करके, लोगों को भगवान् की रसभरी लीलाकथाएं सुना कर, उनकी बेचैन कर देने वाली कर्तव्य की पुकार को थपकियां दे कर सुला देने वाले धर्मोपदेशक हों या स्वधर्म-निरपेक्ष, परधर्म-परायण हिन्दू-नामधारी राजनेता — ये सभी अपने कर्तव्यपराङ्मुख सुविधाजनक विचारतंत्र को आधार देने के लिए तत्त्वदर्शन की ढीलीढाली मान्यताओं की ही शरण लेते हैं.

तत्त्वदर्शन के ऐकान्तिक, कर्तव्य-पराङ्मुख विनियोगों की घातक परिणतियों की चेतना में, गीता प्रारम्भ में ही यह तय कर देती है, कि तत्त्वज्ञान की साधना कर्म से हो कर गुजरती है, और प्रामाणिक कर्तव्यचेतना को जागृत करके ही नैष्कर्म्य की ओर बढ़ती है. यही रहस्य है गीता में *'तस्माद्युध्यस्व भारत'* इस तत्त्वदर्शननिरूपित कर्तव्यविधि का.

ज्ञान और योग, ये पुस्तकपंथी आस्था के उद्धार के दो प्रमुख साधन हैं. इन साधनाओं के द्वारा शुद्ध हुआ अन्तःकरण तत्त्व की ही नहीं, कर्तव्य की भी प्रामाणिक समझ को जन्म देता है. कर्तव्य निरपेक्ष तत्त्वदर्शन कभी भी गीता का तात्पर्यार्थ नहीं हो सकता. **हिन्दुओं का तो भगवान् भी, सर्वथा आप्तकाम और निराकांक्ष होते हुए भी, अपने को कर्तव्य-निरपेक्ष नहीं मानता, जैसा कि नीचे दिए गीता के सन्दर्भ से स्पष्ट है :**

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।(३.२२)

हे अर्जुन! यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है, तथा कोई प्राप्तव्य ऐसा नहीं है जो प्राप्त न हो, तो भी मैं कर्म में बर्तता हूं.

जहां भगवान् तक कर्तव्य निरपेक्ष नहीं, वहां हिन्दुओं के मठाधीश और आचार्य, देश और काल की क्रूर आततायी चुनौतियों के सामने आंख मूंद कर, जिस समाज से पोषण पाते हैं उसकी पीड़ा और आर्त पुकार के प्रति निरपेक्ष रह कर, ज्ञान और भक्ति की ऐकान्तिक साधना में लगे रहते हैं, यह विडम्बना ही है. उनकी यह समाधि तभी टूटती है जब मठों की सम्पत्ति और गद्दी के लिए उन्हें किसी खतरे की गंध मिलती है. गीता में ठीक ही कहा है :

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

(उस वाणी द्वारा अपहृत चित्त वाले, भोग और ऐश्वर्य में आसक्त उन पुरुषों के अन्तःकरण समाधि में स्थिर नहीं होते.)

ऐकान्तिक साधना के नाम पर जो भोग और ऐश्वर्य का जीवन जीते हैं, वे तो अपनी अव्यवस्थित बुद्धि के कारण मार्गदर्शन देने में पहले ही अक्षम है. लेकिन जो सचमुच त्याग का जीवन जी रहे हैं, ऐकान्तिक साधना में लगे हैं, आर्तजनों की मार्गदर्शन के लिए पुकार को अनदेखा करके केवल अपने उद्धार की सोचने वाले, ऐसे लोग भी क्षुद्र स्वार्थपरता के दोष से नहीं बचते. ईश्वर अपनी इच्छा का निमित्त मनुष्यों में ही तलाशता है (निमित्तमात्रं भव सव्यसाची). आसन्न परिस्थिति में अपनी भूमिका न तलाश कर जो अन्तर्मुखी साधना को ही सर्वस्व मान बैठते हैं, वे तो जिसके प्रति सर्वात्मना समर्पित होने का भ्रम पालते हैं, उस साधना के रहस्य को भी ठीक से नहीं जानते. साधना का अर्थ है इस सृष्टि में अपनी भूमिका को तलाशना, और ईश्वर की इच्छा का निमित्त बनना.

व्यापक सामाजिक उद्देश्य से जुड़े बिना साधना एक क्षुद्र व्यवसाय है, अपने परमार्थ से विलग, एक छलावा. साधक की अन्तर्मुखता साधना की आवश्यकता हो सकती है. लेकिन साधना से शुद्ध हुआ अन्त:करण यदि अपने लिए सृष्टि में भूमिका नहीं तलाश पाता तो वह साधना निरर्थक है. यह गीता का सुनिश्चित संदेश है.

१४.४. विपर्यस्त कर्तव्यबुद्धि को जन्म देता तत्त्वदर्शन का तीसरा दुर्विनियोग :

परधर्मोच्छेदक आततायी धर्मकल्पों को संरक्षण देने और उनके विरुद्ध कर्तव्यरूप में प्राप्त प्रतिविधान को कुण्ठित करने के लिए, वर्तमान भारत का तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राजनीतिचिन्तन, समय समय पर आध्यात्मिक और मानववादी तत्त्वदर्शन का सहारा लेता रहता है, कभी कठोर निर्णय के नैतिकदायित्व से बचने के लिए, तो कभी अपनी सुविधा की राजनीति के लिए. अकर्तव्य को कर्तव्यरूप में प्रचारित करने के कारण, तत्त्वज्ञान के ऐसे प्रयोग भी अप्रामाणिक विनियोग की कोटि में ही आते हैं.

संग्रह और उपसंहार :

तत्त्वदर्शन का आस्था में संग्रह हिन्दूधर्म का अनन्य वैशिष्ट्य है. यह उसे संसार के पुरागाथा केन्द्रित धर्मों से एक सर्वथा अलग पहचान देता है. तत्त्वदर्शन के संग्रह के प्रामाणिक और अप्रामाणिक रूप, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है, हिन्दू आस्था के प्रामाणिक और अप्रामाणिक व्यवहार को बताते हैं, दूसरे शब्दों में उसकी सामर्थ्य और दुर्बलता को बताते हैं. इनकी चर्चा गीता की प्रामाणिक व्याख्या के लिए जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही महत्त्वपूर्ण है हिन्दू आस्था के स्वरूप की समझ के लिए. इसीलिए यहां इनकी विस्तार से चर्चा की गई है.

■ ■ ■

चतुर्थ एकक:

(कारक सम्बन्धों की अनुपपत्ति के द्वारा आत्मा के
अविकारी स्वरूप का निर्वचन)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; कि यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है(१९). यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है, तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है. शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता(२०). हे पार्थ! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह कैसे किसी को मरवा सकता है और कैसे किसी को मार सकता है (२१).

एककस्य त्रिषु श्लोकेषु प्रथमतृतीयौ साकांक्षौ। '*उभौ तौ न विजानीतो*' तथा '*वेदाविनाशिनं नित्यं*' इति वाक्यांशाभ्यां स्पष्टमिदम्। आत्मज्ञानस्य क्रमशो व्यतिरेकान्वयिकव्यवहारौ निदर्शयन्तौ परस्परपूरकाविमौ श्लोकौ। अनयोर्मध्ये आगच्छति आत्मनः स्वरूपसमर्पकः श्लोकः '*अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे*' इति पूर्वापरयोः क्रमशः व्यतिरेकान्वययोः प्रमापकः।

१. एककोऽयं दर्शयति पूर्वप्रतिपादित-तत्त्वज्ञानस्य-संदर्भचेतनायां प्रत्यावर्तनम्। संदर्भस्तु अर्जुनस्य स्वजनवधनिमित्तापराधबोधलक्षणं धर्मसंकटम्। अस्यापराधबोधस्यापनयनाय प्रवर्तते निमित्तकारणाविषयताविशिष्टस्याविकार्यात्मनोपदेशः। संसारे नास्ति किमपि निमित्तं यदात्मनि विकारं जनयितुं समर्थम्, इत्यात्मनः निमित्तकारणव्यतिरेक्यविकारनिरूपणं प्राप्यतेऽत्र संदर्भानुरोधेन-

'य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

कारकसम्बन्धलक्षणः नैमित्तिकविकारः। क्रममनुसरन् एककस्य तृतीयश्लोकोऽपि कारकसम्बन्धानामनुपपत्तिं नाटयन् समुद्दिशत्यात्मनोऽविकारं नैमित्तिकविकारानुपपत्तिरूपम् – *'कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्'* इति.

विकारस्तु द्विधा, नैमित्तिकः स्वाभाविकश्च। संदर्भानुरोधेन निमित्तप्रतियोगित्वेन परिभाषितेऽविकारे प्राप्यते भागासिद्धिः स्वाभाविकविकारस्याग्रहणात्। तन्निराकारणाय प्रवर्तते एककस्य मध्यस्थश्श्लोकः, यः पूर्वोक्तं संग्रहणन् प्रस्तौति *'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराण* इत्यविकारस्य भावगर्भं, निर्विशेषविश्रान्तिपदं सर्वेषां विकाराणाम्।

२. प्रकृतैकको हि व्यवहारस्य निदर्शनं गतैकके सूत्रितायाः द्वन्द्वात्मकतायाः *'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'* इत्यस्याः। सिद्धान्तात् समधिको जटिलो व्यवहारः। द्वन्द्वात्मकव्यवहारस्य समस्या विशेषरूपेण तत्त्वस्यानवद्यनिर्वचनस्य समस्या हि व्याख्यागर्भोऽस्यैककस्य।

३. *'नायं हन्ति न हन्यते'*, *'न जायते म्रियते वा कदाचित्'* इत्यादिभिः यद् ग्रह्यते तत्तु निषेधसाक्षिकः व्यावहारिककल्प आत्मनः न तु परमार्थ इति सिद्धौ भाषारोपितसर्वविक्रियाविमुक्तस्य सद्रूपात्मपरमार्थस्य निर्वचनं कथं भवेदित्याधारभूता जिज्ञासा तत्त्वदर्शनज्ञानमीमांसयोः। कथं भाषा स्वीयाः सांस्थिकपरिच्छित्तीरतिक्रम्य परमार्थमभिवदेदविकृतम् इत्यभिसंधाय भाषायाः सर्जनात्मकसम्भावनाः अनुसंदधति विचारकाः। अद्वैतसिद्धान्तकाराः अखण्डैकीभावस्य सिद्ध्यर्थं जहदजहल्लक्षणां परिकल्पन्ते महावाक्येषु।

३.१. विवेच्यैककसंरचना- निदर्शिता गीतापद्धतिर्हि क्वचिद् भिन्ना, अभ्यधिकसुसंगता, सूक्ष्मतरा। अस्याःप्रक्रियासोपानानि निरूप्यन्तेऽत्र यथाक्रमम् –

१. प्रथमं आत्मनि क्रियासम्बन्धानां *'नायं हन्ति न हन्यते'* इति प्रथमे श्लोके निषेधविमर्शादाकारं ग्रहणाति आत्मनः व्यावहारिकः कल्पः।

२. **द्वितीयश्लोकस्य पूर्वार्धः** *'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः'* **विदधाति पूर्वोक्तस्य संग्रहं पुष्टिं च।**

३. **अस्यैव श्लोकस्योत्तरार्धः** *'अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'* **पूर्वोक्तान् क्रियासम्बन्धान् रूपान्तरयति विशेषणपदेषु (यथा न जायते= अजः; न म्रियते= नित्यः; नायं भूत्वा भविता वा न भूयः= पुराणः)। एवं निराकृतविमर्शबीजः प्राप्तश्लोकसंदर्भ आत्मनोऽविविक्तं सद्रूपं कल्पतेऽखण्डबोधाय।**

४. **निराकृते विमर्शबीजे तत्कार्यभूतभावोद्भवोऽपि निराकृतः। अवशिष्येते सदसदः द्वे विमर्शशून्ये निरुपाधिके कोटी। तयोरनुपपत्तिरेव तात्पर्यार्थशरणम् –** *कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्* **इति।**

३.२ अनुपपत्तिवाक्यं तु विमर्शशून्यकोट्योरनुवादमात्रम्। विमर्शशून्यत्वान्नेदं विरुद्धार्थतेति वक्तुं शक्यते। अनुपपत्तिकथनस्येयं विशेषता कल्पते तस्मै परमार्थनिर्वचनस्याधिकारः।

सत्स्वरूपात्मनः परमार्थे अन्तर्दृष्टिमनवद्याभिधानदानाय गीता श्रयतीमामनुद्धतां शैलीं अपेक्षाकृतलघुतरां विद्वद्भिर्प्रपञ्चितकल्पनागौरवान्वितव्याख्याकल्पेभ्यः। यस्याभिधाने वाणी असमर्था *'यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'* **तत्रापि विरामभूमिमकृत्वा संकेतदानं, भवतु भंगिमैव, न निवर्तते वाणी. भाषायाः अपारम्परिक- सम्भावनानां संक्षिप्तं सुविचारितं दोहनं लक्ष्यतेऽत्र। भाषायाः आत्यन्तिकसम्भावनास्तु मुखरी भवन्ति आत्मतत्त्वज्ञानस्य काव्य एव विचारविषयोऽनुपदैककस्य।**

एकक विमर्श :

एकक के तीन श्लोकों में, पहला और तीसरा परस्पर साकांक्ष हैं यह बात *'उभौ तौ न विजानीतो'* (वे दोनों यह नहीं जानते) तथा *'वेदाविनाशिनं नित्यम्'* (जो इस अविनाशी को जानता है) इन वाक्यों से स्पष्ट है. आत्मज्ञान के क्रमशः व्यतिरेकी और संवादी व्यवहार का निदर्शन कराते हुए ये दो श्लोक एक दूसरे के पूरक हैं. इन दोनों के मध्य में आने वाला श्लोक आत्मा के स्वरूप को बताता है. और अपने से पहले और बाद में आने वाले श्लोकों के व्यतिरेक और संवाद का प्रमापक है.

यह एकक आत्मशाश्वतवाद के चिन्तन की सन्दर्भचेतना में वापसी को दिखाता है. अर्जुन का धर्म संकट ही वह सन्दर्भ है, जिसमें आत्म-शाश्वतवाद अपने लिए भूमिका तलाश करता

है. यह प्रक्रिया एकक है, जो तत्त्वज्ञान के व्यवहार का निदर्शन कराता है. तत्त्व के व्यवहार का ही दूसरा नाम है द्वन्द्वात्मकता. किस प्रकार तत्त्व अपने सनातन निर्विकार स्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हुए भी वैकृतिक भावों के सृजन का आधार भी है और उनके व्यवहार का नैतिक अनुशास्ता भी, इसका स्पष्टीकरण तत्त्व की द्वन्द्वात्मक अवधारणा के द्वारा ही सम्भव है.

जब आत्मतत्त्व के व्यवहार की बात होती है तो उसमें पूर्वकल्पित है, द्वन्द्वात्मक-तत्त्वदर्शन, जिसे पूर्व एकक में *'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'* कह कर सूत्रबद्ध किया गया है. इस द्वन्द्वात्मक चिन्तन का मूल है *सत्* और *असत्* का आधारभूत द्वन्द्व, और सत् के अधिष्ठान में असद्व्यावृत्ति से भावविमर्श का उद्भव. विवेच्य एकक, पूर्वोक्त द्वन्द्वात्मकता को आत्मा के तत्त्वदर्शन में रूपान्तरित करता है. आत्मा को सत् मानते हुए, उसके परमार्थ, और उसके असद्व्यावृत्तिजन्य व्यावहारिक कल्प के स्वरूप और उनके निर्वचन की समस्या को सम्बोधित है, तीन श्लोकों का यह एकक.

१. तत्त्वदर्शन की सन्दर्भचेतना में वापसी :

अर्जुन के मन में यह अपराधबोध है कि वह युद्ध में सहभागी हो कर स्वजनों के विनाश का निमित्त बनने जा रहा है. यह अपराधबोध ही वह सन्दर्भ है, जिसमें विस्तार से हुए तत्त्वज्ञान के उपदेश की वापसी होती है, अर्जुन को आश्वस्त करने के लिए, यह बताने के लिए कि संसार में कोई निमित्त ऐसा नहीं है जो आत्मा के स्वरूप में विकार उत्पन्न कर सके, पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान अपना पुनराख्यान करता है. आत्मा में निमित्तजन्य विकार का निषेध करता, इस एकक का पहला श्लोक सीधे सीधे सन्दर्भ की विवशता से प्राप्त है. अन्यथा आत्मा के तात्त्विक स्वरूप की विस्तृत चर्चा के बाद आत्मा के 'मरने वाला' और 'मारने वाला' होने की बातें विचार का विषय नहीं बन सकतीं.

सिद्धान्त से कही अधिक जटिल होता है सिद्धान्त का व्यवहार, और उससे भी अधिक जटिल होता है व्यवहार का निरूपण. गीता का यह भोला, निरापद सा स्थल , तत्त्व के व्यवहार की जटिल समस्याओं को अपने में समेटे है. मूल कथ्य है यहां तत्त्व का अविकारी स्वरूप, जिसे तत्त्व में विकार की अनुपपत्ति के द्वारा समझाया गया है. निमित्तजन्य विकार की अनुपपत्ति ही यहां चर्चा का विषय बनती है, क्योंकि वही यहां सन्दर्भ के अनुरोध से प्राप्त है. अतः *'नायं हन्ति न हन्यते'* इस श्लोक की चर्चा करने से पहले विकार के स्वरूप को निकट से समझ लेना जरूरी है, जिसके निषेध प्रतियोगी रूप में आत्मा के अविकार का निर्वचन किया जा रहा है.

१.१. विकार : नैमित्तिक और स्वाभाविक :

वस्तुओं में विकार के दो कारण देखे जाते हैं, बाहरी निमित्त और स्वभाव. जब किसी बाह्य निमित्त पर आरूढ़ हो कर क्रिया किसी विषय में विकार उत्पन्न करती है, तब उसे निमित्तजन्य विकार कहा जाता है. यथा, ढ़ेला फेंक कर घट को फोड़ना, कुल्हाड़ी से वृक्ष को काटना, तूलिका से चित्र में रंग भरना आदि. इन सभी कार्यों में कर्ता, निमित्तकारण तथा क्रिया, को सहज पहचाना जा सकता है, जिनका समन्वित व्यापार विषय में विकार को उत्पन्न करता हैं. उदाहरण के लिए, वृक्ष काटने के उपक्रम में, काटने वाला व्यक्ति कर्ता है, कुल्हाड़ी निमित्त, तथा कुल्हाडी का वृक्ष पर उठना गिरना वह क्रिया है, जिससे विषय अर्थात् वृक्ष में विकार उत्पन्न होता है. यह नैमित्तिक विकार का रूप है.

बिना निमित्त कारण के भी विकार की सृष्टि हो सकती है, जैसे अधिक समय तक रखा दूध स्वतः दही में परिवर्तित हो जाता है. वृक्षों पर फल और फूलों का आना भी स्वभावजन्य विकार की ही कोटि में आता. यह ध्यान देने की बात है कि विवेच्य स्थल में विकार का यह रूप विचार का विषय नहीं बनता. केवल निमित्तकारणजन्य विकार ही प्रसंगप्राप्त होने से विचार का विषय बनता है. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वजनवध में निमित्त होने का अपराधबोध ही वह प्रसंग है जिसमें पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान का पुनराख्यान होना है. गीता के ऐसे सन्दर्भपरायण स्थल उनके लिए मनन के योग्य हैं जो गीता को उपनिषदों का अनुवाद मात्र मानते हैं.

य एन वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते कि यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है.

१.२. आत्मा में नैमित्तिक विकार का निषेध :

'य एनं वेत्ति हन्तारं ...' : जो आत्मा को हन्ता अर्थात् मारण क्रिया का कर्ता मानता है, और जो इसे मारण क्रिया का कर्म अर्थात् उससे विपरिणाम को प्राप्त होने वाला मानता है, वे दोनों ही आत्मा के यथार्थ को नहीं जानते. तात्पर्य यह कि क्रिया सम्बन्धों में जो व्यवहार का विषय दिखता है, वह आत्मा नहीं हो सकता. यह कथन आत्मज्ञान के व्यतिरेक स्थल को दर्शाता है,

जब कि एकक का तीसरा श्लोक '*वेदाविनाशिनं नित्यम्*'(श्लो.२१) आत्मज्ञान की प्रामाणिक उपलब्धि का निदर्शन है.

'*मारने वाला होना*' और '*मारा जाना*' ये क्रिया से जुड़े क्रमशः कर्ता और कर्म सम्बन्ध हैं. कारक कहलाने वाले, ये क्रिया सम्बन्ध, जो कर्ता, कर्म, करण आदि सात रूपों में प्राप्त होते हैं, भाषा के व्यवहार की संरचना को बताते हैं. यहां '*हन्तारं*' और '*हन्यते*' ये दो पद कारक-सम्बन्धों का उपलक्षण हैं. आत्मा में इनका निषेध (नायं हन्ति न हन्यते) समस्त कारक- सम्बन्धों के निषेध को बताता है. तात्पर्य यह कि आत्मा यावन्मात्र क्रिया-सम्बन्धों का अविषय है; यह अविषयता आत्मा के अविकारी स्वरूप को बताती है. साथ ही, यह इस बात को भी रेखांकित करती है कि आत्मा का परमार्थ वाणी के व्यवहार का विषय नहीं हो सकता. इस उपपत्ति (corollary) पर आगे विस्तार से विचार हुआ है.

ध्यान देने की बात यह है कि यह श्लोक आत्मा में केवल निमित्त कारणजन्य विकार का ही निषेध करता है. प्रसंगप्राप्त होने से इसकी चर्चा का औचित्य भी है. किन्तु इससे आत्मा में बिना निमित्त के अर्थात् स्वभावप्राप्त विकार की सम्भावना तो बनी रहती है. अतः अग्रिम श्लोक, इसके कथ्य का संग्रह करते हुए आत्मा के उस स्वरूप का निर्वचन करता है, जो नैमित्तिक और स्वाभावागत, सभी विकारों से परे है :

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह आत्मा न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है, तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है. यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है. शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता.

१.३. अविकार का निर्विशेष संग्रह :

'न जायते म्रियते वा कदाचिद् ...' : सभी क्रियाएं काल के गर्भ में ही होती हैं. 'यह आत्मा न किसी काल में जन्म लेता है और न मरता है' यह कह कर, प्रकृत श्लोक पहले के श्लोक के कथ्य का संग्रह कर रहा है, जिसमें कारक सम्बन्धों के निषेध के द्वारा आत्मा के अविकारी स्वरूप को बताया गया है. गीता का काम इतने भर से चल जाता है. लेकिन, आत्मा के अविकार का दायरा इससे कहीं बड़ा है. उसमें, स्वभाव और कारकसम्बन्ध, दोनों से प्राप्त होने वाले विकारों

का निषेध अन्तर्भावित हैं. अतः *'अजो नित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो'* यह कह कर आत्मा के उस भाव रूप को बताते हैं जो नित्य, शाश्वत और सनातन है; जो सभी विकारों का अतिक्रमण करके स्थित है.

इससे भी बड़ी बात यह है शश्वदात्मा किसी भी प्रकार के विकार का निषेध प्रतियोगी नहीं हो सकता. यह भाषा की विवशता है कि हम विकार के निषेध के द्वारा ही अविकार के भाव को ग्रहण करते हैं. लेकिन इस प्रयोजन के लिए निषेध के प्रतियोगी (सम्बन्धी) रूप में प्राप्त आत्मा का परिकल्प उसका परमार्थ न हो कर उसका कोई प्रतीयमान रूप ही हो सकता है. प्रतीयमान का यह सृजन हमें उस द्वन्द्वात्मक तत्त्वदर्शन की ओर ले जाता है, जिसकी चर्चा *'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'* श्लोक की व्याख्या में कर आए हैं. इस प्रतीयमान को स्वीकार किए बिना पुनर्जन्म की अवधारणा और आत्मा में जन्म और मरण के व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो पाएगी.

२. आत्मा में कर्म-सम्बन्धों का निषेध :

निषेधविमर्श से प्राप्त द्वन्द्वात्मक तत्त्वदर्शन : उद्भव, विनाश और रूपान्तरण, ये जगत् में दृष्टिगोचर होते कर्म के प्रसिद्ध उदाहरण हैं. ये कर्म के स्वरूप को दर्शाते हैं और उसके कार्य (परिणाम) को भी. *जायते, म्रियते, भूत्वा भूयः भविता,* इन शब्दों के द्वारा यथोक्त कर्मपर्यायों का संग्रह करते हुए, श्लोक का पूर्वार्ध, आत्मा में उनके निषेध का निर्वचन करता है. *'भूत्वा भूयः भविता'* का शाब्दिक अर्थ है, 'अतीत में होकर जो पुनः भविष्य में अस्तित्व में आने वाला हो'. इसका सीधा अर्थ है, रूपान्तरण या नवीनीकरण. ये कर्मपर्याय, शरीर और शरीरी के रूप में आत्मा के स्थूल और सूक्ष्म प्रतीयमान कल्पों का संग्रह करते हुए, सद् और असद् से भिन्न द्वन्द्वात्मकता की 'भाव' कोटि को दर्शाते हैं. यह भावपदार्थ ही प्रमाण और कर्मव्यवस्था का उपादान है.

आत्मा में कर्म सम्बन्धों का निषेध *'न जायते म्रियते वा कदाचित्',* बड़ी ही कुशलतापूर्वक द्वन्द्वात्मकता के आत्मसंदर्भ को रूपायित करता है. आत्मा तत्त्व की सत् कोटि है. उसमें कर्मसम्बन्ध की कल्पना *असत्* को तथा कर्मसम्बन्धों का निषेध असद्विमर्श को दर्शाता है. यह असद्-विमर्श, आत्मा को निषेधप्रतियोगी रूप में परिकल्पित करते हुए, परमार्थ से भिन्न उसके शरीर-सम्बन्धी प्रतीयमानभाव को जन्म देता है. यह प्रतीयमान आत्मभाव, न सत् है न असत्. यह तो भावकोटिक

सत्ता है जो सदधिष्ठान में असद्विमर्श से प्राप्त होती है. यह प्रतीयमान आत्मभाव ही शरीरसम्बन्धों के द्वारा पुनर्जन्म का विषय है.

विवरण से स्पष्ट है कि श्लोक की प्रथम पंक्ति *'न जायते म्रियते वा कदाचित्',* द्वन्द्वात्मक तत्त्वचिन्तन की — **सद्, असद्** और **भावविमर्श** — इन तीनों कोटियों को अपने अर्थ में लपेटे हुए है. समस्या यह है कि इनका निर्भ्रान्त निर्वचन कैसे हो? आत्मा में कर्मसम्बन्धों की क्रमशः परिकल्पना और निषेध के द्वारा 'भाव' और 'असद्-विमर्श' तक तो पहुंचा जा सकता है. किन्तु आत्मा के शश्वद् परमार्थ को भाषा के द्वारा कैसे कहा जाए यह मूल समस्या है, क्योंकि भाषा परमार्थ को जब भी ग्रहण करने की कोशिश करती है, वह परमार्थ से हटे हुए, एक प्रतीयमान पर्याय को जन्म दे कर उपरत हो जाती है. सत्स्वरूप आत्मतत्त्व के निर्वचन की समस्या को ध्यान में रखते हुए, विवेच्य श्लोक भाषा की सम्भावनाओं का नए सिरे से टटोलता है.

श्लोक का पूर्वार्ध जिन क्रियाओं और उनके विपरिणामों का आत्मा में निषेध करता है, उत्तरार्ध उन्हें विशेषण रूप में रूपान्तरित करके प्रस्तुत करता है. इस प्रकार ***न जायते*** को **अजः** में, ***न म्रियते*** को नित्यः में *'नायं भूत्वा भविता'* को **शाश्वत** में तथा *न भूयः* को **पुराणः** में रूपान्तरित करते हुए उन्हें आत्मा के विशेषण रूप में प्रस्तुत किया गया है. यह पुनरुक्ति सप्रयोजन है. श्लोक का पूर्वार्ध(**न जायते म्रियते वा कदाचित्**) आत्मा में क्रिया और उसके विपरिणामों का निषेध करते हुए, अपने से ऊपर के श्लोक की ओर उन्मुख है और उसके ***'नायं हन्ति न हन्यते'*** इस निष्कर्ष का समर्थन करता है, जब कि दूसरी पंक्ति पूर्वार्ध में कहे गए क्रिया पदों को विशेषणों में रूपान्तरित करते हुए, अग्रिम श्लोक की ***'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्''*** इस विशेषणसज्जित संरचना के साथ संगति स्थापित करते हुए उसके अर्थ को पुष्ट करती है. इस प्रकार दो पूर्वापर श्लोकों के बीच यह मानक श्लोक है, जो दोनों के अर्थ को उद्भासित करता है, आत्मा के परमार्थ की साक्षात् प्रतिष्ठा करते हुए उसके क्रमशः व्यतिरेकी और भावोद्बोधक निर्वचनों को प्रमाणित करता है. व्यतिरेकी निर्वचन से जुड़ा है, व्यतिरेकप्रतियोगी रूप में आत्मा का व्यावहारिकपरिकल्प.

२.१. आत्मा के व्यावहारिक कल्प को मानने की अपरिहार्यता : कारक सम्बन्धों का आत्मा में निषेध, आत्मा को निषेध-प्रतियोगी के रूप में परिकल्पित किए बिना सम्भव नहीं है. आत्मस्वरूप चेतन-अधिष्ठान, अपने में परिकल्पित निषेध को प्रमाणित करने के कारण साक्षी का रूप लेता

है. इस प्रकार निषेध विमर्श आत्मा में एक प्रतीयमान आत्मभाव को जन्म देता है, जिसमें कर्म सम्बन्धों की योग्यता होती है. **इस प्रतीयमान आत्मभाव को स्वीकार किए बिना गीता के वचनों में जो विरुद्धार्थ प्राप्त होते हैं, उनका समाधान नहीं हो सकता. एक तरफ गीता आत्मा को जन्म-मरण से परे कहती है (न जायते म्रियते वा कदाचित्), उसे अजन्मा शाश्वत और सनातन कहती है (अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो), तो दूसरी ओर उसके शरीर सम्बन्धों को मान्यता देते हुए, उसके जन्ममरण का स्पष्टीकरण भी देती है –**

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

(जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नए (वस्त्रों को) ग्रहण करता है, वैसे ही आत्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होता है.)

शरीर को धारण करना ही जन्म लेना है. आत्मा के शरीर धारण करने की बात स्वीकार कर लेने के बाद यह कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा न जन्म लेता है न मरता है(न जायते म्रियते वा कदाचित्). इस विसंगति का निराकरण आत्मा के तात्त्विक और प्रतीयमान दो रूपों को स्वीकार किए बिना सम्भव नहीं है. अपने तात्त्विक स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा अजन्मा है, जबकि उसका प्रतीयमान रूप, पहले साक्षी के रूप में, फिर कर्म सम्बन्धों को ग्रहण करके कर्ता और भोक्ता के रूप में, आधार है पुनर्जन्म का, आधार है शरीरों के ग्रहण और परित्याग के बीच सातत्य का. यह प्रतीयमान आत्मभाव, आत्मा का व्यावहारिक, शरीरसम्बन्धी कल्प है; इसे सुख दुःखों का भोक्ता और पुण्यपाप का कर्ता माने बिना मूल्यसातत्य उपपन्न नहीं होता. अतः व्यक्तित्व की नैतिक अवधारणा का भी आधार यह व्यावहारिक कल्प ही है. दायित्वबोध, स्वर्ग, नर्क, पुण्यपाप, न्याय की अवधारणा — लौकिक और अलौकिक, ये सभी आत्मा के परमार्थ में नहीं, उसके एक प्रतीयमान व्यावहारिक कल्प में ही सार्थक होते हैं.

इस क्रम का अनुसरण करते हुए, शांकरमत में आत्मा और जीवात्मा का अन्तर किया गया है. आत्मा के परमार्थ और व्यवहार को, उसके बद्ध और मुक्त रूपों में अन्तर को अन्य मतों में भी स्वीकार किया गया है. यहां ध्यान देने की बात इतनी ही है कि प्रकृत श्लोक में कारकसम्बन्धों के निषेध के द्वारा जो आत्मा के स्वरूप को कहा है, वह उसके व्यावहारिक कल्प की उपपत्ति के लिए है, जिसको स्वीकार किए बिना कर्म और पुनर्जन्म की व्यवस्था बनती नहीं है.

२.२. मृत्यु का अर्थ : वह कौन है, जिसका जन्म और मृत्यु होती है ?

आत्मा और शरीर के द्वैत तथा आत्मा के अविनाशी स्वरूप की प्रतिष्ठा से यह सहज निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि गीता के अनुसार मृत्यु शरीर की होती है. *'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'* — यह आत्मा अजन्मा है, नित्य और शाश्वत है; शरीर के मारे जाने पर भी इसकी मृत्यु नहीं होती — यहां स्पष्ट रूप से शरीर के मारे जाने की बात कही गई है. किन्तु निकट से विचार करें तो यह निष्कर्ष अनात्मवाद का समर्थन करने के कारण गीता का अभीष्ट नहीं हो सकता. यदि जीवन और मृत्यु शरीर के ही धर्म हैं तो आत्मा के मानने की आवश्यकता ही क्या? यतः मृत्यु शरीर के विकारों में ही व्यक्त होती है, उपचार से शरीर में मृत्यु की बात कही गई है. मृत्यु शरीर का ही धर्म है यह परिभाषित कथन न होकर केवल औपचारिक कथन है.

मृत्यु वस्तुतः न तो आत्मा की होती है और न ही शरीर की. मृत्यु तो व्यक्ति की होती है जो एक संघात है, जीव, वासना और भोगायतन (शरीर)का. इस संघात के बिखरने का नाम है मृत्यु. आत्मा तो मृत्यु की परिधि के बाहर है ही, केवल शरीर के विकार को भी मृत्यु नहीं कहा जा सकता. इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि केवल शरीर विकार में मृत्यु का लक्षण खोजने वाला आज का चिकित्सा विज्ञान अभी तक मृत्यु का कोई सर्वसम्मत लक्षण निर्धारित नहीं कर पाया है. निष्कर्ष अपरिहार्य है कि जन्म और मृत्यु को हम केवल शरीर का धर्म नहीं मान सकते. वासनावासित आत्मव्यक्ति अर्थात् जीव के शरीरसम्बन्ध का ही नाम है जन्म. यह वासनावासित आत्मा भोगायतन को धारण करके व्यक्ति बनता है, व्यक्तित्व वाला बनता है. भोगों का क्षय हो जाने पर व्यक्तित्व का बिखरना, जीव-भोगायतन-संघात का विघटित होना — यही मृत्यु है.

२.३. श्लोक *'वेदाविनाशिनं नित्यं...' :*

विकारी-भावों की आत्मा में अनुपपत्ति : आत्मा, जिसकी चेतना से यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् अनुप्राणित है (येन सर्वमिंद ततम्), वह स्वयं दृश्य जगत् के प्रति सर्वथा निर्लिप्त रहते हुए, अपने एकरस स्वरूप में सदा प्रतिष्ठित रहते हुए ही उसका उपकारक बनता है, जैसे सूर्य अपने अविकृत रूप में प्रतिष्ठित रहते हुए संसार के विविध पदार्थों को अपने आलोक से आलोकित करता है. उसका स्वरूप आलोकित पदार्थों के गुण दोषों से सर्वथा असंपृक्त रहता है. आत्मतत्त्व अपने

ऊपर आरोपित, अपनी सत्ता और प्रकाश से उपकृत, शरीरादि के विकारों से सर्वथा निर्लिप्त रहता है. जो आत्मा के इस परमार्थ से अपरिचित हैं वे ही प्रतीयमान संघात को आत्मा मानते हुए उसमें *'यह मारने वाला है', 'यह मारा जाने वाला है,* ऐसा व्यवहार करते हैं. यही बात एकक के प्रथम श्लोक में कही गई है :

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; कि यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है.

जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है, उसमें इस प्रकार का अज्ञानमूलक व्यवहार प्राप्त नहीं होता. यह एकक के अन्तिम श्लोक का कथ्य है.

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं धातयति हन्ति कम्।।२१।।

हे पार्थ ! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह कैसे किसी को मरवा सकता है और कैसे किसी को मार सकता है.

दोनों श्लोक एक दूसरे के पूरक हैं. यह अज्ञानियों के अज्ञान की हद है कि वे नहीं जानते कि यह आत्मा न तो मारण क्रिया का कर्ता है और न ही कर्म(*नायं हन्ति न हन्यते*) . किन्तु इसे जान लेना, ज्ञानी के ज्ञान की हद नहीं है. आत्मा के शश्वद् स्वरूप को जिसने समझ लिया है, वह अच्छी तरह जानता है कि आत्मा में केवल कर्तृ और कर्म के भावों का ही निषेध नहीं, अपितु अविकारी होने से, समस्त क्रियासम्बन्ध उसके स्वरूप में अर्थतः अनुपपन्न हैं.

विकार क्रियासम्बन्ध से कर्म में उत्पन्न अतिशय का नाम है. क्रिया के सम्बन्ध से कर्ता, कर्म, निमित्त और इतिकर्तव्यता के जिन सम्बन्धों की प्रसक्ति होती है, वे सब समन्वित रूप में विकार के उपकारक होते हैं. आत्मा को जब अविनश्वर, नित्य, अजन्मा और अविकारी विशेषण दिए जाते हैं, तो इसका सीधा सा अर्थ यह है कि आत्मा समस्त क्रिया सम्बन्धों से परे है. इसी बात को ' *कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्'* इस वाक्य से कहा गया है. इसमें 'किसके द्वारा, कैसे, किसको, ('केन घातयति', 'कथं घातयति', 'कं घातयति', 'कं हन्ति', 'कथं हन्ति'), ये क्रिया सम्बन्ध हैं, जिन्हें परिकल्पित करते हुए आत्मा में उनकी अनुपपत्ति को दिखाया गया है.

३. परमार्थ के अभिधान की समस्या :
भाषा की सम्भावनाओं को नए सिरे से टटोलना :

उपनिषदों में *'नेति नेति'* कहकर, आत्मा में सम्बन्धों के प्रपंच का निराकरण करते हुए उसके परमार्थ को भाषा में अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया गया है. किन्तु जैसा कि ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है, कि प्रपंच के साथ सम्बन्ध को परिकल्पित किए बिना आत्मा में उसका निषेध सम्भव नहीं है. परिकल्पित सम्बन्ध आत्मा को निषेधप्रतियोगी बनाते हुए उसमें उसके परमार्थ से भिन्न एक प्रतीयमान आत्मभाव की सृष्टि करता है. अतः नेति नेति की पद्धति से जिसकी सिद्धि होती है, वह आत्मा का परमार्थ न हो कर उसका प्रतीयमान भाषापर्याय है. ऐसी स्थिति में भाषा के द्वारा परमार्थ का निर्वचन किस तरह किया जाए, यह तत्त्वदर्शन और ज्ञानमीमांसा की एक आधारभूत समस्या बन कर सामने आती है.

भाषा अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके किस प्रकार परमार्थ को कह सके, कैसे अपने अविषय की अविषयता को अक्षुण्ण रखते हुए उसे अभिधान दे, इस प्रयोजन से विचारकों ने भाषा की परोक्ष, सर्जनात्मक सम्भावनाओं को टटोला है. अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तकार महावाक्यों में आत्मा के शुद्ध, सर्वसम्बन्ध मुक्त तात्पर्यार्थ की सिद्धि के लिए जहदजहल्लक्षणा का सहारा लेते हैं.

३.१. गीता की पद्धति इससे क्वचिद् भिन्न है, अधिक सुसंगत और दिलचस्प भी. इसकी प्रक्रिया, जिसे विचाराधीन एकक की संरचना में सहज देखा जा सकता है, के क्रमिक सोपान निम्नवत् हैं :

१. पहले श्लोक में क्रिया सम्बन्धों के आत्मा में *'नायं हन्ति न हन्यते'* इस निषेधविमर्श के द्वारा आत्मभाव का प्रतीयमान(व्यावहारिक) कल्प आकार लेता है.

२. दूसरे श्लोक का पूर्वार्ध *'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः'* पूर्वोक्त का संग्रह और पुष्टि करता है.

३. इसी श्लोक का उत्तरार्ध *'अजो नित्यः शश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'* पूर्वोक्त क्रिया-सम्बन्धों को विशेषणपदों में रूपान्तरित करता है. यथा *न जायते* = अजः; *न म्रियते* = नित्यः; *नायं भूत्वा भविता वा न भूयः* = शाश्वत. यह तत्त्व में प्रतीयमान

को जन्म देने वाले क्रियाविमर्श से भाषा को मुक्त करने की दिशा में एक कदम है.

४. विमर्शबीज का निराकरण हो जाने से तत्कार्यभूत 'भाव' का भी निराकरण हो जाता है. रह जाती हैं, सद् और असद् की दो विमर्शशून्य निरुपाधिक कोटियां. निरुपाय, उनकी अनुपपत्ति ही तात्पर्यार्थ का अवलम्ब बनती है — ***कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्.***

इस प्रकार जिसका विमर्शबीज नष्ट हो चुका है, ऐसे सत् का उद्देश्य रूप में संग्रह करते हुए, यह श्लोक तत्त्व की अविकल समझ के लिए अग्रिम श्लोक को कल्पित करता है :

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥

हे पार्थः जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह कैसे किसी को मार और मरवा सकता है.

३.२."*कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्* " :

परमार्थ के निर्वचन में अनुपपत्ति का सुविचारित प्रयोग : यहां 'वेद' (जो जानता है) यह पद आत्मा के तात्त्विक स्वरूप की अविविक्त, अखण्ड समझ को बताता है. यह समझ भाषा की ही उपलब्धि है. विशेषण में रूपान्तरित क्रियासम्बन्ध में विमर्श (प्रतीयमान के आक्षेप) की सामर्थ्य भले ही पूरी तरह समाप्त न हो, काफी हद तक क्षीण जरूर हो जाती है. क्षीण रूप में भी जो क्रियासम्बन्ध बच रहता है, वह अनुपपत्ति का रूप लेता है, जो विस्मय को जन्म देकर निःश्शेष हो जाती है, बिना किसी विमर्श या उपपादक परिकल्प को जन्म दिए, जिसके लिए उसमें अब कोई सामर्थ्य शेष नहीं है. प्रतीयमान के विमर्श के लिए अब कोई सामर्थ्य बचती नहीं. बचती है तो अविविक्त सत् की निर्विशेष चेतना. यही रहस्य है इस अनुपपत्ति वाक्य का — ***कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्.***

विमर्श के कार्यभूत **'भाव'** के निराकरण के बाद जो बच रहता है, वह हैं **सत्** और **असत्** की कोटियां, सर्वथा असम्बद्ध और विमर्शशून्य, इस सीमा तक एकाकी कि उन्हें विरुद्धार्थ भी नहीं कहा जा सकता. अनुपपत्ति तात्त्विक कोटियों का अनुवाद मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं. उसकी यह विशेषता ही तत्त्व में बिना किसी प्रतीयमान का सृजन किए, उसके अविकृत यथार्थ

को कहने की शैली बन जाती है. तत्त्वानुभव को अनवद्य अभिधान देने के लिए गीता इस शैली का सहारा लेती है. जिस परमार्थ को कहने के लिए साम्प्रदायिक विद्वान् भारी भरकम व्याख्याकल्पों का सहारा लेते हैं, उसे गीता अपनी अनुद्धत, बेमालूम सी शैली में सहज ही बड़ी कुशलता के साथ कह जाती है.

जिसे भाषा कह नहीं सकती, उसे वह भंगिमा और संकेतों से सुझाती है. '*यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह*', यह कह कर उपनिषद् उस परमार्थ की पहचान करते हैं, जो भाषा की पकड़ के बाहर है, जिसे बिना पाए, मनसहित वाणी वापस लौट आती है. किन्तु यहां भी अपनी विरामभूमि को संकेतदान किए बिना, भंगिमा से ही सही, वाणी खाली हाथ वापस नहीं लौटती. प्रकृत एकक में भाषा की गैर पारम्परिक सम्भावनाओं का, उन सम्भावनाओं का जिन्हें सामान्यतया पारम्परिक दार्शनिकचिन्तन संदेह की दृष्टि से देखता है, नपातुला दोहन यहां देखने को मिलता है. भाषा की आत्यन्तिक सम्भावनाएं तो काव्य में ही मुखर होती हैं. अनादि काल से मन्त्रदृष्टा ऋषि, रहस्यवादी विचारक और सूफी सन्त, काव्य की सर्जनात्मक भाषा में अनन्त को समेटने की, जो अव्यक्त है उसे कहने की कोशिश करते रहे हैं.

उपदेश के काव्यमय उपसंहार की भूमिका :

गीता का यह प्रसंग, आत्मशाश्वतवाद का एक समग्र एवं उद्देश्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है. '*वासांसि जीर्णानि यथा विहाय ...*' इस श्लोक से प्रारम्भ अग्रिम एकक, इस सम्पूर्ण चिन्तन को काव्यमय उपसंहार देता है. आत्मा का यह काव्य सामान्यजन में तत्त्वदर्शन के गूढ़ रहस्यों की सहजप्रतिपत्ति तथा विशिष्ट जनों में इसके मनन और धारणा को सुनिश्चित करता है. अपनी इस विशेषता के कारण गीता के ये स्थल बहुत लोकप्रिय हुए है. अग्रिम एकक में विचार के लिए प्रस्तावित है आत्मतत्त्व विचार का काव्यमय उपसंहार.

■ ■ ■

पंचम एकक:

(आत्मशाश्वतवाद का काव्यमय उपसंहार)

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्युपर्युक्ते निष्कृष्टार्थे दुरूहत्वात् कस्यचिदेव मनीषोन्मेषः। अतो सर्वजनप्रतिपत्त्यर्थं प्रवर्ततेऽत्र तत्त्वचिन्तनस्य काव्यावतरणं श्लोकचतुष्टयात्मकम्।

भूतार्थविध्यर्थयोः पूर्वस्थापितविभागपरम्परामनुसरत्येककस्यास्य श्लोकचतुष्टयात्मकं कलेवरम्। प्रथमश्लोकत्रयं (२२-२४) निपुणोपमासंयोजनेनाद्बोधयति जीर्यमाणवस्त्रोपमितकलेवरभिन्नं शश्वदात्मभावं, यतोऽस्यान्तिमः श्लोको *'नानुशोचितुमर्हसि'* इति निष्कर्षे प्रस्तौत्यात्मशाश्वतवादस्य मूल्यानुवादम्। एवं भागद्वये तत्त्वमूल्ययोः संग्रहं कुर्वन्नयमेककः कल्पते आत्मत्मशाश्वतवादप्रकरणस्य काव्यमयोपसंहारम्।

(क) वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

(ख) अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२५॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये (वस्त्रों को) ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नए (शरीरों को) प्राप्त होता है (२२). इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता, और वायु सुखा नहीं सकती (२३). अच्छेद्य (जिसे काटा नहीं जा सकता), अदाह्य (जिसे जलाया नहीं जा सकता),अक्लेद्य (जिसे भिगोया नहीं जा सकता) और निःसंदेह अशोष्य (जिसे सुखाया नहीं जा सकता), यह आत्मा नित्य है, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है (२४). इस आत्मा को अव्यक्त, अचिन्त्य और विकाररहित कहा जाता है; इससे (हे अर्जुन!) इस आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जानकर (तू) शोक करने के योग्य नहीं है (२५).

१. **अत्रार्थगर्भस्तु शरीरस्य नश्वरभावास्पृष्टस्य शरीरिणः शश्वदविकारिस्वरूपस्योद्बोधनम्। प्रथमः श्लोकः उपमया साकारमवतारयतीमं केन्द्रीयार्थम् –'*वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि*' इति। अग्रिमः श्लोकः शरीरविक्रियोपपादकानां लोकप्रसिद्धक्रियाणामात्मन्यविषयतां निदर्शयन्, उद्भावयत्यविकारिभावमात्मनः। तृतीयः श्लोकः रूपान्तरयति पूर्वोक्ताः क्रियाव्यतिरकाः विशेषणेषु। तथाहि – '*अच्छेद्योऽयं*' इतीदं हि '*नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि*' इत्येतस्य विशेषणे संहरणम्। तथैव '*अदाह्योऽयं*', '*अक्लेद्योऽयं*', '*अशोष्य एव*' इति वाक्यानि क्रमशः '*नैनं दहति पावकः*', '*न क्लेदयन्त्यापो*', '*न शोषयति मारुतः*' इत्येतेषाम्। क्रियापदानां संकोचमिदं हि सज्जीकरणमुत्तरार्धे प्रस्तुतस्याविक्रियमाणस्य चेतनायां खलूत्प्लवनाय–*अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते*' इत्येतायाम्। अत्र प्रयुक्तविशेषणपदानि अव्यक्तादीनि आत्मातिरिक्तं कुत्रापि न संघटन्ते ।**

२. **मननप्रसंगस्य रेखाचित्रमिदम्। अवधेयं यदिदं नानुसरति निदिध्यासनोन्मुखमुपनिषदां साधनाक्रमम्। तद्विहाय, गीतायामात्मज्ञानमासन्नसन्दर्भे प्रवर्तते नानुशोचितुमर्हसीति प्रामाणिकाचरणोपकारकमनोदशायाः उद्धाराय।**

३. **एवं श्लोकचतुष्टयमिदमुपमारूढमात्मभावमुद्बोधयन्नन्वयव्यतिरेकिपद्धत्या तं मापयन् सर्जत्येकमद्भुतं दार्शनिकं काव्यं, काव्यं यच्छाश्वदात्मतत्त्वस्य सर्जनात्मकानुभूत्यां संकटापन्नव्यक्तित्वस्य तस्मिन् च कर्तव्यबुद्धेः करोत्युद्धारम्। एवमत्र तत्त्वदर्शननिमित्ताध्यात्मिकोपचारस्यैकां विशिष्टभूमिकायामवतरति तत्त्वज्ञानस्य काव्यावतरणम्।**

मूल्यस्य साकांक्षत्वात्, तत्त्वे निराकांक्षे बहिरङ्गं हि तत्। किन्तु साधकस्योपदेष्टुर्वा प्रयोजनानुसारं तत्त्वज्ञानस्य मूल्यवान्विनियोगो भवितुं शक्नोति। प्रयोजनगर्भितशक्तिसम्पन्नं तत्त्वज्ञानं भवति प्रवृत्तिनिवृत्तिविनियोगनिमित्तम्। एवमगणितविनियोगसम्भावनासम्भावितस्य तत्त्वज्ञानस्य द्वे विनियोगदिशौ भजेते ऐतिहासिकं महत्त्वम्। श्रवणमनननिदिध्यासनानां क्रममनुसरन् तत्त्वज्ञानं भवति आत्मसाक्षात्कारायेति औपनिषदीयाः। भिन्ना हि गीतायां तत्त्वज्ञानस्य साधनदिशा। गीतायां तत्त्वज्ञानं निदिध्यासनपथं विहाय उपनिषत्प्रमाणं, तत्त्वस्य श्रवणमनने प्रवर्तेते कर्तव्योद्धारस्य साधनायाम्। अस्याः साधनायाः द्वौ भागौ, भावोद्वेगविखण्डितव्यक्तित्वस्यैकीभावे प्रत्यानयनं, एवं पुनरुज्जीविते व्यक्तित्वे उद्धारः कर्तव्यबोधश्च। व्यक्तित्वोद्धारो हि कर्तव्यबोधस्योद्धारस्य पूर्वकल्पः। युद्धस्थलस्य सिंहावलोकनजनितभावातिरेकः खण्डशः कृत्वा विशीर्यते अर्जुनस्य सम्पूर्णं व्यक्तित्वम्। असहायो भूत्वा निरीक्षतेऽसौ स्वकीयमन्तरंगविघटनम्:

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्च परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।। गीता १.२८-३१

नैतिकानिश्चयस्त्वस्य व्यक्तित्वविप्लवस्यानुषंगिकोत्पादः कल्यवर्तः, उपर्युक्तविप्लव-वर्णनस्य एकपंक्तिमात्रिकापवादेन व्यञ्जितः– *'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे'*। अग्रेऽयमनिश्चयो गृह्णाति समधिकं स्पष्टमाकारं : *'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो, यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'* इति।

गीतायां तत्त्ववचनानि निरपवादमुपसंहरन्ति विधिवाक्येषु साक्षात् परोक्षं वा। तथा हि – *'नानुशोचन्ति पण्डिताः'*, *'धीरस्तत्र न मुह्यति'*, *'तांस्तितिक्षस्व भारत'*, *'तस्माद्युध्यस्व भारत'*, *नानुशोचितुमर्हसि'*, *'नत्वं शोचितुमर्हसि'*. एतेषां मध्ये द्रष्टव्यमेकं सूक्ष्ममन्तरम्। *तस्माद्युध्यस्व भारत'*, *'तांस्तितिक्षस्व भारत'*, इमे द्वे साक्षात् कर्मविधायकवाक्ये। यतो कर्म एव विधिविषयो भवितुमर्हति, युद्धकर्मणो विधाने न काऽपि विप्रतिपत्तिः। किन्तु *नानुशोचितुमर्हसि'*, *'न त्वं शोचितुमर्हसि'*, नेमे वाक्ये कर्मविधायके। वस्तुतो नास्ति शोकः

कर्तुमकर्तुं विषयः। अयं त्वेको मनोभावो अनैच्छिकत्वाद्विधेरविषयः। शोको भवति न भवति वा केवलं, किन्तु अयं नैव क्रियते, निषिध्यते, क्रियाविषयत्वात्। इयं तु भाषाया विवशता या शोकं प्रस्तौति क्रियासम्बन्धेन। शोकस्य तु उपचारो भवति न तु विधानम्। उपचारोऽयं मनोचिकित्सेति नाम्ना व्यपदिश्यते। सर्वश्रेष्ठोपचारस्तु तत्त्वसाक्षात्कार एव *'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः'* इति। किन्त्वयं दुर्गमः पन्थाः, श्रवणानन्तरं मनननिदिध्यासनयोः सुदीर्घसाधनासम्भवत्वादस्य। श्रुतस्य तत्त्वज्ञानस्य काव्यानुभवस्त्वस्य सहजो विकल्पः। काव्यं उपयुक्तबिम्बयोजनया तं परोक्षं साक्षादुपस्थापयितुं समर्थः। साक्षात्कारात्मकानुभूतिरेव सर्जनस्य रसात्मकतायाः रहस्यम्। काव्यस्य वैशिष्ट्यमिदं लौकिकेषु धार्मिकेषु च क्षेत्रेषु तत्त्वज्ञानायाभिनवसम्भावनानां द्वारं समुद्घाटयति।

काव्ये रूपान्तरितः श्रुतस्तत्त्वविचारो कल्पते व्यक्तित्वसंग्रहाय यथा मनननिदिध्यासनादि-सम्पन्नोऽयं आत्मसाक्षात्काराय । रसात्मकं तत्त्वदर्शनं व्यक्तित्वसंग्रहस्य साधनायाः मौलिकं तत्त्वमित्येषा प्रज्ञैव श्रीमद्भागवत्-पुराणस्याविर्भावनिमित्तम्। इति दिक्।

४. आध्यात्मिकसाधनायाः क्रमे – भवतु साधना ज्ञानस्य, कर्मणो भक्तेर्वा – व्यक्तित्वस्य यत्क्षेत्रमुपेक्षितमवशिष्यते तस्य संज्ञानं गृहणन्, तस्य संग्रहायोद्धाराय च परावर्तनं हि एकं विशुद्धं हिन्दूमूल्यमसाम्प्रदायिकम्। सर्वे धर्मसम्प्रदायाः तत्त्वनिष्ठा विधिनिष्ठा वा विदधत्येकांगि-साधनोपासनापद्धतीः। परिणामस्त्वेकांगिव्यक्तित्वानां निर्माणम्। भवतु वैष्णव-शैव-शाक्त-सम्प्रदायाः, ईसाई-इस्लाम-बौद्धादयो वा, जनयन्ति सर्वेऽपूर्णानि असंतुलितानि, विकृत व्यक्तित्वानि। वैचारिकवैमत्यं प्रत्यसहिष्णुता, विधौ उन्मत्ताभिनिवेशो, विधर्मिणां प्रति घृणासंवर्धक-हिंसोपपादक- मूल्यानामविचारित- प्रतिष्ठा, संगीत-मूर्ति-चित्रणस्य कलानां प्रति घृणा, सर्वमेतदपरिपक्वव्यक्तित्वस्यानुमापः यस्य निर्माणं करोतीस्लामधर्मस्यैकांगी आचारसाधना। हिन्दूधर्मे वेदान्तिनां, कतिपयश्रमणधर्माणामपि लोकनिरपेक्षबुद्धिवादः, शैवानां दम्भः, स्वेच्छाचारः शाक्तानां, वैष्णवानां प्रदर्शनपरायणता, परनिन्दारतिः, ईसाईधर्मावलम्बिनामात्म- सम्मोहितनैतिकम्मन्यतात्मश्लाघाचारोऽप्यापतन्त्यस्मिन्नेव समीक्षाक्रमे। वस्तुतः सर्वाणि साम्प्रदायिकविधानानि विहिताचारद्वारा व्यक्तेः समाजस्य वा उद्धाराय कल्पन्ते एकरूपं संस्कारम्। न किमप्यनुचितमस्मिन्। किन्तु विहिताचार-परिष्कृतं व्यक्तित्वं तावत् परमार्थस्य साधकं नैव भवितुमर्हति यावद् विहिताचारस्य साधनायां यन्नष्टो जातः तस्य पुनरुद्धाराय संग्रहाय च न प्रतिनिवर्तयति।

५. गीतायामात्मविचारो भवति क्रमशः व्यक्तित्वसंग्रहस्य (नानुशोचितुमर्हसीति) कर्तव्योद्धारस्य(तस्माद्युद्धस्य भारत) च साधनयोः निमित्तम् । विघटितव्यक्तित्वभूमौ न कापि साधना ज्ञानस्य नैतिकबोधस्य वा लभते स्थैर्यम्। अतो गीतायाः साधनापद्धतिः सरलं रैखिकं क्रमं विहायानुसरति वर्तुलं क्रमं, यस्मिन्नात्मतत्त्वस्य साधना प्रतिपदमनुसंदधति व्यक्तित्वभूमिं, यतो हि ज्ञानस्य कर्मणो वा ऐकान्तिकसाधनाया क्रमे यद् व्यक्तित्वविभाग उपेक्षितो नष्टप्रायो जातस्तस्यापि उद्धारो भवेत्। व्यक्तित्वसंग्रहस्येयं प्रक्रिया न केवलं साधकेषु अपितु जीवन्मुक्त-सिद्धजनेष्वपि द्रष्टुं शक्यते। श्रीमद्भागवतपुराणमस्य निकटनिदर्शनम्। पारमहंससंहितेति व्यपदेशेन सन्यासिनां शास्त्रमिदं येभ्यो न किमपि प्राप्तव्यं कर्तव्यं वावशिष्यते। आत्मभावे प्रतिष्ठितः 'सन्त' जनः यदा अवेक्षते स्वकीयं व्यक्तित्वं, दृष्टिपथमायाति तदा अस्योपेक्षितो दरिद्रो वैयर्थ्यदंशदंशितो भावपक्षः, मोक्षोद्दिष्टैकान्तिकसाधनायां यस्मै कापि सार्थकभूमिका दातुं नाशक्नोदसौ। स्वकीयस्योपेक्षित- व्यक्तित्वपक्षस्योद्धारं कुर्वन्ति परमहंस-योगिजनाः भगवतः रसमय-लीलानां गुणानुवादेन। अनेन तेषां सम्पूर्णसाधना भवति रससिक्ता । भावभूमिं स्पृष्ट्वा वैराग्योऽपि रागो भवति, आस्वाद्यो भवति – वैराग्यरागरसिकाः भुवि भावुकाः ये।

एकक विमर्श :

प्रकृत एकक के कथ्य को क्रमशः *तत्त्व* और *मूल्य* के दो परस्पर सम्बद्ध भागों में बांट कर समझा जा सकता है : अवतरण के प्रथम तीन श्लोक(२२-२४)उपमाओं के माध्यम से पूर्वप्रपंचित आत्मविवेक को परिकल्पित करते हुए, उपमाओं के निपुणसंयोजन के द्वारा आत्मा के शाश्वतभाव का उद्‌बोधन करते हैं, जब कि इसका अन्तिम श्लोक(२५) '*नानुशोचितुमर्हसि*' यह कहते हुए, उस जीवनमूल्य को रेखांकित करता है, जो उक्त तत्त्वदर्शन से प्राप्त है. इस प्रकार यह एकक अपने दो भागों में क्रमशः *तत्त्व* और *मूल्य* का संग्रह करते हुए, आत्मशाश्वतवाद के लिए एक समग्र काव्यमय उपसंहार का सृजन करता है.

इन चार श्लोकों की अन्तःसंरचना ध्यान देने योग्य है. यहां केन्द्रीय अर्थ है आत्मा के शरीर-सम्बन्ध के अतात्त्विक (बहिरंग) स्वरूप का निदर्शन. पहला श्लोक इस केन्द्रीय अर्थ को उपमा के द्वारा उपस्थित करता है – *वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि.* अग्रिम श्लोक शरीर में विकार उत्पन्न करने वाले प्रसिद्ध निमित्तों को गिनाते हुए, आत्मा में उनके अप्रयोजकत्व

के निदर्शन के द्वारा आत्मा के अविकारी स्वरूप को एक बिम्ब देता है. यथा *नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि',. ...'* आदि. तीसरा श्लोक अपनी पहली पंक्ति में इन क्रियाओं को व्यतिरेकी विशेषणों में रूपान्तरित करता है. यथा, *'अच्छेद्योऽयम्'* (यह आत्मा अकाट्य है) यह वाक्य '**नैन** *छिन्दन्ति शस्त्राणि'* का ही विशेषण रूप में संग्रह है. इसी क्रम में *'अदाह्योऽयम्'* यह वाक्य पहले कहे *'नैनं दहति पावक:'* के ही अर्थ का अनुवाद है. इस प्रकार अलग अलग क्रियाओं को व्यतिरेकी विशेषणों में रूपान्तरित करके उनका संग्रह करते हुए श्लोक की दूसरी पंक्ति *'नित्य: सर्वगत: स्थाणुरचलोऽयं सनातन'* यह कह कर आत्मा के भूतार्थ (पोजटिव कन्टेन्ट) को प्रस्तुत करती है. यतः इस अर्थ की प्रसक्ति आकाशादि जड़ पदार्थों में भी सम्भव है, चौथे श्लोक का पूर्वार्ध *'अव्यक्तोऽयम-चिन्त्योऽयमवकार्योऽयमुच्यते'* पुनः व्यतिरेकी विशेषणों के द्वारा इस भूतार्थ को इस प्रकार परिभाषित करता है कि उसका विवरण आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी घटित न हो सके.

ध्यान देने की बात यह है कि गीता में इस प्रकार निर्णीत यह आत्मोपदेश उपनिषदों के क्रम का अनुसरण करते हुए निदिध्यासन की ओर उन्मुख नहीं होता, अपितु प्रामाणिक आचरण के लिए अपेक्षित मनोदशा के विधान में पर्यवसित होता है — ***तस्मादेवं विदित्वैनं नैवशोचितुमर्हसि.***

१. श्लोक *'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय ...'* :

शश्वदात्मा और नश्वर शरीर के सम्बन्ध की गुत्थी : विवेच्य अवतरण के तीन श्लोक (२२-२४) पहले आए उपक्रम सूत्र *'अजो नित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'* (२. २०) का ही काव्यमय विवरण है. यदि आत्मा नित्य है, अजन्मा और शाश्वत है, यदि शरीर की मृत्यु होने से आत्मा का मरण नहीं होता, तो फिर मृत्यु का अर्थ क्या होगा? शाश्वत आत्मा और नश्वर शरीर के बीच सम्बन्ध का क्या रूप हो सकता है? इन प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए अभी तक हुए विशुद्ध सैद्धान्तिक चिंतन को एक अर्थपूर्ण उपमा के द्वारा जीवन्त करते हैं :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

जैसे जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर के मनुष्य नये वस्त्र ग्रहण करता है वैसे ही यह आत्मा जीर्ण शरीरों का परित्याग कर के अन्य नये शरीरों को ग्रहण करता है.

१.१. उपमा के द्वारा शरीरात्म-सम्बन्ध का निर्वचन :

मनुष्य द्वारा जीर्ण वस्त्रों के विसर्जन और नवीन वस्त्रों के ग्रहण की उपमा केन्द्रीय महत्त्व रखती है. आत्मशाश्वतवाद की कुछ आधारभूत मान्यताएं यथा —आत्मा का शाश्वत स्वरूप, नश्वर शरीर के साथ उसका सम्बन्ध, इस सम्बन्ध का बहिरंग, आरोपित रूप तथा इसमें सातत्य को सुनिश्चित करने के लिए पुनर्जन्म की अवधारणा — ये मान्यताएं जो हिन्दू आस्था के लिए भी आधारभूत हैं, इस उपमा में इतने सुन्दर ढ़ंग से पिरोई गई हैं कि इस एक श्लोक को हटा कर पाठ किया जाए तो ऊपर के ११ श्लोकों में फैला आत्मशाश्वतवादी चिन्तन अपर्याप्त एवं अनुपसंहारी लगने लगता है. यह काव्य का ही सौन्दर्य है, जो सिद्धान्त-चिन्तन में छूट गए अंधेरे कोनों को अनायास आलोकित कर देता है. यहां यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि गीता के ये स्थल, संसार के श्रेष्ठ दार्शनिक काव्य रूप में अपनी पहचान बनाते हैं.

१.२. आत्मा का अविकारी स्वरूप :

शरीर का आरोप और पुनर्जन्म की अवधारणा : आत्मा के लिए एक शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करना उसी प्रकार है जैसे कोई व्यक्ति पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नये वस्त्र ग्रहण कर ले. उपमा से जो पहली बात उभर कर सामने आती है वह यह कि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध बहिरंग है अन्तरंग नहीं.

दूसरी ध्यान देने योग्य बात इस उपमा के बारे में यह है कि इसके द्वारा गीता में पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ओर दूसरी बार संकेत किया गया है. पहला संकेत हमें श्लोक *'नत्वेवाहं जातु नासम्'* (२.१२) में मिलता है. पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दू-आस्था की केन्द्रीय मान्यताओं में से एक है. अतः धर्मदर्शन की दृष्टि से ये संकेत महत्त्वपूर्ण हैं. जैसे वस्त्र बदलते रहते हैं, इससे उन्हें धारण करने वाले शरीर में कोई परिवर्तन नहीं आता, उसी तरह पुनर्जन्म के फलस्वरूप नये शरीर धारण करने पर भी आत्मा अविकारी बना रहता है. आत्मा का यह अविकारी स्वरूप, जिसकी विगत एकक में विस्तार से चर्चा हो चुकी है, यहां पैनी, भलीभंति तरह तराशी गई उपमाओं के द्वारा जीवन्त हो उठता है :

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्य: सर्वगत: स्थाणुरचलोऽयं सनातन:॥२४॥

इसको न शस्त्र खण्डित कर सकता है, न अग्नि जला सकती है, जल इसे भिगो नहीं सकता, पवन इसको सुखा नहीं सकता. अच्छेद्य, अदाह्य अक्लेद्य और अशोष्य, यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु, अचल और सनातन है.

१.३. *नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि ...'* :

उपमाओं के द्वारा अविकार के अर्थ का सृजन : ऊपर दिए श्लोकों का भावार्थ इतना ही है कि शरीर में होने वाले विकार आत्मा को नहीं छूते. प्रथम श्लोक इसी भाव को काव्यार्थ में रूपान्तरित करता है. काव्य की यह विशेषता है कि वह अर्थ को कहता नहीं, उसे दिखाता है; उपयुक्त बिम्बों के द्वारा उसका सृजन करके उसका साक्षात्कार कराता है. विकार एक भाव है, अमूर्त और रंगहीन. शरीर में इसके अर्थ का संग्रह करने के लिए खण्डित होने, जलने, भीगने और सूखने जैसे लोकप्रसिद्ध अनुभव-बिम्बों का चुनाव किया गया है.

जहां तक *विकार* के अर्थ की बात है उसके निदर्शन के लिए इतना काफी है, किन्तु काव्यार्थ के साकार होने के लिए अभी और कुछ चाहिए. एतदर्थ वैकारिक क्रिया को उसके समस्त उपस्कार के साथ रंगे हाथों पकड़ने की कोशिश की गई है. इस उपक्रम में निमित्त कारण (शस्त्र), छेदनक्रिया और उसके द्वारा कर्म (शरीर) में उत्पन्न विक्रिया — ये तीनों मिल कर विकार के उस बिम्ब को तराशते हैं, जिसके निषेध पर आरूढ़ हो कर आत्मा का अविकारी रूप अपने को प्रगट करता है. इस प्रकार मूर्तिमान् विकार का मुखर होता निषेध, अविकृत आत्मतत्त्व की व्यञ्जना में पर्यवसित होता है.

इस क्रम में *'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'* इस कथन के बाद, अग्नि, जल और वायु से उत्पन्न विकार, मूर्तिमान् होते, अपनी इयत्ता को बताते, अपनी असामर्थ्य को उजागर करते, अपनी अनुगूंज के सहारे रास्ता टटोलते, अपने ही द्वारा बनाए, अव्यक्त के निषेध प्रतियोगी बिम्ब से टकरा कर टूटते बिखरते, समवेत हो कर उस आत्मभाव को जगाते हैं जो अव्यक्त है, शश्वद् और अप्रतियोग्य है. **भाषा जब अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके कुछ कहना चाहती है तो काव्य ही उसकी शरण है.**

१.४. वाक्यार्थ का विशेषण में अवकुञ्चन : एक लम्बी छलांग की तैयारी :

जो शस्त्र की मार के बाहर है, जिसे आग जला नहीं सकती, आखिर वह है क्या ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ये वाक्य ही विशेषण रूप में संकुचित होकर आत्मा के स्वरूपोद्‌बोधक बन बैठते हैं. जो शस्त्र की मार के बाहर है उसे *अच्छेद्य* (अकाट्य), जिसे आग जला नहीं सकती उसे *अदाह्य,* जिसे पानी भिगो नहीं सकता उसे *अक्लेद्य* और जिसे हवा सुखा नहीं सकती उसे *अशोष्य* कहते हैं. इस प्रकार अग्रिम श्लोक की पंक्ति '*अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च',* पहले कही बात को ही नई भंगिमा में प्रस्तुत करती है.

इस स्थल में पुनरुक्ति दोष सुव्यक्त है, और जिन्होंने इसकी बात उठाई है वे प्रथम दृष्ट्या गलत नहीं हैं. किन्तु काव्य की दृष्टि से देखें, तो यहां अर्थ निर्माण की प्रक्रिया अभी चल रही है; अभी तो कोई अर्थ सिद्ध ही नहीं हुआ, अतः पुनरुक्ति की बात कही भी कैसे जा सकती है? काव्य में भाषा अर्थ की तटस्थ संवाहक नहीं होती; वह अपनी भंगिमा के द्वारा उसका सृजन करती चलती है और अर्थ की एक विशिष्ट विधा को, जिसे काव्यार्थ कहते हैं, जन्म देती है.

निःसन्देह *'अच्छेद्योऽयं'* यह कथन *'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'* इस वाक्य का अनुवाद है. किन्तु जो ध्यान देने की बात है वह यह कि इसमें 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' के अर्थ का विशेषण (अच्छेद्य) में संकुचन करते हुए संग्रह किया गया है. वाक्यार्थ का विशेषण रूप में यह संकोच विशेष्य का निकट संज्ञान है. इसके साथ ही यह एक लम्बी छलांग की तैयारी भी. जो अव्यक्त है उसके स्वरूप में सीधे प्रवेश की तैयारी है यह अर्थसंकोच. ऐसे ही उद्देश्यपूर्ण संकुचन का सजीव चित्रण हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल इन शब्दों में करते हैं —

नवनि नवनि बहु अन्तरा नवनि नवनि बहु बान।
ये तीनों बहुतै नवैं चीता चोर कमान।।

चीता शिकार पर झपटने से पहले अपने बदन को संकुचित कर लेता हैं. यह संकुचन धनुष और चोर के व्यवहार में भी देखा जाता है. उनमें संकुचन की बानगी अलग अलग होते हुए भी प्रयोजन एक ही होता है : उद्देश्य का प्रगाढ़ संज्ञान और उसकी ओर उन्मुख होने से पूर्व सामर्थ्य का केन्द्रीकरण.

इस प्रकार का उद्देश्यपूर्ण संकुचन शब्द के व्यवहार में भी देखा जाता है, और उसकी *'बान'* भी इन सबसे विलक्षण होती है. *'अच्छेद्य,'' अदाह्य'* आदि पदों में पूर्वोक्त अर्थ का संकुचन, उनमें बैठे 'भेद' का 'भाव' में रूपान्तर, अनन्तर विशेषण रूप से आत्मा में उसकी प्रतिष्ठा —विशेष्य (आत्मा) के निर्विशेष स्वरूपाभिधान में प्रवेश के ये सुतर्कित सोपान हैं. उपर्युक्त रीति से पूर्व श्लोक के कथ्य का संग्रह करते हुए, आत्मशाश्वतवाद का प्रकरण इस निष्कर्ष के साथ पर्यवसित होता है : ***नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः*** *— समस्त भौतिक विकारों से परे, आत्मा की सत्ता नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर तथा सनातन है.* अग्रिम श्लोक इस निष्कर्ष का संग्रह करते हुए, इसके व्यावहारिक, नैतिक उपपत्ति को रेखांकित करता है :

(ख) **अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।**
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२५॥

इस आत्मा को अव्यक्त, अचिन्त्य और विकाररहित कहा जाता है. इसलिए (हे अर्जुन!) इस आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जानकर (तू) शोक करने के योग्य नहीं है.

इस श्लोक का पूर्वार्ध, 'अव्यक्त', 'अचिन्त्य' और 'अविकारी' शब्दों के द्वारा पहले के श्लोक में कहे आत्मा के स्वरूप का संग्रह करते हुए उसका व्याख्यान करता है. यह गीता की विशिष्ट शैली है जिसका प्रयोग उन स्थलों पर किया गया है जो मनन के योग्य समझे गए हैं

२. श्लोक *अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम् ...'* :

आत्मतत्त्व के मनन प्रसंग का रेखाचित्र : ठीक पहले कहे श्लोक(२४) में आत्मा के स्वरूप को बताने के लिए पांच विशेषणों का प्रयोग हुआ है. *नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल* और *सनातन.* इनमें *नित्य* और *सनातन* समानार्थक हैं; *स्थाणु* और *अचल, ये* शब्द भी समानार्थक हैं. इस प्रकार यहां पांच शब्दों के द्वारा वस्तुतः अर्थ की तीन इकाइयां प्राप्त होती हैं.

उपर्युक्त इकाइयां अर्थ के परमाणु हैं, जिन्हें आगे विखण्डित, विश्लेषित नहीं किया जा सकता. इनके अर्थ को केवल उनके लोकप्रसिद्ध विरुद्धार्थ के निषेध के द्वारा ही समझा समझायाा जा सकता है. जो नित्य है वह व्यक्त नहीं हो सकता, जो सर्वगत है वह चिन्तन का विषय नहीं हो सकता, और जो स्थाणु है वह विकारी नहीं हो सकता. इस प्रकार प्रकृत श्लोक के *अव्यक्त, अचिन्त्य* और *अविकारी* ये शब्द, पहले कहे गए *नित्यः, सर्वगतः* और *स्थाणुः* इन पदों के क्रमिक व्याख्यान हैं. मननवीथी

के इन सोपानों को रेखांकित करता नीचे दिया विवरण उनके लिए अवश्य उपयोगी होगा जो गीता को पाठ और प्रवचनों का नहीं बल्कि साधना और व्यक्तित्व के उद्धार का शास्त्र मानते हैं.

२.१. *'अव्यक्तोऽयम्'* : आत्मा के नित्य स्वरूप का व्याख्यान : यहां 'अव्यक्त' का अर्थ है जिसका कोई प्रतिरूप, कोई प्रतिभास न हो. जो व्यक्त है, जिसका आभास होता है वह परिच्छिन्न है, परिच्छिन्न होने के कारण भंगुर है, अनित्य और अतात्त्विक है. यहां आत्मा को अव्यक्त कह कर उसके तात्त्विक स्वरूप को रेखांकित करते हुए, पूर्वप्रयुक्त 'नित्यः' पद की व्याख्या की गई है.

आभास(व्यक्ति) सदा ही अतात्त्विक होता है. कोई आभास तत्त्व में प्रतिष्ठित है या अतत्त्व (किसी पूर्व प्रतीति) में, इससे आभास की अतात्त्विकता में कोई असर नहीं आता. जहां आभास अतत्त्व में प्रतिष्ठित है, वहां तो वह मिथ्या है ही, किन्तु जहां कोई आभास अपनी सत्ता के अधिष्ठान को परिकल्पित करता हो, वहां भी उसे *तत्त्व का आभास* नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे तत्त्व और आभास का अन्तर समाप्त हो जाएगा; आभास में तात्त्विकता की, जो अनित्य है उसमें नित्यता की प्रसक्ति होने लगेगी, जो कि अनभीष्ट है. इतना ही नहीं. अनित्य व्यक्ति(आभास) की नित्य आत्मा में प्रतिष्ठा करने पर स्वयं आत्मा में अनित्यता की प्रसक्ति होने लगेगी. अतः ***अव्यक्त*** शब्द से आत्मा का निर्वचन आभासों के अनित्य संसार से अत्यन्त विविक्त,आत्मा की अन्तर्मुखी, स्वरूपारूढ़ नित्यता का व्याख्यान है.

उक्त व्याख्यान का तत्त्वचिन्तन की साधना के लिए विशेष महत्त्व है. सामान्य जन अपने शरीर, मन या बुद्धि के रूप में आत्मा की पहचान करते हैं; यथा *'मैं दुबला हूं,'* *'मैं मोटा हूं'* *'मैं बधिर हूं'* आदि. पुनः *'मैं सुखी हूं'* *'मैं दुःखी हूं',* इस प्रकार के व्यवहार में मनोद्वेगों के रूप में भी आत्मा का परिचय प्राप्त होता है. ये अभिज्ञान वस्तुतः विभिन्न भौतिक, जैविक और मनोवैज्ञानिक धरातलों पर आत्मा की अभिव्यक्तियां या आभास हैं, जिनमें युगपत् प्रसक्त एकीभाव समस्त व्यक्तियों से परे अपने तात्त्विक आलम्बन रूप में आत्मा को परिकल्पित करता हैं, साथ ही इस बात को भी रेखांकित करता है कि अनित्य होने के कारण शरीरादि में होते आत्माभास, अपने नित्य रूप में प्रतिष्ठित आत्मा के तात्त्विक स्वरूप का परिचय नहीं हो सकते. अतः शरीर, मन, बुद्धि आदि में होते आत्माभासों से क्रमशः अलग करते हुए आत्मा के तात्त्विक स्वरूप का चिन्तन होना चाहिए.

'अव्यक्तोऽयम्' यह वाक्य, आत्मा के नित्य स्वरूप में शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि प्रतीयमानों के क्रमिक निषेध के द्वारा अव्यक्तोद्दिष्ट साधनापथ को रेखांकित करता है. आत्मा के नित्य स्वरूप की व्याख्या करता अव्यक्त का यह विमर्श, साधकों के लिए मनन की प्रक्रिया का मानचित्र उपलब्ध करता है.

२.२. *'अचिन्त्योऽयम्'* : पूर्व श्लोक में आए *'सर्वगतः'* पद की व्याख्या :

अचिन्त्य पद के द्वारा आत्मा के सर्वगतत्व की व्याख्या की गई है. चिन्तन मन के व्यापार विशेष का नाम है, उसका जो अविषय है उसे कहते हैं *अचिन्त्य.* बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहीत अनुभव को भाषा के संसर्ग के योग्य इकाइयों में विभाजित करके, भाषा के सांचों में रूपान्तरित अनुभव को अपने विमर्श का विषय बनाती है. भाषा के सांचों में ग्रहीत वस्तु के विग्रह के सागोपांग विश्लेषण का नाम है चिन्तन. इसकी संरचना ही ऐसी है कि यह भाषायी प्रत्ययों में ढली अर्थ की सीमित, परिच्छिन्न इकाइयों को ही अपने व्यापार का विषय बनाता है. जो सर्वगत है, सर्वव्यापी है, वह स्वरूपतः चिन्तन का अविषय है. आत्मा के सर्वगतत्व को व्याख्यायित करने के लिए उसे अचिन्त्य कहा गया है.

भाषा के सांचों में ग्रहीत विग्रह का विवेचन व्यक्त का विवेचन होगा. जो स्वरूपतः अव्यक्त है, वह तो चिन्तन की प्रक्रिया के द्वारा ही उसकी परिधि से बाहर हो जाता है.

यहां यह कहा जा सकता है कि यदि बुद्धि भाषा के सांचों में ढले प्रतीयमान का ही ग्रहण करती, तो बुद्धि की यह असामर्थ्य समस्त ज्ञान में निर्विशेष रूप से प्रसक्त होगी और तब आत्मा ही नहीं, संसार की समस्त वस्तुएं अचिन्त्य हो जाएंगी और इससे घट पटादि वस्तुओं में तन्निरूपित व्यवहार का लोप हो जाएगा. पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट ने इसी आधार पर अपने चिन्तन में शश्वदप्रमेय **भूतार्थ** (thing in itself) की परिकल्पना की है.

किन्तु अचिन्त्य के अतिप्रसंग की ऐसी कोई संभावना गीता के संदर्भित आत्मचिन्तन में नहीं बनती. गीता में आत्मा को अचिन्त्य इसलिए कहा है, क्योंकि वह *अव्यक्त* और *अविकारी* है. जो व्यक्त है और व्यक्त रूप में विकार को प्राप्त हो रहा है, वही चिन्तन का विषय हो सकता है. जो स्वरूपतः अव्यक्त है, वह चिन्तन के प्रक्षेपण के लिए कोई प्रतिरूप, कोई प्लेटफार्म, देता ही नहीं, इसलिए उसे अचिन्त्य कहा है. घटपटादि अनात्मभूत लौकिक वस्तुएं व्यक्त और विकारी

सत्ताक होने से, समसत्ताक प्रमाणव्यवस्था के द्वारा उनके ग्रहण और चिन्तन में कोई अनुपपत्ति नही हो सकती. जो व्यक्तसत्ताक है वह अचिन्त्य नहीं हो सकता, और जो अव्यक्त है उसे व्यक्त की चिन्तन-परिपाटी का विषय नहीं बनाया जा सकता. इस विवेक के अनुसार गीता में प्रयुक्त *अचिन्त्य* पद केवल आत्मा में ही घटित होता है, अन्यत्र लौकिक वस्तुओं में उसके अतिचार का प्रसंग नहीं बनता.

२.३. *'अविकार्योऽयमुच्यते'* :

पूर्व श्लोक में आए 'स्थाणुः' और 'अचलः' पदों की व्याख्या : *अविकारी* पद से आत्मा के सम्बन्ध में कहे *'स्थाणु'* और *'अचल'* पदों का स्पष्टीकरण दिया गया है. 'स्थाणु' का अर्थ है स्थिर. इसी अर्थ को *'अचल'* पद से कहा है. इन शब्दों का अर्थ स्तम्भ, चट्टान और पर्वतादि जड़ वस्तुओं में रूढ़ है, और जड़ता के भाव का आक्षेप करता है. अतः आत्मा के लिए इनका प्रयोग अर्थ के परिष्कार की अपेक्षा रखता है. इस अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए पूर्वोक्त पदों के अर्थ का संग्रह करते हुए *अविकारी* पद के द्वारा इनके अर्थ का उद्देश्योचित परिष्कार किया गया है. यह परिष्कार इन पदों के अर्थ को क्रमशः मन, बुद्धि और आत्मा के अपेक्षाकृत सूक्ष्म तलों तक विस्तार देता है. अनन्तर स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थों के विकारी रूप का निदर्शन कराते हुए, आत्मा के अविकारी स्वरूप की धारणा में प्रवेश होता है. वस्तुतः यह धारणा आत्मा के *स्थाणु* और *अचल* स्वरूप की ही धारणा है किन्तु इस तक पहुंचने का रास्ता *अविकार* के सोपान से हो कर जाता है.

विवेच्य स्थल के पाठ के बाद जो मनन की प्रक्रिया बनती है, या बन सकती है, उसका एक रेखाचित्र यहां प्रस्तुत किया गया है. यह प्रक्रिया सभी पाठकों में इसी रूप में बने यह आवश्यक नहीं है. प्रत्येक पाठक में उसके बौद्धिक परिवेश के अनुसार इसका रूप अलग अलग हो सकता है.

२.४. तत्त्वज्ञानोपदेश का काव्यमय उपसंहार : एकक के ये चार श्लोक क्रमशः उपमा के द्वारा शरीर से भिन्न, आत्मभाव को उद्‌बुद्ध करते हुए, अन्वय-व्यतिरेक की पद्धति की सहायता से उसे परिभाषित करते हुए, एक अद्भुत दार्शनिक काव्य का सृजन करते हैं; एक ऐसा काव्य जिसमें शाश्वत आत्मतत्त्व की चेतना, सामयिक संदर्भों में दायित्वबोध को जाग्रत करते हुए उसे

एक आश्वस्त करनेवाले आधार में प्रतिष्ठित करता है. दायित्वबोध के उद्धार की पहली शर्त है व्यक्तित्वसंग्रह, बिखरे हुए व्यक्तित्व का पुनर्गठन. यह कार्य तत्त्वदर्शन का नहीं काव्य का है, या यों कहें कि तत्त्वदर्शन के काव्य का है. यहां तत्त्वविचार एक नए अन्दाज में, एक नई भूमिका में सामने आता है, जिस पर विचार होना जरूरी है.

३. व्यक्तित्व के उद्धार में तत्त्वदर्शन के काव्य की भूमिका :

यह केवल संयोग नहीं है कि संसार के प्रमुख धर्मग्रन्थ उत्कृष्ट काव्य भी हैं. इनके काव्यार्थ की चर्चा करेंगे तो असमाहार्य विस्तार हो जाएगा. अतः यथासम्भव, गीता के सन्दर्भ और उनमें काव्यार्थ की भूमिका तक ही चर्चा को सीमित रखेंगे.

शोक व्यक्तित्व का विघटन करता है. कर्तव्यबुद्धि और कर्मेन्द्रियों को कुण्ठित करते हुए, वह व्यक्ति को दीन निरुपाय और अर्थशून्य बनाता है. गीता में अर्जुन को इससे उबारने के लिए तत्त्वज्ञान का उपदेश हुआ है. तत्त्वज्ञान, व्यापक सन्दर्भ में शोक की तुच्छता का बोध करते हुए उसके बोझ को हल्का और सहन करने योग्य तो बनाता है, लेकिन शोक के कारण व्यक्तित्व में जो दरार आ जाती हैं, जो बिखराव आ जाता है उससे उबार पाना तत्त्वदर्शन के सामर्थ्य की बात नहीं. इसके लिए आवश्यकता होती है तत्त्वज्ञान की साधना की या फिर उसके सर्जनात्मक अवगाहन की, रसात्मक तत्त्वज्ञान की, जो सर्जनात्मक अनुभूति के द्वारा व्यक्तित्व का पुनर्गठन कर सके. शोकापनयन और कर्तव्यबोध का उद्धार तो व्यक्तित्व के पुनर्गठन की प्रक्रिया के आनुषंगिक उत्पाद मात्र हैं. मुख्य बात तो कर्तव्यभूमि यानी विघटित व्यक्तित्व के एकीभाव में उद्धार की है. यह कार्य सम्पन्न होता है तत्त्वदर्शन के काव्य के द्वारा (अकेले तत्त्वज्ञान में इसके लिए कोई सामर्थ्य नहीं होती). इस विशिष्ट भूमिका को ध्यान में रखते हुए, गीता में आत्मशाश्वतवाद का काव्यमय उपसंहार निकट विवेचन की अपेक्षा रखता है.

गीता के आत्मशाश्वतवाद का आधार हैं उपनिषद्. आत्मतत्त्व की साधना के लिए उपनिषदों में क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासन का विधान किया गया है(*श्रोतव्यो, मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः*). यहां ध्यान देने की बात यह है कि गीता में आत्मतत्त्व का श्रवण और मनन, अर्जुन के लिए निदिध्यासन में नहीं अपितु कर्तव्यबोध के उद्धार में पर्यवसित होता है. यह औपनिषदिक परम्परा से एक महत्त्वपूर्ण व्यतिरेक है, जो गीता में तत्त्वज्ञान की साधना को एक

अलग ही दिशा देता है. इस साधना के दो भाग हैं : कर्तव्यविभ्रमजनित-भावोद्रक के दवाब में विखण्डित हुए व्यक्तित्व का संग्रह, तथा उसमें कर्तव्यबोध का उद्धार. जैसा कि कहा जा चुका है, अपेक्षित सामर्थ्य से सम्पन्न होने के कारण, व्यक्तित्व-संग्रह में प्रमुख भूमिका होती है तत्त्वदर्शन के काव्य की.

स्पष्ट है कि *'अविनश्वर आत्मा के ये शरीर अन्तवाले हैं'* इस तत्त्वज्ञान से *'इसलिए तू युद्ध कर'* यह जो विधि प्राप्त होती है, वह सरल निगमन नहीं है. यहां दोनों के बीच परिकल्पित है, व्यक्तित्व के रूपान्तरण की एक लम्बी प्रक्रिया. कारण यह कि तत्त्वदर्शन सिर्फ 'दर्शन' होता है; कर्म का उत्प्रेरक होने की उसमें कोई सामर्थ्य नहीं होती. अतः तत्त्वदर्शन, अभिनव भूमिका के लिए अपने को पहले काव्यार्थ में रूपान्तरित करता है, अनन्तर सर्जनात्मक शक्ति से सम्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान, पहले विखण्डित व्यक्तित्व का और फिर उसमें कर्तव्यबोध का उद्धारक बनता है. यह क्रम है तत्त्वज्ञान से कर्तव्यविधि तक पहुंचने का. इसके प्रत्येक अनुबंध पर निकट से विचार करेंगे.

३.१. व्यक्तित्व के बिखराव की समस्या :

गीता में निदर्शन : युद्धस्थल का सिंहावलोकन अर्जुन में जिस प्रबल भावातिरेक को जन्म देता है, वह उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को विखण्डित करके रख देता है. अर्जुन अपने भीतर से हो रहे इस विखण्डन को असहाय हो कर देखता है.

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्च परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे। गीता १.२८-३१

नैतिक अनिश्चय तो इस उथलपुथल का एक छोटा सा आनुषंगिक उत्पाद है, जिसे *'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे'*, इस एक वाक्य में जगह दी गई है. यह अनिश्चय आगे चल

कर और पैना रूप लेता है जब हम अर्जुन को यह कहते सुनते हैं : *'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो, यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'.*

व्यक्तित्व के बिखराव की यह समस्या अर्जुन की ही हो, ऐसा नहीं है. जो सर्वात्मना समर्पित भाव से धर्मविधान का पालन करते हैं, समस्या उनके सामने भी आती है, और उनमें से अधिकांश इसे अपनी आस्था की नियति मान कर झेलते रहते हैं.

३.२. धर्मविधानों में ढले, विकृत, एकांगी व्यक्तित्व :

अधिकांश धर्मविधान व्यक्तित्व के बौद्धिक, कार्मिक और भावनात्मक पक्षों में से किसी एक को केन्द्र में रखकर धर्म का विधान करते हैं. स्वयं एकांगी होने के कारण ये विधान एकांगी संकुचित, असहिष्णु और विखण्डित व्यक्तित्वों का निर्माण करते हैं. इस्लामधर्म मानव व्यक्तित्व के कर्मपक्ष को केन्द्र में रख कर जो आचारकेन्द्रित आस्था का परिकल्प प्रस्तुत करता है, बौद्धिक और भावनात्मक मूल्यों का दमन उसमें प्रत्यक्ष प्राप्त है और अर्थतः भी. वैचारिक वैमत्य के प्रति असहिष्णुता, आचारमूल्यों के सामयिक आकलन और तदनुसार सुधारवादी आन्दोलनों के प्रति सहज संदेह का भाव, जेहाद और गैर-मुस्लिमों के प्रति अविविविक्त घृणा के बर्बर मूल्यों में अविचारित निष्ठा, संगीत, मूर्ति और चित्रांकन की कलाओं के प्रति घृणा, उस कुण्ठित और अपरिपक्व व्यक्त्वि का पैमाना है जिसका निर्माण इस्लाम का एकांगी नीतिवाद करता है.

वेदान्तियों और कतिपय श्रमण-सम्प्रदायों का समाज-निरपेक्ष बुद्धिवाद, जिस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण करता है, वह भी आध्यात्म का आदर्श नहीं हो सकता. शैव मतावलम्बियों का दम्भ, शाक्तों का नैतिक दारिद्र्य और वैष्णव सम्प्रदायों का प्रदर्शनपरायण आचरण भी समीक्षा के इसी क्रम में आते हैं.

वस्तुतः सभी साम्प्रदायिक विधान एकांगी होते हैं. उपासना के प्रयोजन से वे एक विशेष प्रकार के आचरण का विधान करते हैं, और तदनुसार व्यक्ति या समाज को अपने विशेष प्रकार के सांचे में ढालते हैं. इसमें कुछ गलत भी नहीं है. किन्तु विहित अनुशासन के द्वारा परिष्कृत व्यक्तित्व तब तक परमार्थ का साधक नहीं बन सकता, जब तक कि इस परिष्कार के क्रम में उसने जो खो दिया है, उसे पाने के लिए, अपने व्यक्तित्व में उसका पुनरुद्धार करने के लिए वापस नहीं लौटता. व्यक्तित्व संग्रह के इस उद्देश्य की पूर्ति करता है, तत्त्वदर्शन का काव्य.

३.३. व्यक्तित्वसंग्रह : विधि का नहीं उपचार का विषय होता है :

गीता में तत्त्ववचनों के बाद निष्कर्षरूप में कुछ विधिवाक्य दिखाई देते हैं, यथा — *'नानुशोचन्ति पण्डिताः', 'धीरस्तत्र न मुह्यति', 'तांस्तितिक्षस्व भारत', 'तस्माद्युध्यस्व भारत', नानुशोचितुमर्हसि', 'नत्वं शोचितुमर्हसि'.* इन्हें थोड़ा निकट से देखें तो एक बारीक अन्तर दिखाई देता है. *'तस्माद्युध्यस्व भारत', 'तांस्तितिक्षस्व भारत',* ये सीधे सीधे कर्तव्य का विधान करने वाले वाक्य हैं.

विधान कर्म का ही होता है, अतः युद्ध के विधान में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती. लेकिन *नानुशोचितुमर्हसि', 'न त्वं शोचितुमर्हसि',* ये वाक्य किसी कर्म का विधान नहीं करते. *'तुम शोक करने के योग्य नहीं हो',* यहां किसी कर्म का विधान नहीं है. **शोक दरअसल 'करने' या 'न करने' की चीज नहीं है. यह एक मनोदशा है जो अनैच्छिक है, हमारे निर्णय के आधीन नहीं है. अतः शोक विधि का नहीं उपचार का विषय होता है. यह उपचार अनेक रूप ले सकता है. काव्यानुभव उनमें से एक है.**

३.४. गीता में व्यक्तित्व संग्रह की साधना :

गीता आत्मतत्त्व का निर्वचन करते हुए उसे मनन के लिए प्रस्तुत करती है. किन्तु यह मनन वेदान्त और बौद्धमत की भांति निदिध्यासन और तन्मुखेन परमार्थ (मोक्ष अथवा निर्वाण) की ऐकान्तिक साधना में पर्यवसित नहीं होता. गीता में आत्मतत्त्व के मनन से परिष्कृत व्यक्तित्व निदिध्यासन की ओर उन्मुख न होकर अपने उस उपेक्षित कर्मपक्ष का संग्रह और उद्धार करने को वापस लौटता है, जो सांख्य (ज्ञानयोग) की साधना के क्रम में अक्सर पीछे छूट जाता है. कर्तव्यबोध का उद्धार, विघटित हुए व्यक्तित्व के एकीभाव में पुनरुद्धार को परिकल्पित करता है. आत्मा के आधार में तात्त्विक एकता की सिद्धि के पहले व्यक्तित्व की एकता की सिद्धि, उसकी समग्रता का संग्रह आवश्यक है. अन्यथा विघटित व्यक्तित्व-भूमि में साधना, वह तत्त्वज्ञान की हो या कर्म की, कभी टिकाऊ नहीं हो सकती.

इस बात को ध्यान में रखते हुए गीता की साधना पद्धति सरल, रैखिकक्रम का नहीं, वर्तुलक्रम का अनुसरण करती है., जिसमें आत्मतत्त्व की साधना, प्रत्येक पद पर अपनी व्यक्तित्वभूमि पर निगाहें टिकाए रहती है, ताकि तत्त्व की साधना के क्रम में व्यक्तित्व के जो पक्ष छूट गए

हैं उनका भी संग्रह और परिष्कार होता चले. *'नानुशोचन्ति पण्डिताः', 'धीरस्तत्र न मुह्यति', 'तांस्तितिक्षस्व भारत', 'तस्माद्युध्यस्व भारत', नानुशोचितुमर्हसि', 'न त्वं शोचितुमर्हसि'* — गीता में सांख्य (तत्त्वदर्शन) के उपदेश के साथ प्रतिपद गुम्फित इन मनोविधियों का यही रहस्य है. ये उस समस्याग्रस्त मनोभूमि की पहचान करती हैं, जिसके उपचार के लिए तत्त्वदर्शन अपने को काव्य में रूपान्तरित करता है.

व्यक्तित्व संग्रह की यह प्रक्रिया साधकों में ही नहीं, जीवन्मुक्त सिद्धजनों में भी चलती रहती है. श्रीमगवत-पुराण इसका निकट निदर्शन है. श्रीमद्भागवत को पारमहंस-संहिता भी कहते हैं जिसका अर्थ है, उच्चकोटि के सन्यासियों का शास्त्र. जिन्हें संसार में अब कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है, ऐसे आत्मभाव में प्रतिष्ठित जीवन्मुक्त सन्त जब मुड़ कर अपने व्यक्तित्व पर दृष्टिपात करते हैं तो उनकी निगाह में आता है उसका उपेक्षित, दरिद्री और वैयर्थ्य का दंश झेलता वह भावपक्ष, जिसे मोक्षोद्दिष्ट ज्ञान की ऐकान्तिक साधना में वे कोई भूमिका नहीं दे पाते. ये परमहंस योगीजन अब भगवान् की रसमयी लीलाओं के गुणानुवाद के द्वारा अपने व्यक्तित्व के इस उपेक्षित भावपक्ष का उद्धार और संग्रह करते हैं, जो उनकी ऐकान्तिक साधना के क्रम में पीछे छूट गया था. इस संग्रह से उनकी सम्पूर्ण साधना रससिक्त हो जाती है, यहां तक कि उनका वैराग्य भी भावभूमि से जुड़कर राग बन जाता है, आस्वाद्य बन जाता है. — *वैराग्यरागरसिकाः भुवि भावुकाः ये.*

अध्यात्मिक साधना के क्रम में, साधना ज्ञान की हो या कर्म की या फिर भक्ति की — जो व्यक्तित्व क्षेत्र उपेक्षित रह जाता है उसका संज्ञान लेते हुए, उसके उद्धार और संग्रह के लिए वापस लौटना — यह एक विशुद्ध हिन्दूमूल्य है, जिसे देखा और दिखाया तो जा सकता है, किन्तु आस्था के साम्प्रदायिक-दार्शनिक निर्वचनों में उसको ढूंढ़ पाना मुश्किल है.

४. तत्त्वज्ञान का काव्यानुभव : व्यक्तित्व-संग्रह का सहज उपाय :

शोक किया नहीं जाता, सिर्फ होता है. यह भाषा की विवशता है, जो शोक को करने या न करने के रूप मे प्रस्तुत करती है. यतः शोक 'ऐच्छिक कर्म' नहीं है, इसका करने का विधान नहीं किया जा सकता; इसका तो सिर्फ उपचार होता है, जिसे मनोचिकित्सा नाम दिया गया है. तत्त्व का साक्षात्कार भी मन की गांठो को खोल देता है, लेकिन यह आसान नहीं है. इसके लिए

मनन और निदिध्यासन की एक लम्बी साधना की जरूरत होती है. इसका सहज विकल्प है, सुने हुए तत्त्वज्ञान का काव्यानुभव.

काव्य उपयुक्त बिम्बयोजना के द्वारा जो परोक्ष है उसे साकार करने की, साक्षात् उपस्थित करने की सामर्थ्य रखता है. मन की गांठें खोलने की सामर्थ्य साक्षात्कारक अनुभव में ही होती है. '**तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखों की देखी**'. सृजन की रसात्मकता का रहस्य भी अनुभूति का साक्षात्कारात्मक वैभव ही है. भावपक्ष से सम्बन्धित होने के कारण इसमें विखण्डित व्यक्तित्व को उबारने की अद्भुत सामर्थ्य होती है, जो अकेले अनुपकृत तत्त्वज्ञान में नहीं होती. तत्त्वज्ञान के काव्य का यह वैशिष्ट्य उसके लिए लौकिक और धार्मिक दोनों ही क्षेत्रों में नई सम्भावनाओं के द्वार खोलता है.

५. एक उत्कृष्ट दार्शनिक काव्य के रूप में गीता :

आधुनिक अंग्रेज कवि और समीक्षक टी० एस० ऐलियट ने दांते की सुप्रसिद्ध कृति 'डिवाइन कामेंडी' के बाद श्रीमद्भगवद्गीता को संसार के दूसरे श्रेष्ठ दार्शनिक काव्य का स्थान दिया है. ऐलियट के इस तुलनात्मक विमर्श की समीक्षा में हमारी कोई रुचि नहीं है, किन्तु इसके द्वारा निश्चय ही उन्होंने गीता के एक ऐसे महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर संकेत किया है, जिसकी ओर हमारे यहां के विद्वानों का ध्यान कम ही गया है. गीता में स्थान स्थान पर दार्शनिक चिन्तन सर्जनात्मक हो उठता है. वह उपयुक्त काव्यबिम्ब के रूप में अपने अन्तरंग मन्तव्य को तराशता है, जिसे अभिव्यक्ति देने में दर्शन की विश्लेषणात्मक पद्धति अपने को असहाय महसूस करती है. दूसरे अध्याय के 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' आदि स्थलों के अलावा ११वें अध्याय में भगवान् के विराट स्वरूप का वर्णन, काव्य सौष्ठव के लिए विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं.

५.१. काव्यार्थ का उद्देश्यपूर्ण नियोजन : गीता में दार्शनिक सिद्धान्तों का यह सर्जनात्मक विग्रह केवल सजावट या उक्ति-वैचित्र्य की तलाश का हिस्सा नहीं है. जहां दर्शन की भाषा असफल होती प्रतीत होती है, वहां काव्य अभीष्ट अर्थ को साकार उपस्थित कर देता है. स्पष्ट अवगाहन, मनन, व्यक्तित्व संग्रह आदि साधना के कुछ ऐसे प्रयोजन हैं, जिनकी सिद्धि सिद्धान्तों के विश्लेषणात्मक विवरणों से सम्भव नहीं है.

दार्शनिक काव्य की अनन्य उपलब्धि तो व्यक्तित्व संग्रह की साधना में देखने को मिलती है. दर्शन विभाजन की भाषा है, जबकि काव्य संग्रह और पुनरुद्धार की. सिद्धान्त-चिन्तन की विवश करती प्रतिबद्धताओं के कारण एकांगी होते अपने व्यक्तित्व के उद्धार के लिए आचार्य शङ्कर और मधुसूदन सरस्वती जैसे मनीषी काव्य की शरण लेते हैं. मधुसूदन सरस्वती भगवान् श्रीकृष्ण की मोहिनी मूरत के सामने नतमस्तक होते हुए अपने अद्वैत को भूलकर कह उठते हैं :

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

जिनके हाथ में वंशी से विभूषित हैं, नवीन नीलकमल जैसी आभावाले पीताम्बरधारी, बिम्बाफल जैसे लाल हैं ओठ जिनके, ऐसे, पूर्णिमा के चद्रमा जैसी मुख की शोभावाले कमलनयन श्रीकृष्ण से बड़ा भी कोई परमतत्त्व है, मैं नहीं जानता.

श्रीमद्भगवद्गीता में समस्या किंचिद भिन्न है. वहां समस्या भावपक्ष के उद्धार की नहीं, कर्म के उद्धार की है. अन्तर्द्वन्द्व और तज्जनित वैकल्यापादक उद्वेगों के कारण जिसका कर्तव्यबोध कुण्ठित हो चुका है, उस अर्जुन को उबारने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा के तत्त्वदर्शन (सांख्य)का उपदेश करते हैं, लेकिन तत्त्वदर्शन अकेले यह करने की सामर्थ्य नहीं रखता. उसे सर्जनात्मक शक्ति से जुड़ कर काव्य में अवतरति होना होता है. एकाकी तत्त्वदर्शन निराकांक्ष, अतः मूल्यहीन होता है. विनियोग के द्वारा, प्रयोजन से जुड़ कर वह मूल्यवान् बनता है. यह प्रयोजन उपदेष्टा का है, या साधक का इससे कोई खास अन्तर नहीं पड़ता. मुख्य बात है तत्त्वज्ञान का सप्रयोजन होना. प्रयोजन इच्छाशक्ति से सम्पन्न होता है, और अपने संसर्ग में आए तत्त्वज्ञान को शक्तिसम्पन्न बनाता है.

यह शक्ति ही ज्ञान के द्वारा कषायों के निराकरण में, मनन और निदिध्यासन में, या फिर ज्ञान के काव्यमय सर्जनात्मक पुनर्भव और उसके द्वारा व्यक्तित्व संग्रह में नियोजक निमित्त का काम करती है. वस्तुतः यावन्मात्र प्रवृत्ति जिसमें निवृत्ति भी शामिल है, शक्ति को पूर्वकल्पित करती है. यह शक्ति तत्त्वज्ञान में स्वरूपागत है या आयातित यह यहां विचार का विषय नहीं है. कथ्य इतना भर है, कि विमर्शशक्ति से सम्पन्न तत्त्वज्ञान ही विनियोग की योग्यता पाता है.

५.२. अभिनव भूमिका के लिए तत्त्वदर्शन का रूपान्तरण :

तत्त्वज्ञान के उपदेश से उद्वेगरहित हुए मन के लिए दो रास्ते खुलते हैं. पहला आत्मसाक्षात्कार की साधना का और दूसरा व्यवस्थित चित्त के साथ पुनः कर्मक्षेत्र में वापसी. इनमें से किसी एक का चुनाव प्रत्येक व्यक्तिक्षेत्र के लिए उसकी आध्यात्मिक सम्भावनाओं के अनुसार होता है.

जहां तक गीता की बात है, वह जिस व्यक्ति की आध्यात्मिक यात्रा को रेखांकन के लिए चुनती है, वह एक विखण्डित व्यक्तित्व है, जो अपनी दिशा खो जुका है. इस विखण्डित व्यक्तित्व का संग्रह करते हुए उसमें अभिनव मूल्यबोध को जन्म दे सके, यह सामर्थ्य सीधे सीधे तत्त्वज्ञान में नहीं होती. इसके लिए आवश्यक है स्वयं तत्त्वज्ञान का मूल्यवान् अनुभव में रूपान्तरण, अर्थात् तुरंत अपना अनुगामी बना लेने वाले काव्यार्थ में रूपान्तरण. निदिध्यान की ओर उन्मुख हुआ मनन अन्तर्मुखी होता है. यही मनन जब अन्तर्मुखता को त्याग कर परिवेशसंवादी होता है, तब वह तत्त्वज्ञान के लिए एक नई भूमिका तैयार करता है.

परिवेश संवादी होते हुए तत्त्वज्ञान का मनन सर्जनात्मक बनता है और काव्यार्थ को जन्म देता है. यहां तत्त्व का ज्ञान केवल बौद्धिक व्यवसाय नहीं रह जाता; सर्जनात्मक ऊर्जा से सम्पन्न हो कर पहले मूल्यवान् प्रज्ञा में रूपान्तरित होता है, और फिर सम्पूर्ण व्यक्त्वि को अभिभूत करते हुए, उसकी दरारों को भरते हुए, नए सिरे से उसका संग्रह करता है. इस प्रकार पुनरुद्धार को प्राप्त हुआ व्यक्तित्व ही तत्त्वज्ञान के *'तस्माद्युध्यस्व भारत'* इस नैतिक विनियोग की भूमि बनता है.

दर्शन की भाषा विखण्डन की भाषा है, विभाजन और विश्लेषण की भाषा है. इससे भिन्न काव्य की भाषा सृजन और संग्रह की भाषा है. सृजन 'पर' के संग्रह के बिना सम्भव ही नहीं होता. दर्शन में अर्थ परिभाषित होता है. काव्य में उपयुक्त बिम्बों के माध्यम से परिभाषित अर्थों की सीमाओं को तोडता, व्यापक संदर्भों का संग्रह करते हुए अर्थ का सृजन किया जाता है. सर्जनात्मकता न केवल परिभाषाजनित-विखण्डन की प्रक्रिया को हठात् रोक देती है, अपितु परिभाषा के क्रम में जो छूट गया है उसका संग्रह करते हुए, एकता के तात्त्विक आधार में सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सत्यापित करती है. 'नानुशोचितुमर्हसि' यह विमर्श, आत्मा के लिए नहीं है, शरीर के लिए भी नहीं, व्यक्ति के लिए है, जिसे शोक मुक्त हो कर पुनः कर्मपथ में आरूढ होना है. काव्यार्थ का निवेश दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्मुखी, ऐकान्तिक साधना में विलीन होने के क्रम

को हठात् रोक देता है, उसे समग्रता की मर्यादा से बांधे रहता है, और उसे नियोजित करता है व्यक्तित्वसंग्रह की एक नई भूमिका में.

उपसंहार : आत्मशाश्वतवाद के अलावा आत्मा के बारे में कुछ अन्य मत भी हैं, जिनमें बौद्ध और चार्वाकादि पदार्थवादी मत प्रमुख हैं. गीता इनका संज्ञान लेना नहीं भूलती. यह विवरण की समग्रता के लिए भी जरूरी है, और तत्त्वबोध पर आश्रित एक व्यापक जीवनदृष्टि के अनुसंधान के लिए भी. अग्रिम एकक इन वैमत्यमूलक दर्शनों को विचार का विषय बनाता है, खण्डन के लिए नहीं अपितु एक व्यापक जीवनदृष्टि में उनके संग्रह के लिए. कथ्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, विचारों के विराट बिखराव का व्यापक दृष्टि में संग्रह करने की गीता की शैली. इस पर अगर ध्यान दिया जाता, तो गीता के बहुत से साम्प्रदायिक व्याख्यान शायद लिखे ही नहीं जाते.

■ ■ ■

षष्ठ एकक:

(वैनाशिक एवं पदार्थवादी मतों का संग्रह :
आत्मा की आश्चर्यसम्पदा के उद्घाटन के साथ उपसंहार)

(क) अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥२६॥

(ख) जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥

(ग) देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे महाबाहो! अगर तुम इस देही को नित्य पैदा होने वाला और नित्य मरनेवाला भी मानो, तो भी तुम्हें इसका शोक नहीं करना चाहिए (२६). पैदा हुए की मृत्यु अटल है और अटल है मरे हुए का जन्म. इसलिए इस अपरिहार्य विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए (२७).

हे भारत! सभी प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे, और मरने के बाद भी अप्रकट हो जाएंगे. केवल बीच में ही प्रकट दीखते हैं, इस अपरिहार्य नियति में शोक करने की क्या बात है ?(२८).

कोई इसे (इस आत्मा को) आश्चर्य की तरह देखता है, कोई आश्चर्य की तरह इसका वर्णन करता है, कोई अन्य इसको आश्चर्य की तरह सुनता है, और कोई इसको सुन कर भी नहीं जानता (२९). हे अर्जुन! यह आत्मा सब के शरीर में सदा ही अवध्य है. इसलिए (इन) समस्त प्राणियों के लिए तू शोक करने के योग्य नहीं है (३०).

पंचश्लोकात्मकस्यास्यैककस्य त्रयो विभागाः। प्रथमश्लोकः(श्लो.२६) "अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्", इति वैनाशिक-स्वभाववादि-पदार्थवादि-तत्त्वदर्शनानां सामान्यरूपेण संग्रहं कुर्वन् आत्मशाश्वतवादविवेकलब्धाया 'नैव शोचितुमर्हसी'ति नैतिकप्रज्ञायाः पुष्टिं करोति तेषां साहाय्येन। अयं प्रथमो विभागः। अग्रिमो विभागः(श्लो.२७-२९) आत्मनः शाश्वताशाश्वत-वादसामान्यानां नैतिकतात्त्विकभावनिबन्धानां संग्रहाय प्रवर्तते। तृतीयो विभागस्तु उपसंहारश्लोकः (श्लो. ३०)। 'न त्वं शोचितुमर्हसीति सामान्य- निष्कर्षः आत्मशाश्वतवाद्यशाश्वत- वादिमतानाम्। स्वस्थमनोदशा हि सर्वमतानुमोदिताधारभूतं नैतिकमूल्यं, पूर्वकल्पत्वात्सदाचारस्येति निर्णयः।

१. **दृश्यतेऽत्र एतादृशजीवनादर्शस्य विकासस्य प्रयासो यस्योदारोत्संगे उपनिषदामात्मशाश्वत-वादादारभ्य वैनाशिकस्वभाववादिसहिताधुनिकवैज्ञानिकचिन्तनपर्यन्तमत्यन्तविरुद्धानामपि दृष्टिभेदानां संग्रहो भवेदेकस्मिन् आस्थाकल्पे। गीतायाः तत्त्वचिन्तनस्यायमतीवोज्ज्वलः पक्षः यद्यापि प्रतीक्षते समुचितमाकलनम्।**

१.२. **प्रखरसाम्प्रदायिकवैमत्यानां मध्येऽपि नात्यसम्भवः सर्वसम्प्रदायसमान्यानामाचारमूल्यानाम-नुसंधानम्। गीतायाः संग्रहानुसंधानपरायणचिन्तनशैल्याः प्रकृतस्थलं हि एकमुत्कृष्टनिदर्शनम्।**

१.३. **पुनर्जन्मसिद्धान्तो हि हिन्दूआत्मशाश्वतवादस्यानिवार्योपपत्तिः। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति।**

१.४-५. **अत्यन्तविरुद्धयोःशाश्वताशाश्वतवादिनोर्मध्येऽपि यत्किमपि सामान्यं तदनुसंधेयम्। गीता स्वयमेव दर्शयत्यस्य मार्गम् :**

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना।।

२. वस्तुभूतं आलेखमिदम्। तथाप्यस्य वस्तुभूतस्य संग्रहे न लक्ष्यते एकरूपता। अव्यक्त-परमार्थस्यानुभवाः भिन्नाः(आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्),भिन्नानि(निर्वचनानि (आश्चर्यवत् वदति तथैव चान्यः), भिन्नाश्च श्रवणप्रतिपत्तयः (आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रुणोति)। श्रवणानन्तरमपि सर्वेषु भवेत् सम्यक्प्रतिपत्तिरित्यपि नावश्यकम् (श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चिद्)। एतादृशी ह्याश्चर्यसम्पदव्ययात्मनः। (श्लोक-२९)

२.१-३. 'अत्राश्चर्यवत्' पदं विरुद्धार्थग्रन्थिपरः। आत्मनः सर्वशास्त्राणामाधारभूते प्रत्यये सत्यपि अस्यानुभव-निर्वचन-श्रवणावगतीषु लक्ष्यते विलक्षणं वैषम्यम्। निरपवादा हि आत्मनः स्वीकृतिः। ये प्रत्याख्यापयन्ति तेषां प्रत्याख्यानमपि अस्य स्वीकृतिं विना न प्रवर्तते। तथापि अस्यानुभवस्य संप्रेषणयात्रा क्रमशः श्रवणस्य अवगतेश्च सोपानेषु विरुद्धार्थान् स्फोटयन्त्येव प्रवर्तते। पुञ्जीभूतेयं विरुद्धार्थतैव आश्चर्यवदिति पदस्य स्वारस्यम्। वाण्याजिरे नृत्यन्ती किरन्ती स्वीयां वैभवमियं विरुद्धार्थता अखण्डैकरसस्वरूपे स्वात्मनः पूर्वकल्पभूते आत्मनि यदि न जनयति किमपि विकारं सोऽपि विरुद्धार्थताया एवं वैभवम्।

२.४. अज्ञानादधिकानर्थकरी भवति ज्ञानस्य श्रुतमात्रता। यदा तत्त्वज्ञानस्य श्रवणं साधनानुशासननिरपेक्षं केवलं बुद्धेर्विलासस्य ज्ञानप्रदर्शनस्य च विषयो भवति तदा सर्जयतीदं एकमसमाहर्यं मिथ्याचारमात्मवञ्चनारूपम्।

२.५. अस्मिन् मिथ्याचारे, जन्ममृत्योर्मध्ये व्यक्तस्याभोगे भोगमूल्यानि भयं च मृत्योः भवति वास्तविकं, नित्योऽविकारी आत्मा तु एका दूरस्थावास्तविकता। मिथ्याचारेणानेनाविर्भवत्येका भीरु-कर्तव्य-पराङ्मुख-भोगवादिसंस्कृतिः। अतोऽपि गरीयसी का विरुद्धार्थता भविता यद् 'अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इति गीतोपदेशानुयायिनः हिन्दवः मृत्योः किञ्चिदधिका एव भीता दृश्यन्ते। आत्मा तु अविनश्वरः। तस्य विषये चिन्ता निरर्थका। आत्मविषये निश्चिन्तो भूत्वा शरीरमवशिष्यते एकमात्रचिन्ताविषयम्। अतः शरीरस्य तन्निमित्तभोगैश्वर्याणाञ्च चिन्ता एव चिन्तनीया इति मिथ्याचारो जातीयसंस्काररूपेण रूढो दृश्यते हिन्दूनाम्। सुमहाञ्जातीयसंकटस्य क्षणेषु, इतिहासस्य गभीरसामाजिक-धार्मिकाभिग्रहाणानां मध्ये निष्कामभावेन काम्यानां संग्रहे दत्तचित्ताः द्रष्टुं शक्यन्ते प्रतियुगे हिन्दूनां साधवः गृहस्थाः शास्त्रनिष्णात-पण्डिताः मठमंदिराधीशाः सम्प्रदायाचार्याश्च । एतेषां दृष्ट्यां न कोऽप्युद्देश्यो यथेष्टोदात्तः प्राणोत्सर्गाय। ये विद्वांसः एतेषां मध्ये, ते भगवतः श्रीकृष्णस्य तस्य गीतोपदेशस्य चोभयोर्विरुद्ध कर्तव्यपराङ्मुखभोगवादस्यौचित्य विधानाया-

विष्कुर्वन्ति सम्प्रदायान्पुरागाथाश्च सौविध्यमूलकान्। एकीभूया इमे सर्वे प्रभावाः एतादृशस्य पतनोन्मुखसमाजस्य निर्माणं कुर्वन्ति यस्य सम्पूर्णं चिन्तनं आचरणं च श्रीमद्भगवदगीतायाः आश्चर्योद्भावनस्याश्चर्यजनकं निदर्शनम्, 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चिदि'त्यस्य ।

३. मूलबिन्दूनां संग्रहं कुर्वन् 'देही नित्यमवध्योऽयमि'त्येकस्मिन् श्लोके क्रियत आत्मवाद-प्रसंगस्योपसंहारः।

४. आत्मतत्त्वविचारो हि केन्द्रीय-परिकल्पः हिन्दू-आस्थायाः। ददात्ययं हिन्दूधर्मस्य विशिष्टं व्यक्तित्वं विशिनष्टि चेमं तत्त्वदर्शनशून्येभ्यः विविधेभ्यः आचारसंहिताकेन्द्रितपुस्तकपंथेभ्यः।

एकक विमर्श :

संरचना की दृष्टि से पांच श्लोकों के इस एकक के तीन विभाग हैं. प्रथम श्लोक (श्लो.२६) वैनाशिक और स्वभाववादी तत्त्वदर्शन का संग्रह करते हुए, **'नैवं शोचितुमर्हसि'** इस निष्कर्ष का समर्थन करता है. यह एकक का प्रथम विभाग है.

दूसरा विभाग, जिसमें आगे के तीन श्लोक(२७-२९) आते हैं, उन नैतिक और तात्त्विक भावनिबन्धों का संग्रह करता है, जो शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद दोनों के सामान्य निष्कर्ष हैं. इसके आगे एक श्लोक उपसंहार का है. यह विवेच्य एकक का तीसरा विभाग है, जो आत्मशाश्वतवाद के प्रति प्रतिबद्धता को दुहराते हुए, ***'न त्वं शोचितुमर्हसि'*** इस सूत्र के द्वारा मन के समभाव को, एक सर्वमतानुमोदित, आधारभूत नैतिक-मूल्य के रूप में प्रस्तुत करता है.

१. आत्मा के बारे में वैनाशिक एवं पदार्थवादी मतों का संग्रह :

१.१. पूर्वोक्त निष्कर्ष के समर्थन में इसका प्रयोग : आसन्न युद्ध में सम्भावित नरसंहार की कल्पना से अर्जुन सिहर उठता है. उसे इस शोक से उबारने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण आत्मतत्त्व का निर्वचन करते हैं, पहले आत्मशाश्वतवाद का, फिर अनात्मवाद का. दोनों ही रूपों में आत्मज्ञान के उपदेश का प्रयोजन है, अर्जुन के शोक का अपनयन. आत्मविषयक इन दोनों ही अत्यन्त विरुद्ध मतों का — आत्मवाद और अनात्मवाद का — अर्जुन के लिए संदेश एक ही है : **न त्वं शोचितुमर्हसि.**

१.२. अनात्मवाद का दर्शन :

शरीर में आत्मा जैसी कोई शाश्वत सत्ता विद्यमान है इसमें कोई प्रमाण नहीं है. जिस पदार्थ के कारण शरीर में जीवन है, जिसके होने और न होने से शरीर को जीवित और मृत कहा जाता है, वह है उसकी चेतना. यह चेतना कोई शाश्वत अविकारी तत्त्व नहीं बल्कि एक शरीर समवायी, आगन्तुक धर्म है. पदार्थवादी विचारक — चार्वाक, नैयायिक तथा बौद्धमतावलंबियों से ले कर अधुनातन वैज्ञानिक विचारकों पर्यन्त — सभी सामान्य रूप से आत्मा के इस विवरण को स्वीकार करते हैं. उनके बीच जो मतभेद हैं, वे इस सामान्य विवरण के दायरे के भीतर ही है. पदार्थवादियों के अनुसार, चेतना शरीर का धर्म है और शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है. अतः पुनर्जन्म के लिए कोई आधार नहीं बचता.

पदार्थवादियों की इस मान्यता से भिन्न, बौद्धमतानुयायी चेतना को एक अनवरत वासना प्रवाह के रूप में मानते हैं, जो जन्म जन्मान्तरों तक चलता रहता है, तब तक जब तक की उपाय द्वारा कारणभूत वासना शरीर का उच्छेद नहीं हो जाता. यह पुनर्जन्म की मान्यता ही है जो बौद्धमत को उसकी अनीश्वरवादी और अनात्मवादी प्रतिबद्धताओं के वाबजूद पदार्थवादियों से अलग करके उसे बौद्धधर्म का रूप देती है, साथ ही उसकी हिन्दू पहचान को भी रेखांकित करती है.

१.३. पुनर्जन्म का सिद्धान्त :

आत्मवाद का अनिवार्य अभ्यूह (corollary) : पुनर्जन्म की मान्यता हिन्दूधर्म की मूल मान्यता है, उसके नियामक तत्त्वों में से एक. हिन्दू-आस्थासंघ के सभी सम्प्रदाय, आत्मशाश्वतवादी वेदान्तियों से लेकर वैनाशिकों (बौद्धमतावलंबियों) तक, सभी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं. इस नियामक हिन्दू-सन्दर्भ के अन्तर्गत आत्मशाश्वतवादी चिन्तन के बाद, नीचे दिए दो श्लोकों में वैनाशिक आत्मबुद्धि का संग्रह गीता में इस प्रकार हुआ है :

(क) **अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।**
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

यदि तुम उसे नित्य जन्म लेने वाला अथवा नित्य मरने वाला मानते हो, तब भी हे महाबाहो,

तुम्हें इसके बारे में शोक करना उचित नहींहै, क्योंकि (इस मान्यता के अनुसार) जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है, और मरे हुए का जन्म निश्चित है. इससे भी इस अपरिहार्य विषय में तू शोक करने के योग्य नहीं है.

१.४. *'अथ चैनं नित्यजातं ...न त्वं शोचितुमर्हसि '* : व्याख्या :

यहां प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति ***'अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्'*** आत्मा के अशाश्वतवाद को एक विचारविकल्प के रूप में सूत्रबद्ध करती है. *'नित्य जन्म लेने वाला अथवा नित्य मरने वाला',* यह वर्णन पदार्थवाद की सामान्य और विशेष, दोनों ही दृष्टियों का संग्रह करता है. यह शरीर प्रतिक्षण अपना नवीनीकरण करता रहता है. जीवविज्ञान का मानना है, कि तीन महीने बाद, इस शरीर में पुराने रक्त की एक बूंद भी नहीं रह जाती. शरीर में प्रतिक्षण चल रही नवीनीकरण की प्रक्रिया ही '*अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्* काअर्थ है. यह सामान्य पदार्थवाद है, जिसमें जन्म और जन्मान्तर, दोनों को नवीनीकरण की प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है. अपने विशेष अर्थ में यह वाक्य आत्मा की क्षणभंगवादी (बौद्ध) मान्यता को बताता है. धर्मचिन्तन में अन्तरंग होने से, आत्मा की बौद्ध मान्यता ही यहां प्रसंगप्राप्त है. किन्तु जीवन और मृत्यु को 'अपरिहार्य अर्थ' मान लेने पर मन में जो अविचलभाव प्राप्त होता है, वह किसी दायरे का मुहताज नहीं है. उसका महत्त्व धार्मिक और लौकायतिक दोनों के लिए समान है.

बौद्धमतानुसार प्रतिक्षण बदलते चेतन प्रवाह का नाम है आत्मा. संसार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सत्ता क्षणस्थायी है. वस्तुओं में जो एकरूपता और स्थिरता दिखायी देती है वह एक भ्रम है, एक आरोप, वैसा ही जैसा प्रतिक्षण प्रवहमान जलकणों के प्रवाह को नदी रूप में परिकल्पित करते हुए, उस पर नाम और रूप का आरोप. आत्मा को यदि ऐसा ही चेतन प्रवाह मानें तब भी शोक के लिए कोई कारण नहीं रह जाता. जन्म और मृत्यु अपरिहार्य घटनाएं है, आत्मशाश्वतवादी के लिए भी और अशाश्वतवादी के लिए भी.

दूसरा श्लोक ' ***जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ....***', जन्म और मरण की अटल नियति की ओर संकेत करते हुए, आत्मवाद की अनिवार्य उपपत्ति के रूप में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है. 'जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु होगी, और जो मरता उसका जन्म होगा' यह एक ध्रुव सत्य है. जन्म-मरण की यह विवशता एक अपरिहार्य परिस्थिति है, एक ***'अपरिहार्य अर्थ',*** जिसकी सहज

स्वीकृति, धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष सभी स्वभाववादियों के लिए एक निर्विकल्प मूल्य के रूप में उभर कर आती है. तत्त्वदर्शन में, वह शाश्वतवादी का हो या वैनाशिक का, अपरिहार्य की सहज स्वीकृति ही मौलिक शील है. यह स्वीकृति निर्द्वंद्व, अविचल, शोकरहित मनोदशा का पर्याय है. यही निहितार्थ है *'तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि'* इस परामर्श का.

१.५. वैनाशिक तत्त्वदृष्टि के संग्रह के निहितार्थ :

यहां जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह है एक ऐसे व्यापक जीवनदर्शन के विकास का प्रयास, जिसमें आत्मशाश्वतवादियों से ले कर, वैनाशिकों (बौद्ध), चार्वाकादि स्वभाववादियों सहित आधुनिक वैज्ञानिक पदार्थवादियों तक का संग्रह किया जा सके. गीता के तत्त्वदर्शन का यह अत्यन्त उज्ज्वल, अत्यन्त साहसिक प्रयास है जिसकी तरफ थोड़े ही लोगों का ध्यान गया है. तत्त्वमीमांसा के स्तर पर प्रखर मतभेदों के बावजूद, उन मतभेदों के बीच से ही हम सामान्य जीवनादर्शों का, सर्वधर्म-सामान्य जीवन मूल्यों का अनुसंधान कर सकते हैं. विवेच्य स्थल गीता की इस वैचारिक प्रतिबद्धता का निकट निदर्शन है.

१.६. श्लोक *'अव्यक्तादीनि भूतानि...'* :
आत्मा के विभिन्न तात्त्विक विनिश्चयों के बीच समान आचारमूल्य का अनुसंधान :

आत्मा के बारे में शाश्वतवादी और अशाश्वतवादी जैसी अत्यन्त विप्रकृष्ट अवधारणाओं के बीच भी बहुत कुछ समान है. जो समान है उसे देखने समझने की जरूरत है. गीता इसका मार्ग दिखाती है :

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना॥२८॥

प्राणी जन्म के पहले अव्यक्त थे, अदृश्य और अमूर्त थे. निधन (मृत्यु) के बाद भी अव्यक्त गति को ही प्राप्त होंगे. केवल मध्य ही व्यक्त है. फिर उसके बारे में शोक कैसा? अव्यक्तों के बीच जो व्यक्त है, वह है जन्म और मृत्यु की सीमाओं के बीच सांस लेता जीवन, प्राणी की अन्तरालावधिक सत्ता. जैसे दो लहरों की उठान के बीच व्यक्त स्थान एक संयोग है, उसी तरह जीवन और मृत्यु के बीच, उनके द्वारा परिभाषित अस्तित्व एक संयोग है. अव्यक्त के एकरस विस्तार के बीच इस अन्तरालावधिक सत्ता को ही व्यक्त नाम दिया गया है. यह एक सावधिक

सत्ता है; एक निश्चित समय पर इसे अव्यक्त में विलीन हो जाना है. अपनी अवधि को जीती, अवसान की प्रतीक्षा करती, अपने अव्यक्त गर्भ में विलीन होने के लिए निरुपाय खिची जा रही, इस मुट्ठी भर व्यक्त सत्ता के लिए दुःख कैसा?

जिसकी सत्ता ही एक अपवाद है, उसके खोने का विलाप क्यों? (*'तत्र का परिवेदना'*). लेकिन विलाप होता है. यह आश्चर्य की बात है, उन अनगिनत आश्चर्यों में से एक, जिनका खजाना है यह आत्मा :

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥

कोई इस आत्मा को आश्चर्य की भांति देखता है; वैसे ही दूसरा कोई इसका आश्चर्य की भांति वर्णन करता है; दूसरा कोई और इसे आश्चर्य की भांति सुनता है, और कोई-कोई (तो) सुनकर भी इसको नहीं जानता.

२. श्लोक *'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् ...'* :

आत्मा की आश्चर्यसम्पदा : पहले के तीन श्लोकों में (*'अथ चैनं नित्यजात...'* से ले कर *'अव्यक्तादीनि भूतानि...'* तक) एक ऐसी वस्तुस्थिति का वर्णन किया गया है, जिसमें पदार्थवादी से ले कर आत्मशाश्वतवादी तक किसी को मतभेद नहीं हो सकता. इसके वाबजूद, इसके संग्रह में एकरूपता देखने को नहीं मिलती. यह मौलिक आश्चर्य है जो आत्मतत्त्व के श्रवण से लेकर अवगतिपर्यन्त अलग अलग आकार लेता चलता है. अपने होने से कोई इन्कार नहीं करता, लेकिन अपने होने की सबकी समझ अपनी अपनी होती है. सर्वस्वीकृत सत्ता में समझ की विविधता पहला विरुद्धार्थ है जो आत्मा को आश्चर्य का विषय बनाता है (*आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्*). कुछ लोग इस आश्चर्य के निर्वचन को भी एक आश्चर्य ही मानते हैं, क्योंकि समस्त निर्वचनों का आधार होते हुए भी यह निर्वचन का अविषय है (*आश्चर्यवत् वदति तथैव चान्यः*). श्रवण रूप में इसकी प्रतिपत्ति भी अलग अलग हो सकती है (आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति), और सही श्रवण हो भी जाए तो जरूरी नहीं है कि इससे आत्मा की सही समझ

भी पैदा हो जाए : *श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्*

निर्वचन, श्रवण, और अवगति — इस प्राथमिक समझ के साथ प्रारम्भ आत्मानुसन्धान की प्रक्रिया में प्रत्येक सोपान पर आश्चर्य एक नया रूप लेता चलता है. इस आश्चर्य को ठीक से समझने का अर्थ है आत्मा की अपरिमेय सम्भावनाओं के सागर को आंख खोल कर देखना. आत्मा की अनन्त सम्भावनाओं को देखना, मनन का ही एक रूप है और इस रूप में आत्मसाक्षात्कार की दिशा में एक कदम. यतः आत्मा इस धरती पर परमात्मा का प्रत्यक्ष रूप है, इसके विस्मित करने वाले रूप में स्वयं परमात्मा के विराट रूप के दर्शन होते हैं, उस अनन्त सौन्दर्य और वैभव के दर्शन होते हैं, जिसमें व्यवहार जगत् की तुच्छ समझ और प्रतिबद्धताओं से उपजे सभी अन्तर्विरोध विलीन होते चले जाते हैं.

३. श्लोक में आए 'आश्चर्यवत्' पद की व्याख्या :

३.१. आत्मा एक विराट् विरुद्धार्थग्रन्थि : *आश्चर्यवत्* शब्द का प्रयोग यहां विरुद्धार्थ-ग्रन्थि (पैराडाक्स) के अर्थ में हुआ है. आत्मतत्त्व, एक ओर हर प्राणी के लिए आस्था का अन्तरंग और सार्वभौमिक आधार है, वहीं दूसरी ओर अनन्त सम्भावनाओं भरा एक ऐसा परिकल्प है, जो अपने अप्रामाणिक विनियोगों के द्वारा असमाहार्य समस्याओं को जन्म दे सकता है. यह विरुद्धार्थसंग्रह ही आत्मा को *आश्चर्यवत्* बनाता है. इसकी स्वीकृति सर्वत्र है, जो इसे इन्कार करते हैं उनका इन्कार भी इसकी स्वीकृति के बिना प्रवृत नहीं होता. इसके वाबजूद, इसके अनुभव, समझ और निर्वचनों में असाधारण विविधता देखी जाती है. इस असमाहार्य विरुद्धार्थता को ध्यान में रखते हुए, आत्मा के लिए आश्चर्यवत् विशेषण का प्रयोग हुआ है. भाषा के आंगन में नाचती, अपनी छटा बिखेरती यह विरुद्धार्थता, आत्मा के अखण्ड, एकरस स्वरूप में कोई विकार उत्पन्न नहीं करती, तो यह भी आश्चर्य की ही एक छटा है.

३.२. द्रष्य की विरुद्धार्थता : *'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्'* :

तालाब पर जल लेने को गए, महाराज युधिष्ठिर से यक्ष जो प्रश्न पूछता है, उनमें से एक यह है : 'हे युधिष्ठिर ! इस संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है?' महाराज युधिष्ठिर की दृष्टि में, इस संसार में आत्मा के विचित्र व्यवहार से बड़ा कोई आश्चर्य नहीं हो सकता. उन्होंने आश्चर्य

को जिस रूप में देखा, वह कुछ इस प्रकार था :

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थाविरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतःपरम्।। महाभारत, वन.३१२.११६

प्रतिदिन लोग मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं. लेकिन जो जीवित हैं वे सोचते हैं कि वे बचे रहेंगे. इससे बड़ा आश्चर्य क्या हो सकता है?

जीवन अर्थात् 'व्यक्त' की प्राणी के ऊपर पकड़ इतनी मज़बूत है, इतनी अभिभूत कर देने वाली है, कि वह उसकी भंगुरता को स्वीकार नहीं कर पाता. शास्त्रों के वचन, यहां तक कि प्रत्यक्ष प्रमाण भी असहाय हो कर बैठ जाते हैं. हर अनुभव अपनी मूर्त सत्ता के साथ आस्था के एक अटूट बंधन से जुड़ा होता है, जिसे कोई प्रमाण, कोई शास्त्र डिगा नहीं पाते. इससे बिल्कुल विपरीत स्थिति है तत्त्वज्ञान की. मूल्यवान् तो बहुत है, मगर इसे मुफ्त में भी दो तो कोई लेने को जल्दी तैयार नहीं होता. *किमाश्चर्यमतः परम्.*

३.३. श्रवण और निर्वचन की विरुद्धार्थता : आत्मतत्त्व सर्वव्यापी है, अत्यन्त समृद्ध और बहुआयामी. उपदेश की विवशता है भाषा, और भाषा की विवशता है, उसकी विश्लेषणात्मक संरचना, जो अविविक्त 'अर्थ' को भी टुकड़ों में बांट कर देखने की आदी है. आत्मा की आश्चर्य सम्पदा के साम्प्रदायिक सरलीकरण, क्रमशः निर्वचन की और श्रवण की विरुद्धार्थताओं को जन्म देते हैं, जिनका ***'आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः' 'आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति'*** कह कर संग्रह किया गया है.

बहुत से लोग तत्त्वज्ञानी होने का भरम पालते हैं, और दुनियां की भलाई के लिए इसका उपदेश भी खूब अच्छी तरह कर लेते हैं. ऐसे ही एक तत्त्वज्ञानी थे उद्धव. भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें गोपियों को तत्त्वज्ञान का उपदेश करने के लिए वृज में भेजा. गोपियों ने उनके उपदेश के उत्तर में जो कहा उससे वे अवाक् रह गए:

कौन ब्रह्म कौ रूप ज्ञान कासों कहें ऊधौ ।
हमरे सुन्दरश्याम प्रेम कौ मारग सूधौ।।

उद्धव के तत्त्वज्ञान को व्रज में लेने के लिए कोई तैयार नहीं था. भगवान् बुद्ध जिस निर्वाण का उपदेश करते थे, उसकी स्थिति इससे बेहतर नहीं थी. एक बार किसी ने उनसे पूछा, "भगवन्!

यह बताएं, अभी तक कितने लोगों को निर्वाण प्राप्त हो चुका है". भगवान् बुद्ध ने उत्तर दिया, "पहले लोगों से जाकर पूछो तो सही कि कितने लोग निर्वाण चाहते हैं?" दूसरे दिन वह व्यक्ति गांव में गया. उसने एक एक से पूछा कि वह क्या चाहता है. हर किसी ने अपनी अपनी चाहतें बताईं. वह आदमी यह जान कर स्तब्ध रह गया कि उनमें से किसी ने भी यह नहीं कहा कि वह निर्वाण चाहता है.

यहां एक विचित्र विरुद्धार्थग्रन्थि है. मन पर जिसकी पकड़ है, वह अशाश्वत् है, अतात्त्विक है और इसलिए आस्था के लिए वह एक आश्वस्त करने वाला आधार नहीं हो सकता. आश्वस्त करने वाला आधार तो परमार्थ तत्त्व ही हो सकता है. लेकिन मन न तो उसे पहचानता है और न ही उसका भरोसा कर सकता है. *अव्यक्त* का निराकार विस्तार भयभीत कर देता है, अंधेरी गुफा की तरह. लेकिन जो *व्यक्त* है वह सहज बांधता है, सहज विश्वास को पैदा करता है. जो निर्भयता की भूमि है, उससे डर लगता है और जो वास्तव में भयस्थान है, वह आश्वस्त करता सा लगता है. आत्मा के तत्त्वदर्शन की यह अद्भुद् विरुद्धार्थग्रन्थि है, जो उसके कहने और सुनने में आश्चर्य-कोषें का सृजन करती है.

३.४. विरूद्धार्थता अर्थावगति की : *श्रुत्वाप्येवं न वेद कश्चिद्* :
कोई तो इसको सुन कर भी नहीं समझता : जितना इस श्लोक में कहा है, विरुद्धार्थग्रन्थि का विस्तार उससे कहीं बड़ा है. अज्ञान से भी कहीं अधिक घातक, अधिक अनर्थकरी है ज्ञान की श्रुतमात्रता. जब अपेक्षित अनुशासन के अभाव में, सुने हुए ज्ञान का मनन और निदिध्यासन के द्वारा उद्धारक प्रज्ञा में रूपान्तरण नहीं हो पाता, तब वह केवल बुद्धिविलास और प्रवचन की सामग्री बन कर रह जाता है. ऐसा सुना सुनाया ज्ञान एक मिथ्याचार का सृजन करता है, जिसमें जीवन, भोगों के द्वारा उसकी समृद्धि के आदर्श और मृत्यु का भय, ये वास्तविक होते हैं, जब कि नित्य, अविकारी आत्मा एक दूरस्थ अवास्तविकता, उस सुनहले शब्दजाल की तरह जिसमें इसके उपदेश उकेरे जाते हैं. इस मिथ्याचार से एक कायर, कर्तव्य-पराङ्मुख, भोगवादी संस्कृति का उदय होता है.

इससे बड़ी विरूद्धार्थता क्या होगी कि जो गीता, जन्म-मरण से अप्रभावित, अजन्मा, नित्य और शाश्वत आत्मा का उपदेश करती है, उसका पाठ करने वाले, मृत्यु से कुछ अधिक ही भयभीत देखे जाते हैं. आत्मा का विनाश तो हो नहीं सकता; उसकी ओर से निश्चिन्त हो लेने के बाद, चिन्ता

यदि हो सकती है तो सिर्फ शरीर की रक्षा की, और भोगों के संग्रह की. अत: बड़ी से बड़ी सामाजिक और धार्मिक चुनौतियां के बीच, क्या साधू और क्या गृहस्थ, हर युग में इनको निष्कामभाव से भोगों के संग्रह में तल्लीन देखा जा सकता है. इनकी दृष्टि में कोई बड़ा उद्देश्य इतना बड़ा नहीं हो सकता जिसके लिए अपने प्राणों की आहुति दी जा सके. खतरे से ये लोग हमेशा दामन बचा कर चलते हैं. इनमें जो विद्वान् है, वे भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी गीता, दोनों के विरुद्ध अपने कर्तव्यपराङ्मुख भोगवाद को उचित ठहराने के प्रयोजन से नित नए सम्प्रदायों को गढ़ते रहते हैं. कुल मिला कर ये एक ऐसे पतनोन्मुखी समाज का निर्माण करते हैं, जिसका सम्पूर्ण आचरण और चिन्तन, गीता के इस कथन को चरितार्थ करता है : ***श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्.***

आत्मतत्त्व की इन आश्चर्यजनक परिणतियों को ध्यान में रखते हुए ही भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश किया होगा. आत्मतत्त्व का उपदेश यदि आसन्न अस्तित्व की पकड़ से हमें मुक्त नहीं कर पा रहा है तो उसकी चर्चा भी क्यों की जाए. भगवान् बुद्ध, जो साक्षात् सामने है, उसे यथावत् स्वीकार करते हुए, उसी में उसके उद्धार की राह तलाशते हैं, किसी परिकल्प में उसे झुठलाए या अवक्रमित किए बिना. लेकिन इससे कोई खास अन्तर नहीं आता. जो है, जो सामने है, वह स्वयं आश्चर्यगुम्फित है. उसे संवारने की साधना ही तत्त्व में प्रवेश की साधना बन जाती है.

३.५. द्वन्द्वात्मकता : आत्मा का आश्चर्यमूल :

आत्मा का आश्चर्यगर्भ है द्वन्द्वात्मकता, जिसके स्वरूप और व्यवहार की चर्चा क्रमशः तीसरे ('*नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः*') और चौथे ('*कं घातयति हन्ति कम्*')एककों में हुई है. इन दोनों ही एककों का भावार्थ एक ***'आश्चर्यवत्*** ' श्लोक में संग्रहीत है.

विरुद्धार्थों का संग्रह करने के कारण द्वन्द्वात्मकता स्वयं में एक आश्चर्य है. आत्मा का यही रूप उसे *आश्चर्यवत्* बनाता है. आत्मा को केन्द्र में रख कर एक आश्चर्यजनक आस्था कल्प सामने आता है. डा. अम्बेडकर ने हिन्दूधर्म के स्वरूप को एक विराट उलझन कहा है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है. अनन्त विरोधों को आत्मसात् करने वाले आत्मा के स्वरूप को ठीक से, या कम ठीक से भी समझ लिया जाए तो उलझन से कोई उलझन नहीं हो सकती. पहेली तभी तक पहेली रहती है जब तक कि उसके अर्थ को न समझ लिया जाए. यह आत्मा

आस्था के प्रामाणिक स्वरूप का आधार है और बहुत से आस्थाभासों का भी. निरंतर मनन करने से इनके विवेक में दृष्टि पैदा हो जाती है.

किसी हिन्दू को उसकी आस्था उलझन में नहीं डालती तो इसका कारण है कि उसका मूल परिकल्प आत्मा और तदुपलक्षित परमात्मा स्वयं अनन्त विरोधाभासों का आश्रय है. विराट, सर्वसंग्राहक, तत्त्वदृष्टि, यदि समुचित साधना के द्वारा आस्था में उसका संग्रह किया जाए, तो आस्था की शक्ति होती है दुर्बलता नहीं. लेकिन यह भी सत्य है कि केवल सुने सुनाए पर टिकी ऐकान्तिक तत्त्वचर्चा अक्सर पाखण्ड और अनैतिकता को ही जन्म देती है : *'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चिद्'*. गीता का यह कथन आज के हिन्दू समाज के विभ्रम और पतन के मूल में अनायास अन्तर्दृष्टि दे जाता है.

तत्त्वज्ञान का श्रवण, सम्पूर्ण व्यक्तित्व के रूपान्तरण की साधना को परिकल्पित करता है. जब तक ऐसा नहीं किया जाता, आस्था में उसका संग्रह मिथ्याचार और सिद्धान्ताभासों को जन्म देता रहेगा. *'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'* यह कथन इसी यथार्थ को रेखांकित करता है. वस्तुतः गीता की निरपेक्ष, तत्त्वदर्शनपरायण भाष्यपरम्परा और हिन्दू समाज की दुर्दशा के बीच एक सीधा सम्बन्ध है. इस बात को बड़ी आसानी से भुला दिया जाता है कि गीता का तत्त्वदर्शन निर्मम कर्तव्यविधि से नियंत्रित है. निरपेक्ष, तत्त्वदर्शनपरायण भाष्य गीता का संदेश तो नहीं हो सकते, लेकिन तत्त्वदर्शन की जिन आश्चर्यजनक विसंगतियों की ओर गीता में इशारा किया गया है, वे उनके सटीक उदाहरण जरूर बनते हैं.

४. *'देही नित्यमवध्योऽयं ....'* :

उपसंहार का एक श्लोक : आत्मवाद प्रसंग के मूल बिन्दुओं का संग्रह करते हुए, एक श्लोक में इस आश्चर्य चर्चा का उपसंहार करते हैं :

(ग) देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।। ३०।।

सब के शरीर में (रहने वाला) यह आत्मा, नित्य और और अवध्य है. इसलिए समस्त प्राणियों के लिए तू शोक करने योग्य नहीं है.

४.१. पूर्वोक्त कथ्य का सूत्ररूप में संग्रह : यह संग्रह श्लोक है. *नित्य* पद से यहां आत्मशाश्वतवाद के बारे में पूर्व में जो कुछ कहा गया है उस सबका संग्रह हुआ है. *नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि* आदि श्लोकों में जो कुछ कहा गया है, वह *अवध्य* पद में संग्रहीत है. उपदेश में पद पद पर तत्त्वदर्शन को नैतिक मूल्यों के साथ गुम्फित करते हुए, जिस विनियोग की विधि का निदर्शन कराया गया है, उसे यहां *'तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि'* इस निष्कर्ष में समाहित किया गया है.

४.२. आत्मशाश्वतवाद से प्राप्त निष्कर्षों का अनुमोदन : आत्मा के बारे में बहुमुखी विभ्रम सम्भावनाओं के बीच, जिनकी चर्चा आश्चर्यवत् श्लोक में हुई है, गीता का मार्गदर्शन स्पष्ट है. विकल्पों के बीच, गीता का चुनाव आत्मशाश्वतवाद है. आस्था के आश्वस्त करने वाले आधार की तलाश शाश्वत में ही होनी चाहिए. अशाश्वत का आश्वासन, उसका दायरा कितना भी बड़ा हो, सावधिक ही होगा. यमराज जब नचिकेता के सामने भोगों के साम्राज्य और जितने वर्षों तक चाहे, जीवित रहने का वरदान मांग लेने को कहते हैं, तो नचिकेता का उत्तर है : ***अपि सर्वं जीवितमल्पमेव, तवैव वाहास्तव नृत्यगीते*** *— जीवन कितना भी बड़ा हो वह (सावधिक होने से) छोटा ही है. ये वाहन और नाचगान आपके ही पास रहें.*

नचिकेता अच्छी तरह समझ चुका है कि जो सावधिक है, अशाश्वत् है, वह सतत भयस्थान है. उसमें मृत्यु और विनाश का भय अर्थतः प्राप्त है. उससे भिन्न, नित्य आत्मा ही अमरत्व और निर्भयता की भूमि हो सकती है. जिनकी आस्था, इस तात्त्विक आधार में प्रतिष्ठित है, मृत्यु उनके लिए भय और शोक का विषय नहीं रह जाती.

आत्मा का तत्त्वदर्शन अनेक प्रकार के सिद्धान्ताभासों को जन्म दे सकता है. आत्मा के आश्चर्य कोष की विविधतापूर्ण सम्पदाओं में से यह भी एक है, रत्नाकर के गर्भ में पलते हलाहल की तरह. इन सिद्धान्ताभासों का निराकरण करते हुए, गीता तत्त्वदर्शन के प्रामाणिक विनियोग की विधि का निदर्शन कराती है. तत्त्वदर्शन को तभी ठीक से समझा हुआ माना जाना चाहिए, जब वह शोक और उद्वेगों से मुक्त स्वस्थ्य मनोदशा में पर्यवसित हो. '*तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि*', यह तत्त्वदर्शन के विनियोग की विधि है, जो मूल्यों के उद्धारक के रूप में तत्त्वदर्शन की भूमिका को निर्धारित करती है.

५. गीता का तत्त्वचिन्तन और उसके हिन्दूनिहितार्थ :

आत्मा आस्था का केन्द्रीय प्रत्यय है. सीधे उपनिषदों से प्राप्त हिन्दूधर्म की यह मान्यता अत्यन्त महत्वपूर्ण है. यह उसे सामीधर्मो से — यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों से अलग करती है जिनमें ईश्वर को न कि आत्मा को आस्था के केन्द्रीय प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया गया है. ईश्वरवादी हिन्दू, आत्मा के सम्बन्ध से ही ईश्वर की अवधारणा पर पहुंचता है और उसे *परमात्मा* नाम देता है. विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों में आत्मा के स्वरूप के अनुसंधान के आधार पर ही परमात्मा और परमात्मावगति के स्वरूप का निर्धारण किया गया है. हिन्दूओं के *आत्मकेन्द्रित* धर्मदर्शन का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें अनीश्वरवादी सम्प्रदायों की आस्था को नकारा नहीं जाता, नास्तिक कह कर उसका तिरस्कार नहीं होता, अपितु उसे भी अत्मसंदर्भ की स्वीकृति के कारण, प्रामाणिक आस्था की कोटि में स्वीकार किया जाता है. इतना ही नहीं, पदार्थवादी- मानववादी मूल्यचिन्तन भी धार्मिक आस्था के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकते है.

धर्म की सामी अवधारण में जैन और बौद्ध संप्रदायों को धर्म नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे धर्म की आधारभूत मान्यता, ईश्वर को स्वीकार नहीं करते. किन्तु हिन्दूधर्म के लिए इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता. इसके लिए आत्मसन्दर्भ को केन्द्र में रखते हुए श्रीमद्भगवद्गीता अपने दूसरे अध्याय में एक ऐसे धर्मदर्शन की भूमिका तैयार करती है जिसमें आत्मशाश्वतवाद और अशाश्वतवाद दोनों संग्रहीत हैं, जिसमें वेदान्त से लेकर आज के पदार्थवादी-मानववादी मूल्यचिन्तन पर्यन्त, आस्था के समस्त वास्तविक और सम्भावित पर्याय, शील पर आधारित एक सामान्य आस्था के कार्यक्रम में सहभागी बनते हैं. आत्मा को ले कर सम्प्रदायों की विशेष अवधारणाएं हो सकती हैं. गीता उनका वर्गीकरण करते हुए उन सब को सांख्य के अन्तर्गत मान्यता देती है. उन सब के बीच गीता के लिए जो महत्वपूर्ण बात है वह है, उस सामान्य आधार की पहचान जो आस्था के शास्त्र का आधारभूत परिकल्प बन सके. गीता आत्मसन्दर्भ के रूप में इसकी पहचान करती है और विचार के लिए इस विवेक को नाम देती है **'सांख्य'**.

यतः आत्मा अनुभव स्वरूप है, आस्था में अत्मसंदर्भ की स्वीकृति का अर्थ है आस्था में अनुभव की प्रामाणिकता की स्वीकृति. यह आस्था का ठेठ हिन्दू तेवर है जिसे 'किताबी मजहब' (पुस्तकपंथी सम्प्रदाय) कभी स्वीकार नहीं कर सकते. गांधी जब कहते थे या गाते थे क्योंकि

यह एक भजन है, 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने रे' तो वे किसी पुस्तकीय मूल्य की नहीं अनुभव से प्राप्त, आत्मसंदर्भाहित मूल्य की बात करते हैं. भजन पारम्परिक है, लेकिन इससे उनकी अन्तर्दृष्टि की आनुभविक प्रामाणिकता में अन्तर नहीं आता.

उपसंहार तथा संगति :

हमारे अध्ययन परिकल्प के अनुसार आत्मवाद चर्चा का उपसंहार हो चुका है. आगे शास्त्रवाद पर विचार होना है. किन्तु गीता की विभागव्यवस्था के अनुसार अभी सांख्य की चर्चा समाप्त नहीं हुई. आत्मा का एक पक्ष यह भी है, कि वह शास्त्रविधि का विषय है. पुण्य और पाप का कर्ता और भोक्ता है. आत्मा का यह एक महत्त्वपूर्ण किन्तु अछूता पक्ष है, जो अनुपद परिच्छेद के विचार का विषय है.

■ ■ ■

तृतीय-परिच्छेदः

(शास्त्रबुद्धिविभागः)

		पृ.सं.
परिच्छेद-समारम्भः	... ...	२५७-२६२
प्रथम एककः (श्लो.३१-३७)	... ...	२६३-२८६
द्वितीय एककः (श्लो. ३८)	... ...	२८७-३०६

परिच्छेद-समारम्भः

(शास्त्रबुद्धिविभागः)

गीतायाः द्वितीयोऽध्यायोऽधिकृतरूपेण सांख्ययोगेति भागद्वये विभाजितः, *'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रुणु'* इति। योगोपदेशादव्यवहितपूर्वः सांख्यविचारान्तर्गत एव कल्प्यः शास्त्र-बुद्धिविभागः (श्लो. ३१-३९)। अस्मिन् विषये विभागवचनस्यासद्भावेऽपि प्रसंगस्योभयकोटिभिन्न -शास्त्रनिष्ठाविषयत्वादुपपद्यतेऽस्य विभागव्यपदेशः। द्वितीयाध्यायस्यान्तःसंरचनायां प्रकरणस्यास्य भूमिकार्हेति निकटविचारम्।

संक्रमबिन्दुर्हि शास्त्रबुद्धिः सांख्ययोगबुद्ध्योर्मध्ये । तत्त्वज्ञानं विधिज्ञानं च निमित्तद्वयं द्वन्द्वमुक्त-मनोदशायां, निसर्गनिश्चयात्मकत्वादनयोः। ज्ञानमार्गेण यस्या अविकलमनोदशायाः सिद्धिर्भवत्यात्म-विवेकेन तस्या एव सिद्धिर्क्रियते शास्त्रैरसंदिग्धेन कर्तव्यबोधेन। अनया दृष्ट्या 'पूरकोपकारक-सहयोगीवेति वक्तुं शक्यते शास्त्रबुद्धिः सांख्यबुद्धेः। मनोदशायाः नियमनं तत्त्वज्ञानस्य व्यावहारिकसामर्थ्यस्यावधिः। एवं व्यवस्थितायां मनोदशायां कर्तव्यविधानन्तु शास्त्रस्यैवाधिकारः। अत्रापि लभ्यते तत्त्वज्ञानसमनन्तरमाविकम्पित-मनोदशायाः सिद्धिः, अन्तरं तु यदत्राविकम्पितमनोदशा ह्यानुषंगिकोत्पादोऽनुवादो वा कर्मविधेः निश्चयात्मकतायाः। कर्मोन्मुखता शास्त्रबुद्धिं योगेन संयुनक्ति। एवं कर्तव्यबुद्ध्यानुषंगिकनिश्चयात्मकतया सांख्यं, कर्मोन्मुखतया तु योगमनुवदति शास्त्रबुद्धिः।

उभयोन्मुखचरित्रहेतुनानेन गीतायां सांख्ययोगबुद्ध्योर्मध्ये शास्त्रबुद्धेश्चर्या स्थापिता वर्तते। माध्यमिकस्वरूपमेवास्याः मध्यागतचर्चाया औचित्यम्। तथाप्यनया मध्यागतया चर्चयाप्रभावितस्तिष्ठति सांख्ययोगबुद्ध्योराधारभूतं विभजनं सुतर्कितम्। अनुपेक्षणीया संक्रमबिन्दोर्भूमिका, वस्तुस्थितेः भागत्वात्तस्यासंज्ञानाद्विवरणेऽपूर्णत्वापत्तिः। अङ्गभूतत्वाद् गीता शास्त्रबुद्धिं तार्किककोटिं न मन्यते, किन्तु स्वीकरोत्यस्याः भूमिकां विभागवचनोपपत्तिकाम्। उपदेशस्य संरचनायां वर्ततेऽस्या विशिष्टा भूमिका यस्याः सम्यक्प्रतिपत्यर्थं विभागरूपेण शास्त्रबुद्धेर्मान्यता स्वतंत्रा सांख्यान्तर्गता वा भवत्यपरिहार्या।

धर्माचरणविषयकः शास्त्रबुद्धिप्रसंगो भजत एककद्वयनिबद्धां संरचनां धर्माचरणस्य सकामनिष्कामभेदेन। प्रथमसप्तश्लोकेषु(३१-३७)प्राप्तसंदर्भे सकामधर्माचरणस्य चर्चा कृता वर्तते। 'सुखदु:खे समे कृत्वा...' इति अष्टत्रिंशत्तमो हि एक एव श्लोकः निष्कामधर्मविषयकः। अनेकायाम-स्पर्शी अयं अध्यायस्य महत्त्वपूर्णः, प्रसिद्धः, सम्भवतः सर्वाधिकविवादास्पदः श्लोकः। अतो युक्तमस्य स्वतंत्रैककरूपेण निर्व्रचनम्।

१. शास्त्रबुद्धि की विभागरूप में परिकल्पना : उसका औचित्य :

इस विभाग के अन्तर्गत श्लोक ३१ से श्लोक ३९ के पूर्वार्ध तक ८½ श्लोकों का संग्रह है. योग चर्चा के समारम्भ से ठीक पहले के इन श्लोकों को एक स्वतंत्र विभाग के रूप में मानने के के लिए विवश करने वाले सैद्धान्तिक और व्यावहारिक कारण है. सांख्यविचार के समापन और योगविचार के समारम्भ के बीच आने वाले इस प्रसंग के लिए शास्त्रबुद्धि नाम दिया गया है.

दूसरे अध्याय के उपदेश को अधिकृतरूप से सांख्य और योग के दो भागों में विभाजित किया गया है. इसमें स्वयं गीता का यह विभागवचन प्रमाण है, *'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रुणु'* (२.३९). तदनुसार विचाराधीन प्रसंग(श्लो.३१-३९) यद्यपि सांख्यचर्चा के अन्तर्गत आता है, कथ्य की विलक्षणता तथा सांख्य और योग के बीच संक्रमसेतु की इसकी भूमिका को देखते हुए यह उचित होगा कि इसे विभाग रूप में मान्यता दी जाए.

२. शास्त्रबुद्धि की दोहरी भूमिका :

सांख्यबुद्धि तथा योगबुद्धि, दोनों के बीच का संक्रमबिन्दु है शास्त्रबुद्धि. तत्त्व का ज्ञान और मूल्य का ज्ञान, दोनों ही द्वन्द्वमुक्त, अतः स्वस्थ मनोदशा के साधक है. ज्ञान का मार्ग (सांख्य) तत्त्वदर्शन के द्वारा जिस अविकल मनोदशा की सिद्धि करता है, शास्त्र उसी की सिद्धि, असंदिग्ध कर्तव्यबोध के द्वारा करते है. इस दृष्टि से शास्त्रबुद्धि को सांख्यबुद्धि का पोषक, उपकारक या सहयोगी कहा जा सकता है. जहां तक तत्त्वज्ञान की बात है, मनोदशा का यह नियमन उसकी व्यावहारिक सामर्थ्य की हद है; कुछ गिनती के आपवादिक मूल्यों को छोड़ कर, जिनकी चर्चा की जा चुकी है, तत्त्वज्ञान मनोदशा के उपचार से आगे नहीं जाता. किन्तु धर्मशास्त्र इससे आगे जाकर कर्म का विधान करता है; शास्त्रबुद्धि का कर्मोन्मुख रूप उसे योग से जोड़ता है, जबकि कर्तव्यबोध का निश्चयात्मकभाव उसे तत्त्वज्ञान का सहकारी बनाता है. **ज्ञान और कर्म, आस्था के**

दो सर्वथा भिन्न, मौलिक धुरे हैं, शास्त्रबुद्धि (विध्यर्थ) उनके बीच सेतु का काम करती है. यह संक्रमबिन्दु (transit point) है, जो एक ओर निश्चयात्मक- कर्तव्यबुद्धि के द्वारा अविकम्पितमनोदशा को सिद्ध करते हुए तत्त्वदृष्टि (सांख्य) की सहयोगी है, तो दूसरी ओर कर्म से जुड़ कर योग की साधना के लिए प्राथमिक उपादान उपलब्ध कराती है.

उभयत्र सम्भावना के कारण ही गीता में शास्त्रबुद्धि-चर्चा को सांख्य और योग के बुद्धिविभागों के मध्य स्थापित किया गया है. इसका माध्यमिक स्वरूप ही इसकी मध्यगत चर्चा का औचित्य है. लेकिन शास्त्रबुद्धि की इस मध्यागत चर्चा से सांख्य और योगबुद्धियों के बीच जो आधारभूत विभाजन है, वह अप्रभावित रहता है. अंगभूत होने के कारण गीता शास्त्रबुद्धि को तार्किक कोटि नहीं मानती और इस रूप में इसका उल्लेख भी नहीं करती. किन्तु इसके विषय की चर्चा हुई है, और इस चर्चा की उपदेश की संरचना में एक विशिष्ट भूमिका है जिसे ठीक से समझने के लिए सांख्य के ही अन्तर्गत एक विभाग रूप में इसे मान्यता देने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए.

३. निश्चयात्मकता के दो स्रोत : तत्त्वज्ञान और शास्त्र :

धर्मशास्त्र अर्जुन के लिए युद्ध का कर्तव्यरूप में साक्षात् विधान करते हैं, जब कि पहले से चल रहा तत्त्वचिन्तन अपनी समस्त कोशिशों के वाबजूद युद्ध में कर्तव्य का भ्रम भर उत्पन्न करके बड़ी मुश्किल से केवल अनुवाद के रूप में उसे सुरक्षित रखने में सफल होता है. यह कथन सही होते हुए भी महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता, यदि इस बात को समझ लिया जाए कि युद्ध की कर्तव्यता नहीं अपितु कर्तव्य में अविकम्पितबुद्धि की सिद्धि ही इस सम्पूर्ण उपक्रम के केन्द्र में है. ***'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि'*** इस वाक्य में ***'न विकम्पितुमर्हसि'*** (तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिए) यह विधेय प्रारम्भ में ही तत्त्वदर्शन के विश्लेषण से प्राप्त उस केन्द्रीय मूल्य की पहचान कर लेता है, जिसकी पुष्टि को उद्देश्य बनाते हुए अतिरिक्त प्रमाण के रूप में शास्त्रव्यवस्था (स्वधर्म) की चर्चा का सूत्रपात हुआ है. *'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'(११) 'तथादेहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति'(१३), 'तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि' (२५), 'तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि'(२६), 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितु-मर्हसि'(२७), तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचतुमर्हसि'(३०),* ये तत्त्वदर्शन के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्ष हैं जो समन्वित रूप से कर्तव्य में उद्वेगमुक्त मनोदशा का परामर्श करते हैं. इनका

अनुवाद करते हुए '*न विकम्पितुमर्हसि*', यह वाक्य, धर्मशास्त्रीय प्रमाण से इस निष्कर्ष की पुष्टि करता है. ध्यान देने की बात यह है कि यहां पुष्टि युद्धकर्तव्य की नहीं कर्तव्यबुद्धि की की जा रही है, जो कर्तव्य में प्रवृत्ति के ठीक पहले विकल्पचिन्तन, अन्तर्द्वन्द्व और तज्जनित मनोद्वेगों के कारण स्तब्ध हो कर रह गई है.

गीता युद्ध का शास्त्र नहीं, मन की साधना का शास्त्र है. युद्ध का परिदृश्य एक उपयोगी संयोग मात्र है, जो अर्जुन में मन के बिखराव की प्रक्रिया को रेखांकित करने के लिए आधार पटल का काम करता है. इस बिखराव से अर्जुन का उद्धार कैसे हो यह गीता की मूल समस्या है. समाधान के लिए ज्ञान और आचरण में निश्चयात्मकता के स्रोतों का मंथन होता है.

तत्त्वदर्शन में निश्चयात्मकता का आधार है आत्मबोध, जब कि निश्चयात्मक आचरण का स्रोत हैं शास्त्र. अर्जुन को बिखराव और अनिश्चय से उबारने के लिए, आसन्न परिस्थिति में आत्मतत्त्वदर्शन के निश्चयात्मक विनियोग के बाद, शास्त्रनिर्णय के द्वारा उसकी पुष्टि करते हैं.

४. धर्माचरण : सकाम और निष्काम : तदनुसार परिच्छेद के दो एकक :

शास्त्रविहित आचरण अर्थात् धर्माचरण के दो रूप हो सकते हैं. सकाम धर्माचरण और निष्काम-धर्माचरण. तदनुसार, इस परिच्छेद के दो एकक हैं. श्लोक ३१ से ३७ तक सकाम धर्माचरण की चर्चा है. यह इस परिच्छेद के प्रथम एकक का विषय है.

श्लोक ३८ (*सुखदुःखे समे कृत्वा...*) निष्काम धर्माचरण का प्रतिपादन करने वाला अकेला श्लोक है. अनेक आयामों को छूता, यह अध्याय के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, सर्वाधिक प्रसिद्ध, सम्भवतः सर्वाधिक विवादास्पद श्लोकों में से एक है. धर्माचरण की उच्चतर कोटि का प्रवर्तन, निष्कामकर्म के आद्योपदेश, तथा योग (कर्मयोग) की पूर्वपीठिका के रूप में महत्त्वपूर्ण हुआ यह श्लोक, एकाकी होते हुए भी स्वतंत्र एकक के रूप में विचार के योग्य है.

■ ■ ■

प्रथम एकक:

(निश्चयात्मक-कर्तव्यबुद्धि के समर्थन में
लोक और शास्त्र की व्यवस्थाएं)

आत्मा हि तत्त्वदर्शनास्याधारभूतः परिकल्पः। आत्मविषयक-तत्तन्मान्यतानां विश्लेषणं कुर्वन् 'नानुशोचितुमर्हसि' इति कर्तव्योपकारक-सुस्थमनोदशाया निष्पत्तिः कृता वर्तते विंशतिश्लोकात्मके (११-३०) आत्मवादप्रकरणे। सम्प्रत्यस्यैव पुष्टिः क्रियते धर्मशास्त्राणां व्यवस्थाभिः। अस्य प्रकरणस्य सप्तश्लोकात्मके प्रथम एकके सकामधर्माचरणस्योद्देश्यपूर्णविश्लेषणेन क्रियतेऽभीष्टाविकम्पित-भावस्य सिद्धिः –

(क) स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

(ख) अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥३६॥

(ग) **हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।**
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥३७॥

तथा अपने धर्म को देखकर भी तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध से दूसरा (कोई) कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है(३१). हे पार्थ! स्वर्ग का द्वार दैवयोग से ही खुला हुआ मिल रहा है. इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग (ही) पाते हैं(३२).

अब यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा (३३). लोग कभी समाप्त न होनेवाली तेरी अपकीर्ति की चर्चा करेंगे; उत्कर्ष की सम्भावनाओं से युक्त पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से (भी) बढ़कर है(३४). महारथी तुझे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे. (इस प्रकार) जिनकी (दृष्टि में) तू (पहले) बहुत सम्मानित था, (अब) लघुता को प्राप्त होगा(३५). तेरा अहित चाहने वाले, तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए (तुझे) बहुत से न कहने योग्य वचन कहेंगे; उससे अधिक दुःख और क्या होगा? (३६).

(युद्ध में) मारा जाकर या तो तू स्वर्ग को प्राप्त होगा, अथवा जीतकर पृथ्वी का राज्य भोगेगा; अतः हे अर्जुन! (तू) युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा (३७).

अस्याः सप्तश्लोक्याः (३१-३७) चत्वारो विभागाः। (१) *'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते'* (श्लो. ३१) इति प्रतिज्ञावाक्यम्, (२) व्यतिरेकयुक्त्यास्य सिद्धिः (श्लो. ३२-३५), (३) अन्वय युक्त्या च (श्लो.३६), (४) निगमनवाक्यं युद्धस्य निर्विकल्पश्रेयोपपत्तिकमिति (श्लो.३७)।

१-२. अभिनिवेशस्य निश्चयाविनाभावित्वात्सकामधर्माचरणेऽभिनिवेशरूपे, सर्वाधिका दृढा हि निश्चयात्मिका ग्रन्थिः। धर्मशास्त्राणि भयप्रलोभनरूप-दृष्टादृष्ट-दण्डपुरस्कारव्यवस्थाभिः पोषयन्ति स्वीयमभिनिवेशमूलं, मूलमौलिकञ्च निश्चयात्मकं व्यवसायम्। सकामधर्मस्योग्र-निश्चयानुबंधदृष्टुकामेभ्यः इस्लामधर्मस्य जेहादिभ्यः (धर्मयोधिभ्यः) प्रशस्यतरोदाहरणं दुर्लभम्। अवतरितवाण्यां प्रतिश्रुतेषु दिव्याङ्गनानां भोगेषु समर्पितचित्ताः, निराकृतसर्वविवेक- नियोगाः अत्र प्राणोत्सर्गस्य युगपदेव दिव्यभोगानां लाभस्याश्वासनेन प्रेरिता आतुर मुहम्मदपंथीयधर्म-योधिनः संसारे विप्लवं कुर्वन्तः प्राणान्शलभायन्ते प्रतिवर्षं सहस्रशः। साकारा भवत्यत्र धर्मस्यैका विशुद्धार्थशास्त्रीयावधारणा, निवेशलाभविनिमयरूपा। एतादृशनिवेशस्यैकोऽवसर उपस्थितोऽर्जुनस्यापि सम्मुखम् :

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।

३. भोगनिमित्तसकामधर्माचरणस्य गणनपरिमाणित्वादुपस्थिते युद्धे सम्भावितश्रेयसः वस्तुनिष्ठाकलनमेकं प्रस्तौति भगवान् श्रीकृष्णः । अकालनमिदमन्वयव्यतिरेकरूपम्। प्रथमं तावद् प्रदर्श्यते युद्धोपरतेः श्रेयोव्यतिरेकः :

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।

४. श्रेयोऽन्विता युद्धस्य प्रत्येका परिणतिः, इत्यन्वयमुखेन युद्धस्य निर्विकल्पश्रेयोवत्तायाः सिद्धिः क्रियते *'हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'* इत्यनेन। विजयान्मृत्युपर्यन्तविस्तीर्णानां युद्धस्यात्यन्तविरुद्धपरिणतीनां मध्ये यदि किमपि निश्चितं तत्तु युद्धस्य सुखान्वयनस्याश्वासनम्। एवमन्वयव्यतिरेकसाधनेन *'धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते'* इति प्रतिज्ञातस्य सिद्धिः।

५. विवेच्ये प्रकरणे विचारणीयौ द्वौ शब्दौ, स्वधर्मः धर्मयुद्धञ्च। अर्जुनस्य सन्दर्भेऽन्तःसम्बद्धाविमौ। युद्धस्य क्षत्रियाणां वर्णधर्मत्वात्, अर्जुनस्य पक्षत्वात्, युद्धं हि अर्जुनस्य स्वधर्मः। स्वधर्मत्वात्क्षत्रियस्य कृते प्रत्येकं युद्धं धर्मयुद्धमेव ।

किन्तु सन्दर्भविशेषितत्वात्सोपाधिकत्वादस्यान्तःसम्बन्धस्य प्राप्तिः एकस्मिन्नपि युद्धे सर्वत्र समानरूपेण भवेदिति नावश्यकम्। द्रोणादिब्राह्मणयोधिनामक्षत्रियत्वात्स्वधर्मस्याप्राप्तित्वात्, युद्धे धर्मप्रसंगस्याप्यप्राप्तिः। एवं सन्देहास्पदत्वान्निकटविवेचनामपेक्षते धर्मयुद्धस्यावधारणा महाभारतीया।

६.१ स्वपदार्थाधीनः स्वधर्मपदार्थः। धर्मशास्त्रानुसारं वर्णाश्रमसंयावकल्पितविग्रह एव व्यक्तेः स्वत्वं, स्वभावो वा, वर्णाश्रमव्यवस्थायाः गुणकर्मविभागानुसारित्वात्। अतो शास्त्रविहितवर्णाश्रमधर्म एव स्वधर्मः, स्वाभाविको धर्म इति पारम्परिकदृष्टिः।

६.२ अस्तित्वोपादाननिमित्तस्थायिचरित्रमित्यपि स्वीकार्योऽर्थो भवितुं शक्नोति स्वभावपदस्य। गुणकर्मविभागस्य स्वीकृतिर्हि वस्तुतः शास्त्रविहितव्यवस्थायाः वस्तुभूताधारस्य स्वीकृतिः। समस्यास्त्वत्र अस्तित्वोपादानतन्निरूपितव्यवस्थयोर्विसंवादः। व्यक्तेः शास्त्रव्यवस्थितजन्मवर्णो

न दृश्यते सर्वदा तस्य मनोवैज्ञानिकचरित्रसंवादी। वाल्मीक-परशुराम-विश्वामित्र-प्रभृतिमनीषिणां वर्णविपर्यस्तव्यक्तित्वान्यस्यार्षोदाहरणानि। एतेषामन्येषाञ्चैतादृशानां 'स्व-भावस्य', तदनुसारं स्वधर्मस्य सिद्धेराधारो भवेद् दृष्टोपादानं शास्त्रव्यवस्था वेति निर्णयो नास्ति सहज:। एतावन्निश्चितं यत् स्वभावस्य दृष्टकल्प: शास्त्रकल्पितवर्णनिर्धारणं समीक्षार्हं विदधन् वर्णनिर्धारस्य प्रत्यक्षनियामकान् प्रति समाह्वयति प्रबुद्धजनमानसम्।

वस्तुतस्तु दृष्टोपादानेषु स्वभावस्यानुसंधानं ददाति तमेकं गत्यात्मकमर्थम्। चातुर्वर्ण्यप्राचीरमुक्तं दृष्टोपादानेषु स्वभावस्यानुसंधानं प्रकटयति तस्य वैज्ञानिक- गवेषणायोग्य-वैविध्यसंकुलभूतार्थं स्वधर्मस्यापि सम्भावनाश्च तत्समानुपाती:। देश-काल- समाज-पर्यायेष्वाविष्कृतस्वभावाभिव्यक्तय: यान् स्वधर्मप्रजातीन् कल्पते, असम्भवो हि तेषां सूचीकरणम्। महाभारते दस्युधर्मसहितमनेकेषां स्थानीयधर्माणां चर्चा कृता वर्तते। वस्तुत: जीवने प्रत्येका भूमिका यां व्यक्ति: अंगीकरोत्योत्मकृते, सा व्याकुर्वन्ती आस्तित्वं, स्वभावञ्च परिभाषयन्ती कल्पते तस्य स्वधर्माय ।

६.३ नैतिकनिर्णयै: स्वभावो निरंतरमात्मन: परिष्कारं कुर्वन्नास्ते। प्रत्येको निर्णयो हि एकं पुनराख्यानं स्वभावस्य। महाभारतस्य प्रसिद्धपात्राणां, भीष्म-युधिष्ठिरार्जुन-गांधारी- -कर्णादीनां जीवनस्य केन्द्रे वर्तते कश्चिद् कठोरनिर्णय: प्रतिज्ञारूप:, प्राणोत्सर्गैरपि यस्य निर्वाहाय कृतसंकल्पास्ते। प्रतिज्ञार्पयति तेषां व्यक्तित्वं स्वीयमर्थं, परिभाषयति स्वभावं, स्वधर्मो भूत्वा नियोजयति तेषां व्यवहारं, निर्वाहेण च ददाति तान् सत्यनिष्ठां सहजविश्वसनीयताञ्च । महत्त्वं भजत इदं स्वधर्मस्यानुसंधानमपारम्परिकं, हिन्दूधर्मस्य गतिशीलसर्जनात्मकापुस्तकीय-व्यक्तिप्रमाण -सम्भावनानां समुचितावगाहनाय।

७.१ गीतायामप्रयुक्त: धर्मयुद्धमितिशब्द:। किन्तु प्राप्येते तत्र तदर्थकौ द्वौ प्रयोगौ यथा, *'धर्म्याद् युद्धात्', 'धर्म्यं संग्रामम्'*। वर्णधर्मत्वाद्धर्मयुद्धं महत्त्वपूर्णरूपेण विशिष्यते धार्मिकयुद्धाद्यस्य पर्यार्या:, पवित्रयुद्ध-जेहाद-धर्मान्तरणाभियानानि, सम्पूर्णधर्मसमुदायस्य निर्विशेषकर्तव्यरूपेण प्रतिपादिता: सन्ति तत्तद्धर्मग्रन्थेषु। विशेषधर्मो धर्मयुद्धं, धार्मिकयुद्धं तु सम्पूर्णस्य धर्मसमुदायस्य सामान्यधर्म:। अयं विवेको महत्त्वपूर्ण:।

७.२ हिन्दूधर्मशास्त्राणि प्रस्तुवन्ति सामान्यविशेषेति द्विधा वर्गीकृतं धर्मविधानम्। मानवमात्रस्य निर्विशेषकर्तव्यरूपेणविहिताचार: सामान्यधर्म:, विशेषधर्मो हि वर्णाश्रमसापेक्षकर्तव्यविधि:।

विशेषधर्माणामेकदेशीयत्वात्सामान्यानां त्वतिसमान्यत्वादुभयोरव्यावर्तकत्वं समग्रास्थाकल्पस्य हिन्दूधर्मस्य। अतो धर्मशास्त्राणां व्यवस्थायां निरालम्बत्वात् हिन्दूचेतनाया आपद्धर्म एव शरणम्, विभाजकवर्णाश्रमव्यवस्थाया अपवादस्थलत्वात्तस्य।

७.३-५. आततायिशासकानां विरोधे क्षत्रियेतराणां शस्त्रग्रहणस्योदाहरणानि मिलन्ति पुराणेषु। मुगलशासनकाले धर्मरक्षणार्थं युद्धाय सन्नद्धस्य सिक्ख-पन्थस्याविर्भावोऽपि निदर्शयति आपद्धर्मव्यवस्थायाः सार्थकभूमिकां, संकेतयति चास्य सम्भावनाः विभाजनजर्जर-संकटग्रस्तहिन्दूसमाजस्य ऐक्यभावोद्धारे । सूक्ष्ममन्तरं युध्योः धर्मधार्मिकयोः । यथा पूर्वमुक्तं, हिन्दूधर्मशास्त्रैः क्षत्रियेभ्यः कर्तव्यरूपेण विहितं युद्धं धर्मयुद्धं, तद्भिन्नं धार्मिकास्मितानिबद्धस्य युद्धकर्तव्यस्य निर्विशेषविधेर्नाम धार्मिकं युद्धम्। धर्मशास्त्रेषु तादृशस्य धार्मिक-युद्धस्यानवकाशत्वात्, तेषां विभाजकमूल्यबुद्धिमपाकृत्य सिखगुरवः धार्मिक-युद्धस्य आदर्शपुरुषरूपेण परिकल्पयन्ति सन्तसिपाहीति व्यपदेशप्रसिद्धं सन्तयोद्धारं, यः सन्तरूपे भवति ब्राह्मणः, योद्धारूपे क्षत्रियः, उद्यमशीलतायां वैश्यः एवं सेवाभावे च वर्णस्तुरीयः। आक्रामकधर्मसमुदायैर्विभजनशीलव्यवस्थाभिस्स्वकीयैः सततानुभूयमानास्मितासंकटं हिन्दूसमाजस्य कृतेऽद्यापि प्रासंगिकःसन्तयोद्धुरादर्शः।

८. धार्मिकयुद्धस्यापद्धर्मरूपविनिश्चयस्य महत्त्वपूर्णा निहितार्थाः। सामान्यपरिस्थित्यां हिन्दूधर्मो नानुमोदति धार्मिकं युद्धं, कस्मिन्नपि रूपे। अतो हिन्दूनां धर्मशास्त्रेषु कुत्रापि नास्ति वर्णधर्माद्धर्मयुद्धभिन्नस्य धार्मिकयुद्धस्य विधानं सामान्यकर्तव्यरूपेण। स्पष्टं आततायुत्पीडन-स्यासाधारणपरिस्थित्यामेवासाधारणकर्तव्यत्वेन धार्मिकयुद्धस्याभियोगः। स्पष्टं एतादृशं युद्धं प्रतिरक्षात्मकमेव भवितुं शक्नोति। सामान्यपरिस्थित्यां सैनिकरूपे प्रशिक्षितानां क्षत्रियाणां दायित्वमिदम्। किन्त्वितरधर्मोच्छेदकानामाततायिधर्मपर्यायाणामाक्रामकपरिस्थित्यां धर्मरक्षा भवति सम्पूर्णसमाजस्य दायित्वमविभाज्यम्। असाधारणपरिस्थितिजन्यत्वाद्धार्मिकयुद्धमिदमापद्धर्म-रूपेणैव स्वीकर्तव्य इति न्यायः।

९-१०. महाभारतं नासीदेकं धार्मिकप्रयोजनोद्दिष्टं युद्धम्। कस्यचिद्धार्मिकमतस्योच्छेदो स्थापना वा नासीदस्य प्रयोजनम्। इदं त्वासीद् द्वयोः दायादयोर्मध्ये राज्याधिकारविवादस्य क्षत्रियोचिता परिणतिः। विशेषेऽर्थ एव महाभारतं धर्मयुद्धमिति कथ्यते। उभयोर्पक्षयोर्क्षत्रियत्वात्क्षत्रियाणां च युद्धसहभागस्य स्वधर्मत्वान्महाभारतं क्षात्रसम्बन्धेन धर्मयुद्धं न तु धार्मिकयुद्धमिति व्यपदेशनिर्णयः।

एकक विमर्श :

पूर्व में आत्म-विषयक तत्तद् मान्यताओं का विश्लेषण करते हुए अर्जुन के लिए कर्तव्यबुद्धि का निर्धारण किया गया. इसी की पुष्टि अब धर्मशास्त्रों की व्यवस्था के द्वारा करते हैं, जिन्हें संकल्पभेद से सकाम और निष्काम कहा जा सकता है. सात श्लोकों के इस एकक का सन्दर्भ है सकाम धर्माचरण. अर्जुन के लिए युद्ध की निर्विकल्पश्रेयोरूपता की सिद्धि करते इस एकक के तीन विभाग हैं :

(१) **प्रतिज्ञा** (श्लो. ३०-३१) : एक क्षत्रिय के लिए युद्ध स्वधर्म है और स्वधर्म होने एक क्षत्रिय के लिए कुछ भी इससे अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता.(२) **युक्ति** : इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए क्रमशः(क)व्यतिरेकी (श्लो.३२-३५)तथा (ख)अन्वय(श्लो. ३६)युक्तियों का प्रयोग, तथा (३)**निष्कर्ष** : युद्ध में निर्विकल्प श्रेयोरूपता की सिद्धि (श्लो. ३७).

१. सकामधर्माचरण : उसक निसर्ग निश्चयात्मकता :

निश्चयात्मकता की गांठ सकाम धर्माचरण में सर्वाधिक मज़बूत होती है. क्योंकि यह सीधे भय (दंड) और प्रलोभन(पुरस्कार) के प्राकृत उत्प्रेरकों पर टिकी शास्त्रव्यवस्था से प्राप्त होता है. सकाम धर्माचरण की उग्र निश्चयात्मकता को देखना ही है, तो इसका इस्लामधर्म की जेहादियों के आचरण से बेहतर कोई उदाहरण नहीं हो सकता. उनके धर्मग्रन्थ पवित्र कुरान शरीफ़ का यह स्पष्ट आश्वासन है कि जेहाद करते हुए प्राणोत्सर्ग करने वाले प्रत्येक जेहादी को जन्नत (स्वर्ग) में भोग के लिए बड़ी बड़ी आंखों वाली हूरें मिलेंगी(कुछ व्याख्याकारों के अनुसार ७२ हूरें और १२ गिलमा). वह भी तत्काल; अन्य मुसलमानों की तरह उन्हें कर्मफल के लिए 'निर्णय के दिन' तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी.

इस दुनियां में त्याग और तपस्या का फल इतनी जल्दी कहां मिलता है? जिन्दगी भर इन्तजार करना पड़ता है, इस्लाम के हिसाब से तो कयामत (प्रलय) तक. यह हक तो अल्लाह की राह में कुर्बान होने वालों का ही हो सकता है कि यहां शहीद हुए और वहां मिलीं हूरें. यह आश्वासन इतना सीधा और साफ है, कि हजारों भावुक मुस्लिम युवक, हूरों के सपने संजोए, हर साल काफिरों के खिलाफ जंग करते, दुनियां भले ही उन्हें आतंकवादी कहे, बिना किसी संदेह या अन्तर्द्वन्द्व के, खुशी-खुशी शहीद हो जाते हैं. वर्तमान में तो अविकम्पित मनोदशा का

इससे अधिक सटीक उदाहरण मिलना मुश्किल है.

बैंक ड्राफ्ट बनवा कर भेजने वाले के मन में, एक क्षण के लिए भी यह ख्याल नहीं आता कि यह ड्राफ्ट अपने गन्तव्य पर पहुंच कर भुनेगा भी या नहीं. राज्य और व्यवसाय की व्यवस्था उसके सुरक्षित व्यवहार की जमानत होते हैं. विधिमूलकधर्म आस्था को कुछ ऐसा ही व्यावसायिक अर्थ देता है. व्यवसाय में घाटा हो सकता है. लेकिन यहां तो ऐसा निवेश है जिसमें घाटा भी लाभ है, और लाभ तो लाभ है ही. ऐसे ही एक निवेश का प्रस्ताव अर्जुन के सामने है :

हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।

युद्ध में मारे जाने पर स्वर्ग पाओगे और विजयी होने पर राज्य सुख का भोग करोगे. इसलिए हे अर्जुन!तु यद्ध का निश्चय करके उठ खड़ु होओ.

सकाम प्रवृत्ति में निश्चयात्मकता, भोगों की निश्चयात्मक मूल्यवत्ता से प्राप्त होती है. भोगों की मूल्यवत्ता जैविक-सत्ता में उनके उपकारक, संवादी स्वरूप से प्राप्त होती है. इस अर्थ में भोगों की मूल्यवत्ता प्राकृत है, स्वभावप्राप्त है. उनसे निवृत्ति यदि मूल्य है, तो मन में उसका निश्चय बड़ी मुश्किल से, बड़ी साधना के बाद ही हो पाता है. निवृत्ति सायास है, उसमें आस्था आजीवन उद्यम की कभी कभी तो जन्मान्तारवितत अनुशासन की अपेक्षा रखती है, जब कि भोगों में आस्था सहज है स्वभावप्राप्त है. यही सकाम प्रवृत्ति की निश्चयात्मकता का रहस्य है.

प्राकृत निश्चयात्मकता, भोगों को अनुमाप्य बनाती है, उन्हें पारिमाणिक व्यवहार की योग्यता देती है. इस योग्यता के कारण, भोग गणना और आकलन के आधार पर वस्तुनिष्ठ निर्णय का विषय बनते हैं. आगे के श्लोकों में अर्जुन के लिए एक ऐसे ही एकसुविचारित निर्णय की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है. उनकी चर्चा से पहले, सकाम धर्माचरण में अन्तर्निहित मूल मान्यताओं का संज्ञान लेना उपयोगी होगा.

२. न्यूनतम मूल-मान्यताएं :

२.१ काम्य में श्रेयबुद्धि : सकाम प्रवृत्ति, काम्य विषयों में मूल्यबुद्धि के बिना सम्भव नहीं है. व्यक्ति उसी को पाने के लिए उद्यम करता है, जिसे वह मूल्यवान् मानता है; जिसे वह मूल्यवान् नहीं मानता, उसे पाने के लिए वह उद्यम करेगा ही क्यों? जिसे स्वर्ग की चाह नहीं है, उसके

लिए स्वर्गप्राप्ति के लिए विहित यागादि कर्म अप्रासंगिक हैं.

काम्य में प्रवृत्ति स्वभाविक होती है. सामान्यतया लोग कामनापूर्ति एवं तज्जन्य सुख को ही परमप्राप्तव्य मानते हैं. अतः सामान्यजन के लिए धर्म का अर्थ होता है, शास्त्रविहित आचरण, जो लोक और परलोक में कामनाओं की पूर्ति का आश्वासन देता हो. संसार के बहुसंख्य धर्म कामनापूर्ति के दिव्यविधान हैं जो लोक और परलोक में सुखों के संग्रह को ही धर्माचरण की परम उपलब्धि मानते हैं. साम्प्रतिक सन्दर्भ आस्था के इसी आयाम से सम्बन्धित है.

२.२. सामाजिक-व्यक्तित्व की परिकल्पना : व्यक्ति का सामाजिक विग्रह ही नैतिकचेतना का संबोध्य है. नैतिक चेतना से तात्पर्य है, शुभाशुभ का बोध, अच्छे बुरे का विचार. व्यक्ति का सामाजिक विग्रह, उसके गुण-कर्म के अनुरोध से प्राप्त 'पर' के संग्रह से बनता है, यह 'पर' ही व्यक्ति के व्यवहार की भूमि होता है. इस 'पर' के प्रति — जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका समाज है, व्यक्ति का व्यवहार, कर्म और भोग के रूप में दो आकार ग्रहण करता है. यह व्यक्ति का सामाजिक संस्कार ही है, जो आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दो धर्मों का आधान करता है. आत्मा का कर्तृ-भोक्तृ-विशिष्ट स्वरूप, कुछ विचारकों के लिए उसका तात्विक स्वरूप है, तो कुछ के लिए केवल एक आगन्तुक संस्कार. तात्त्विक स्थिति जो भी हो, व्यक्ति का सामाजिक विग्रह एक निर्विवाद वास्तविकता है.

२.३. श्लोक *'स्वधर्ममपिचावेक्ष्य ...'* :

व्यक्ति की वर्ण के रूप में पहचान : तन्निरूपित स्वधर्म की अवधारणा : हिन्दुओं के धर्मशास्त्र मानवजाति को गुण और कर्म के आधार पर चार वर्णों में वर्गीकृत करते हुए, प्रत्येक वर्ण के लिए उसके स्वधर्म का विधान करते हैं. तदनुसार एक क्षत्रिय के रूप में अर्जुन के लिए युद्ध उसका वर्णधर्म है, उसका स्वरूपसिद्ध धर्म अर्थात् स्वधर्म :

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्माद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥३१॥

अपने स्वधर्म पर विचार करने पर भी तुम्हें विचलित होने की कोई जरूरत नहीं है. धर्मयुद्ध से अधिक श्रेयस्कर, एक क्षत्रिय के लिए कुछ भी नहीं हो सकता.

यहां **स्वधर्म** शब्द दो बातों को बताता है : अर्जुन का स्वत्व अर्थात् एक क्षत्रिय के रूप में उसकी पहचान और इस पहचान से जुड़ा उसका धर्म अर्थात् शास्त्रविहित कर्तव्य. **'स्वधर्म पर विचार करने पर भी'** इस वाक्यांश में 'अपि' (भी) अव्यय से स्पष्ट है कि यहां कोई नई बात नहीं कही जा रही है, अपितु जो पहले कहा गया है, उसी की अतिरिक्त आधारों में पुष्टि की जा रही है. केवल चिन्तन का सन्दर्भ बदल गया है. जिस प्रज्ञा को अभी तक तत्त्वदर्शन के विभिन्न मतों के विश्लेषण के द्वारा स्थापित किया गया है, उसी के लिए अब धर्मशास्त्रों का समर्थन जुटाया जा रहा है.

ध्यान देने की बात है यह है कि शास्त्र, वे किसी धर्म के क्यों न हों, व्यक्ति को साक्षात् सम्बोधित नहीं होते. वे समाज को, समाज की किसी छोटी बड़ी इकाई को सम्बोधित होते हैं. सामाजिक इकाई के साथ अन्वित होकर व्यक्ति धर्मशास्त्रों का सम्बोध्य बनता है, और सामाजिक इकाई के लिए दिया गया विधान उसका स्वधर्म बन जाता है.

यहां एक क्षत्रिय के रूप में अर्जुन की पहचान को रेखांकित करते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण उसका ध्यान धर्मशास्त्रों की व्यवस्था की ओर आकर्षित करते हैं : **स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि**. एक क्षत्रिय के लिए युद्ध में सहभाग शास्त्रविहित कर्तव्य है. अतःअर्जुन की दुविधा और चलायमान मनःस्थिति के लिए कोई औचित्य नहीं बनता (*न विकम्पितुमर्हसि*). एक क्षत्रिय के लिए कुछ भी ऐसा नहीं हो सकता जो धर्मयुद्ध से अधिक श्रेयष्कर हो. महाभारत तो ऐसे प्रसंगों से भरा पड़ा है जो इस मान्यता की न केवल पुष्टि करते हैं, अपितु इसका काव्यमय विशदार्थ भी प्रस्तुत करते हैं. इनमें उन सुखों का, उन सम्मानों का विशद वर्णन है जो युद्ध में प्राणोत्सर्ग करने वाले क्षत्रियों की स्वर्ग में प्रतीक्षा करते हैं. इसीलिए भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि युद्ध का यह अवसर, जिसकी नैतिकता को ले कर वह संशयग्रस्त है, वस्तुतः उसके लिए स्वर्ग का द्वार है, जो दैवयोग से खुला रह गया है. भाग्यशाली क्षत्रियों को ही ऐसे अवसर मिलते हैं — **सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते यद्धमीद्दशम्**.

२.४. कर्म का मूल्य में रूपान्तरण : धर्मशास्त्रों की भूमिका : लोक में आचरण के मूल प्रेरकतत्त्व हैं, सुख और कीर्ति की चाह. अपकीर्ति और दुःख का निरोध इन्हीं में अन्तर्भावित हैं. शास्त्रविधान आचरण का इस प्रकार नियमन करते हैं कि वह मूल्य में परिवर्तित हो जाता हैं. मूल्य

में परिवर्तित होने का अर्थ है, क्षणसत्ताक कर्म का शास्त्रविहित आचरण के द्वारा संग्रह योग्य मुद्रा में परिवर्तित होना. हमारे सुख और कीर्ति अल्पकाल तक रहने वाले अनुभव हैं. हर आदमी यह चाहता है कि ये भोग चिरस्थायी हों. सुख में स्थायित्व की लालसा ही विभिन्न धर्मों में स्वर्ग की परिकल्पना का आधार है. यह स्थायित्व कैसे हो? जहां तक सुख की बात है वह अनुभवसत्ताक है, अर्थात् अनुभव के साथ ही इसका क्षय हो जाता हैं. अतः इसका संग्रह सम्भव नहीं. सुखादि का साधनभूत जो कर्म है वह भी क्षणभंगुर ही है, संग्रह उसका भी नहीं हो सकता. शास्त्रों की व्यवस्थाएं व्यक्ति के आचरण को विधि निषेध का विषय बनाते हुए, उसे पुण्य और पाप रूप धनात्मक और ऋणात्मक मूल्यों में परिवर्तित करती हैं. विहिताचार-जनित इस अलौकिक मुद्रा कोष को ही प्रारब्ध, अपूर्व या अदृश्य शब्दों से कहा गया है. यह प्रारब्ध ही व्यक्ति के लिए, मरणोपरांत — स्वर्ग में अथवा भावी जन्मों में, उसके सुखदुःख के भोगों को सुनिश्चित करता है.

सृष्टि के नैतिक आधार की स्वीकृति, जिसे प्रत्येक धर्म अपने अपने ढंग से शास्त्रबद्ध करता है, सभी धर्मों का आधारभूत परिकल्प है. विहित आचरण, शास्त्रों के माध्यम से दिव्य नैतिक सत्ता से जुड़ कर मूल्यवान् बनता है. अर्जुन के लिए युद्ध एक ऐसा ही शास्त्रविहित आचरण है जो लोक में कीर्ति और परलोक में स्वर्गसुख का देने वाला है.

यदृच्छयाचोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

यह संयोग ही है कि स्वर्ग का द्वार खुला रह गया है. ऐसा युद्ध हे पार्थ! भाग्यशाली लोगों को ही मिलता है.

२.५. *'यदृच्छयाचोपपन्नं...'* :

युद्ध में श्रेय की अनायास उपपत्ति : स्पष्टीकरण : प्रेय से भिन्न, श्रेय का पथ, निरोधजन्य एवं प्रयत्नसाध्य होता है. लेकिन अर्जुन के सामने एक ऐसी परिस्थिति है जब श्रेय स्वयं उसके सामने चल कर आया है. यह श्लोक अर्जुन के लिए श्रेय की इस अनायास उपस्थिति की ही बात कर रहा है.

यदृच्छयाचोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्' इसका शाब्दिक अर्थ है — ''**संयोग से स्वर्ग का द्वार खुला रह गया है**''. सामान्यतया स्वर्ग का द्वार, कभी कभार, चुने हुए पुण्यकर्माओं के लिए ही खुलता है. इसमें हठपूर्वक प्रवेश के लिए पूर्व में अनेक राजा प्रताड़ित हो चुके हैं. स्वर्ग का यह

अत्यन्त संरक्षित द्वार जैसे किसी गलती से, या किसी अन्य कारण से खुला रह गया है, और ऐसा लगता है, भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से व्यवस्था की इस चूक का लाभ उठाने के लिए कह रहे हों. किन्तु वास्तव में वे अर्जुन के सामने उपस्थित उस विलक्षण परिस्थिति की ओर संकेत कर रहे हैं, जिसमें धर्माचरण स्वयं अपरिहार्य बन जाता है.

धर्माचरण एक ऐच्छिक कर्म है. यह व्यक्ति के निर्णय का, उसके चुनाव का विषय होता है. यह चुनाव आसान नहीं होता, क्योंकि यह लौकिक प्रलोभनों के विरुद्ध कठोर धर्मनिर्णय के रूप में होता है. अर्जुन को ऐसा कोई निर्णय नहीं लेना. एक क्षत्रिय के लिए स्वधर्म रूप में विहित युद्धकर्तव्य स्वयं उसके द्वार पर उपस्थित है. युद्ध की इस निर्विकल्प श्रेयोरूपता को बताने के लिए ही उसे ***'स्वर्ग का खुला हुआ द्वार'*** कहा गया है. युद्ध रोजाना नहीं होते, जो होते हैं वे धर्मयुद्ध हों यह जरूरी नहीं; अतः वे स्वर्ग को प्राप्त कराने वाले हों, यह भी जरूरी नहीं. किन्तु अर्जुन के सामने तो एक ऐसा युद्ध है जिसमें भाग लेना, बिना किसी जांच पड़ताल के निश्चित श्रेय का साधन है, ऐसा रास्ता कि आंख मीच कर चलें तो भी स्वर्ग पहुंच जाए. इसीलिए कहा है कि — ***सुखिनःक्षत्रियाःपार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्*** — भाग्यशाली क्षत्रियों को ही ऐसा युद्ध नसीब होता है.

३. '*अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यम्..*' : व्यतिरेकी युक्ति :

युद्ध से पलायन का अश्रेयस्कर रूप : जब किसी कर्तव्य को निर्विकल्प श्रेय कहा जाता है तो इसका अर्थ है ऐसा कर्तव्य जो अपना कोई विकल्प नहीं देता, बचाव का कोई रास्ता नहीं छोड़ता. यह एक ही रास्ता है; इसे छोड़ कर चलने का एक ही अर्थ है, और वह है भटकाव और पतन. युद्ध का यह व्यतिरेकी आकलन ही अग्रिम श्लोक का विषय है :

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

और यदि तुम धर्म रूप में प्राप्त इस संग्राम को नहीं करोगे, तो स्वधर्म और कीर्ति दोनों को नाश कर के पाप के भागी होंगे.

युद्धपलायन से अर्जुन के लिए तीन अश्रेयों की प्राप्ति होती है. स्वधर्म की हानि, कीर्ति की हानि, और पाप की प्रसक्ति. धर्माचरण, स्वयं में कर्मरूप होने से एक प्रत्यक्ष घटना है. इसके

लौकिक और अलौकिक दो फल माने हैं. लौकिक फल 'कीर्ति' तो प्रत्यक्ष है, जब कि इससे होने वाला पुण्यफल, अप्रत्यक्ष (अदृष्ट) होने तथा लोकान्तर में फलित होने के कारण अलौकिक फल कहलाता है. इसी प्रकार धर्माचरण के अपलाप (धर्महानि) के भी अपकीर्ति और पाप, ये क्रमशः लौकिक और अलौकिक फल हैं. इसे यों भी कहा जा सकता है कि धर्महानि ही पापरूप में संचित हो कर कालान्तर में दुर्विपाक बन कर सामने आती है. अर्जुन के लिए युद्ध से पलायन के लौकिक और अलौकिक परिणामों का संग्रह करते हुए भगवान् कहते हैं : ***'यदि तुम इस धर्म युद्ध को नहींकरोगे तो स्वधर्म और कीर्ति दोनों का नाश कर के पाप के भागी होओगे'.***

प्रत्यक्ष फल अन्तरंग होने से विशेष चिन्ता का विषय होता है. धर्महानि एवं तज्जनित पाप का फल तो सूदूर कालान्तर की बात है; तात्कालिक अनभीष्ट तो अपकीर्ति है, जिसका भय किसी को भी बेचैन कर सकता है, यदि वह अभिजात है तो आतंकित भी. अतः अदृष्ट अनभीष्टों का उल्लेख भर करके, अर्जुन के लिए इस तात्कालिक अनभीष्ट की खुल कर चर्चा करते हैं :

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

और सब लोग तेरी कभी न खतम होने वाली अपकीर्ति की चर्चा करेंगे और वह अपकीर्ति सम्मानित जनों के लिए मरण से भी अधिक बुरी होती है.

३.१. *'अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्'* :

लोक में प्रशंसा पाने की लालसा, सभी मनुष्यों में होती है. किन्तु सभी को न तो कीर्ति मिलती है और न ही सब में इसके लिए अपेक्षित योग्यता होती है. अतः अपकीर्ति से बचाव ही जनसामान्य की चिन्ता का विषय बनता है. लोकमानस में कीर्ति की चर्चा का आकर्षण बहुत समय तक नहीं रहता. कोई भी कीर्ति गाथा, वह भगवान् की ही क्यों न हो, अगर उसके लिए विशेष प्रयत्न न हों, अपना आकर्षण बहुत समय तक नहीं बनाए रख सकती. किन्तु अपकीर्ति गाथा का रस जनमानस के लिए सदा बना रहता है.

निन्दा लोकरंजन का सहज साधन है. बड़े लोगों के बारे में हो तब तो कहना ही क्या? पता नहीं क्यों काव्यशास्त्रियों ने निन्दारस की परिकल्पना नहीं की है. भावरूप में तो उसके बारे में कोई विवाद हो ही नहीं सकता. सच पूछें तो कीर्ति भी निन्दा के पुट से ही सुनने

योग्य बनती है. किसी कृष्ण भक्त ने इस रहस्य को अच्छी तरह समझ कर, अपने अराध्य d ksulp sलिखे रूप में याद किया है :

वृजे वसन्तं नवनीतचौरं गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम् ।
अनेक जन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥

(वृज में निवास करते समय जो माखन चुराते थे, बड़े हुए तो गोपाङ्गनाओं के वस्त्र चुराने लगे, अब अनेक जन्मों से अर्जित भक्तों के पापों को चुराने वाले इस चोरों के सरदार को मैं नमन करता हूं).

लोकापवाद में अपना विस्तार करने की अद्भुत सामर्थ्य होती है. एक मुंह से दूसरे मुंह तक की यात्रा में रुचि के अनुसार निन्दा गाथा में परिष्कार और संवर्धन होते चलते हैं. निन्दा कभी बासी नहीं होती, न कभी विस्तार में कम होती है, क्योंकि इसमें हमेशा कुछ न कुछ जुड़ता चलता है, इसीलिए गीता में 'अकीर्तिम्' के साथ *'अव्ययाम्'* विशेषण दिया — ***अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्*** — लोग तुम्हारी, न समाप्त होने वाली अपकीर्ति की चर्चा किया करेंगे.

अपकीर्ति का विस्तार ठहरना नहीं जानता. भगवान् राम ने जब गुप्तचरों से सुना की एक धोबी अपने घर में पत्नी को प्रताड़ित करते समय, उनके आचरण पर कटाक्ष कर रहा है तो उन्हें चिन्ता उस धोबी की नहीं, बल्कि उस लोकापवाद की थी, जिसका सृजन, वह जाने अनजाने कर रहा था. और हुआ भी वही. भगवान् राम ने लोकापवाद के प्रवाह को थामने के लिए कठोर निर्णय लिया. उन्होंने सीता का परित्याग कर दिया. किन्तु लोकापवाद का प्रवाह कम नहीं हुआ. जो जनमानस कभी रावण के यहां से आयी सीता को स्वीकार करने के लिए उनकी निन्दा करता था, आज वही सीता के परित्याग के लिए उनकी निन्दा करता है. राम की कीर्ति अपने स्थान पर रही, किन्तु अपकीर्ति करवटें बदलती रही. नई पोशाकें पहन कर कभी द्रविड़ राजनीति के कल्पना प्रसूत नाटकों में, कभी रामचरित्र की नारीवादी समीक्षाओं में, तो कभी अपने को बुद्धवादी प्रचारित करने वाले कुत्सा सरित्प्रवाह में वह आज भी देखने सुनने को मिल ही जाती है. महापुरुषों की जीवनियों को, चटखारेदार अन्तरंग किस्सों से जोड़ कर बिकाऊ बनाने का प्रयास आज के जीवनी लेखक अक्सर करते रहते हैं. किन्तु परिपाटी तो पुरानी हैं. हमारे यहां पुराणों के रचयिताओं ने अपकीर्ति की रस संभावनाओं के दोहन में कोई कसर नहीं छोड़ी है.

३.२. *'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'* :

प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक हैसियत के अनुपात में ही अपकीर्ति से प्रभावित होता है. अतः सामान्य जन को अपकीर्ति से होने वाली क्षति और व्यथा भी सामान्य ही होती है. किन्तु जो उत्कर्ष की ओर उन्मुख है, उसके लिए अपकीर्ति, उपलब्धियों को ही नहीं उन सम्भावनाओं को भी प्रश्नचिन्ह के दायरे में ले आती है, जो भविष्य में फलीभूत हो सकती हैं. सम्भावनाओं का समापान मृत्यु से कहीं ज्यादा त्रासदायक होता है. अस्तित्व के समापन का नाम मृत्यु है, और यह जीवन के क्रम की सहज परिणति होने से स्वयं में त्रासदी का विषय नहीं बनती. कोई भी प्राणी जीते हुए, अपने मृत्यु का साक्षी नहीं होता. किन्तु जब संभावनाओं का समापन होता है तो व्यक्ति मृत्यु का, मृत्यु के संत्रास का जीते हुए साक्षात् अनुभव करता है. ***'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'*** यह सूत्र है, जो अपेक्षित काव्यपरम्परा के अभाव में भारतीय जनमानस को त्रासदी के रहस्य से अवगत कराता है.

३.३. *'भयाद्रणादुपरतं ... ततो दुःखतरं नु किम्'* :

निन्दा से उत्पन्न त्रास के दो रूप : लोकनिन्दा का संत्रास जिसकी ऊपर चर्चा हुई है, दो रूपों में सामने आता है : अपने प्रशंसको और शुभचिन्तकों की निराशा और विद्वेषियों की प्रसन्नता. इसी बात को नीचे लिखे दो श्लोकों में कहा है. इनमें पहला इस प्रकार है :

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥

महारथी योद्धा तुम्हें भय के कारण युद्ध से उपरत हुआ मानेंगे. (इस प्रकार) जिनके लिए तुम अत्यन्त सम्मानित थे, उनकी निगाहों में तुम तुच्छता को प्राप्त होओगे.

संसार किसी के अन्तर्द्वन्द को नहीं देखता. नैतिक विमर्श की सूक्ष्म प्रक्रिया, जिससे गुजर कर महापुरुषों के निर्णय जन्म लेते हैं, वह इतर जनों के लिए सदा एक पहेली बनी रहती है. अर्जुन के महारथी प्रशंसक उसके अन्तर्द्वन्द्व को नहीं देख सकते. उनमें इसे समझने की न जिज्ञासा होती है न योग्यता. वे युद्ध के प्रति अर्जुन की वितृष्णा को भय से प्रेरित मानेंगे. अपने आदर्श पुरुष के अप्रत्याशित आचरण से वे संभवतः स्तब्ध रह जाएं, कुछ न कह सकें. किन्तु जो निन्दक

हैं उनके लिए तो इससे अच्छा कोई अवसर नहीं हो सकता. वे चुप नहीं बैठेंगे —

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥३६॥

और तुम्हारे शत्रु तुम्हारी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए, बहुत से न कहने योग्य वचन कहेंगे. इससे अधिक दःुखद और क्या हो सकता है.

अर्जुन का पलायन चपल वाणी के लिए एक सुनहला मौका होगा. जिसके प्रशंसक होते हैं उसके निन्दक भी होते हैं. अर्जुन के भी कुछ निन्दक रहे होंगे. किन्तु उनके पास निन्दा के लिए कुछ खास नहीं था. ऐसा कोई तथ्य नहीं था जो निन्दा को एक विश्वनीय गाथा का रूप दे सके. अर्जुन का पलायन उन्हें चर्चा के लिए वह सामग्री देगा, जिसकी उन्हें बहुत समय से तलाश थी. इस एक घटना की सहायता से वे अर्जुन के लोकोत्तर शौर्य, युद्ध में देवताओं तक को हतप्रभ कर देने वाले उसके पराक्रम की गाथाओं की खिल्ली उड़ाते हुए, उसकी कायरता की कहानी को प्रचारित करेंगे और अनेक न कहने योग्य बातें उसके बारे में कहेंगे. इस मुखर निन्दा से अधिक कष्टकर और क्या होगा?

४. *'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्...'* :

युद्ध का निर्विकल्प श्रेयान्वयन : युद्ध का विकल्प है युद्ध से पलायन. ऊपर के श्लोकों में इस युद्धविकल्प (पलायन) से होने वाले अनभीष्ट परिणामों को विस्तार से बताया गया है. इस प्रकार ऊपर व्याख्यायित ये **चार श्लोक (३३-३६) एक क्षत्रिय के लिए युद्ध की निर्विकल्प श्रेयोवत्ता की व्यतिरेकमुखेन सिद्धि करते है. अग्रिम श्लोक युद्ध की हर परिणति में श्रेयान्वयन का निदर्शन कराता है.**

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥३७॥

तुम मारे जाते हो तो स्वर्ग को पाओगे और जीतने पर पृथ्वी के राज्य का भोग करोगे. इसलिए हे अर्जुन! युद्ध का निश्चय करके उठ खड़े होओ.

सुख और दुःख में से प्रत्येक के दो पर्याय हैं, लौकिक और लोकोत्तर. शास्त्रविहित कर्तव्य अर्थात् धर्मरूप में प्राप्त युद्ध में भाग ले कर अर्जुन निश्चितरूप से सुख का भागी होगा. यह

सुख लोकोत्तर हो अथवा लौकिक यह युद्ध के परिणाम पर निर्भर करता है. यदि वह युद्ध में मारा जाता है, तो जैसा कि शास्त्रों का आश्वासन है, वह स्वर्ग के भोगों का अधिकारी होगा, और यदि वह जीतता है, तो इस धरती के ऐश्वर्य का भोग करेगा. **विजय से ले कर मृत्यु तक फैली युद्ध की अत्यन्त विरुद्ध परिणतियों के बीच यदि कुछ निश्चित है तो वह है सुखान्वयन का आश्वासन. इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक की पद्धति का सहारा लेते हुए एक क्षत्रिय के लिए युद्ध में निर्विकल्प श्रेयोभाव की सिद्धि होती है.**

५. 'स्वधर्म' और 'धर्मयुद्ध' : इन शब्दों के निहितार्थ :

विवेच्य प्रकरण में दो महत्त्वपूर्ण शब्द आए हैं, 'स्वधर्म' और 'धर्मयुद्ध' . अर्जुन के सन्दर्भ में ये शब्द अन्तःसम्बद्ध हैं, क्योंकि अर्जुन एक क्षत्रिय हैं और एक क्षत्रिय के लिए युद्ध स्वधर्म है और उसमें स्वधर्म की प्राप्ति ही उसे धर्मयुद्ध बनाती है. नीचे दिए दो श्लोकों में यह अन्तःसम्बन्ध सुव्यक्त है :

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

तथा अपने धर्म को देखकर भी (तू)भय करने योग्य नहींहै यानी तुझे भय नहींकरना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध से बढ़ कर श्रेयस्कर कुछ और नहींहो सकता.

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

किन्तु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहींकरेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खो कर पाप का भागी होगा.

ऊपर दिखाया गया यह अन्तःसम्बन्ध सांदर्भिक है और सर्वत्र इसकी प्राप्ति हो यह आवश्यक नहीं है. द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मण योद्धा के लिए युद्ध स्वधर्म नहीं है. अतः उनके सन्दर्भ में युद्ध किस अर्थ में 'धर्मयुद्ध' हो सकता है यह कह पाना मुश्किल है. ऐसी स्थिति में, उन उपाधियों पर विचार करना जो धर्म को 'स्वधर्म' तथा युद्ध को 'धर्मयुद्ध' बनाती हैं, महत्त्वपूर्ण हो जाता है, न केवल गीतार्थ को समझने के लिए, अपितु इसलिए भी क्योंकि यह हमें हिन्दू धर्मदर्शन

और उसमें मूल्यबोध की समस्या की दहलीज तक ले जाता है.

६. *'स्वधर्म'* के अर्थ : शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक :

६.१. वर्णधर्म ही व्यक्ति का स्वधर्म : धर्मशास्त्रों की व्यवस्था : ***'स्वधर्म'*** का अर्थ इस बात पर निर्भर करता है कि हम 'स्व' शब्द को क्या अर्थ देते हैं. धर्मशास्त्रों के अनुसार व्यक्ति का वर्ण और आश्रम के सांचों में ढला विग्रह ही उसका स्वत्व है. तदनुसार शास्त्रविहित वर्णाश्रम धर्म ही उसका स्वधर्म हुआ. यह व्यक्ति के सामाजिक विग्रह को सम्बोधित स्वधर्म की धर्मशास्त्रीय व्याख्या है.

६.२. गुण-कर्मोपादानों से प्राप्त स्वधर्मविनिश्चय : 'स्व-भाव' का दूसरा अधिक स्वीकार्य अर्थ भी हो सकता है. वह स्थायी चरित्र या पहचान जो व्यक्ति को उसकी सत्ता से, साक्षात् उसके अस्तित्व के निर्मायक उपादानों से प्राप्त हुआ हो. गीता जब 'गुणकर्म-विभाग' को वर्णव्यवस्था का आधार बताती है तो यह वर्गीकरण वस्तुतः मनोवैज्ञानिक उपादानों का ही है

६.३. वर्णधर्म का यथार्थ-विसंवाद : देखा यह गया है कि व्यक्ति का स्व-भाव, उसका गुणकर्म विभाग, अक्सर उसके जन्म के वर्ण से मेल नहीं खाता. व्यक्ति के जन्म का वर्ण अक्सर उसके मनोवैज्ञानिक चरित्र को प्रतिबिम्बित नहीं करता. वाल्मीक, परशुराम और विश्वामित्र जैसे मनीषियों के वर्णविपर्यस्त व्यक्तित्व इसके आर्ष उदाहरण हैं. इन विभूतियों और इनके जैसे बहुतों के लिए स्व-भाव और तदनुसार स्वधर्म की सिद्धि उनके दृष्ट स्वभाव के आधार पर की जाए, या फिर दृष्टविसंवादी शास्त्रव्यवस्था के द्वारा, यह तय करना आसान नहीं है. किन्तु इतना निश्चित है कि स्वभाव का दृष्टकल्प, उसके शास्त्रकल्पित वर्णविनिश्चय को समीक्षार्ह बनाते हुए, स्वधर्म की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष लौकिक आधार सुलभ कराता है.

६.४. स्वधर्म की मनोवैज्ञानिक (गत्यात्मक) अवधारणा : व्यक्तित्व के दृष्ट उपादानों में स्व-भाव की खोज **स्वधर्म** को एक गत्यात्मक अर्थ देती है जो उसके जन्मसंयोगनिष्ठ शास्त्रीय निर्धारणों में सम्भव नहीं है. देश, काल और सामाजिक सम्बन्धों के पर्याय, स्व-भाव के स्थानीय कल्पों का निर्माण करते हुए, तत्तद् स्थलों में स्वधर्म पर्यायों का सृजन करते हैं, जिनकी समग्र सूची देना किसी शास्त्र के बस की बात नहीं हो सकती. यथा — स्वामी और सेवक के बीच

का सम्बन्ध दोनों के लिए 'स्व-भाव' को परिभाषित करते हुए दोनों के लिए अलग अलग दायित्वबोध (स्वधर्म) का सृजन करता है. महाभारत में दस्युधर्म सहित अनेक ऐसे ही स्थानीय धर्मों की चर्चा हुई है. वस्तुतः व्यक्ति की हर भूमिका, जिसे वह समाज में अपने लिए स्वीकार करता है, उसके अस्तित्व को, उसके स्व-भाव को परिभाषित करती है, और इस प्रकार उसके लिए स्वधर्म बन जाती है. आधुनिक अस्तित्ववादी दर्शन की सोच भी मोटे तौर पर यही है.

६.५. नैतिक निर्णयों के द्वारा अपने को परिभाषित करता *स्वधर्म* : नैतिक निर्णयों के द्वारा स्वधर्म निरंतर अपना परिष्कार करता रहता है. वस्तुत: प्रत्येक नैतिक निर्णय स्वभाव को नए सिरे से पहचानता है और स्वधर्म को एक नया अर्थ देता है. महाभारत के प्रसिद्ध पात्र – भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन, कर्ण, गान्धारी - सभी के जीवन में प्रतिज्ञा के रूप में, कोई न कोई कठोर निर्णय है, जिसे वे आजीवन निभाने के लिए कृतसंकल्प हैं. अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी वे अपनी प्रतिज्ञा की गरिमा की रक्षा करते हैं. ये प्रतिज्ञाएं उनके व्यक्तित्व को अपना अर्थ देती हैं, उनके स्व-भाव को परिभाषित करती हैं, और उनका स्वधर्म बन कर उभरती हैं; ऐसा स्वधर्म जो किसी शास्त्रविधान से नहीं अपितु अपने ही स्वतंत्र निर्णय से उत्पन्न हुआ है. नितान्त वैयक्तिक और अत्यन्त अन्तरंग होने के कारण इसे स्वधर्म का शुद्ध परमार्थ कहा जा सकता है. स्वधर्म की यह अवधारणा हिन्दूधर्म के गतिशील, सर्जनात्मक, अपुस्तकीय एवं नितांत वैयक्तिक आयाम को समझने में मदद करती है.

७. 'धर्मयुद्ध' और 'धार्मिक-युद्ध' में अन्तर :

७.१. *धर्मयुद्ध* का अर्थ : गीता में धर्मयुद्ध शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है. जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे हैं, *'धर्म्यात् युद्धात्', 'धर्म्यं संग्रामम्',* जिनके अर्थ हैं, 'धर्म से प्राप्त युद्ध', 'धर्म से युक्त युद्ध'. यतः धर्मरूप में युद्ध का विधान केवल क्षत्रियों के लिए है, हिन्दू समाज के केवल एक वर्ग विशेष के लिए (क्षत्रिय के लिए) ही युद्ध धर्ममूल्य से युक्त होगा; औरों के लिए युद्ध केवल व्यवसाय हो सकता है, धर्म यह केवल क्षत्रियों के लिए ही होगा. इस रूप में 'धर्मयुद्ध' धार्मिक युद्ध से महत्त्वपूर्ण रूप से भिन्न हो जाता है.

धर्मयुद्ध वर्णधर्म है, और इस रूप में विशेष अर्थात् एकदेशीय धर्म. इससे भिन्न, धार्मिकयुद्ध तथा इसके पर्याय — पवित्रयुद्ध (holy war) जेहाद, तथा धर्मान्तरण के आक्रामक अभियान —

'सम्पूर्ण 'धर्मसमुदाय' के लिए सामान्यरूप से किए गए विधान हैं. उदाहरण से यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा. महाभारत युद्ध, भीष्म, अर्जुन दुर्योधनादि क्षत्रियों के लिए धर्मयुद्ध है; किन्तु द्रोण, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा जैसे ब्राह्मण योद्धाओं के लिए इसे धर्मयुद्ध नहीं कहा जा सकता. उनके लिए युद्ध केवल व्यवसाय है, अधिक से अधिक अपने आश्रयदाता के प्रति भक्ति और कृतज्ञता प्रदर्शित करने का अवसर. कोई आश्चर्य नहीं कि द्रोणाचार्य को महाभारत में 'विप्रबन्धु'' जैसे तिरस्कार पूर्ण शब्दों से स्मरण किया गया है. **'धर्मयुद्ध'** विशेष धर्म है जबकि **'धार्मिक-युद्ध'** धार्मिक समुदाय विशेष को प्राप्त होने वाला सामान्य-धर्म है.

७.२. धार्मिक-युद्ध और उसकी मूल-मान्यताएं :

धार्मिक-युद्ध की परिकल्पना के मूल में निहित है धर्म की जातीय अवधारणा, जो तत्तद् धर्मों को उनके कबीलाई-उद्भव से प्राप्त होती है. धर्मविधान के रूप में संहिताबद्ध यह जातिभाव, प्रत्येक धर्मानुयायी को अपनी धर्म-बिरादरी (कौम) के हितों के लिए, उसकी रक्षा, अभ्युदय और प्रसार के लिए सतत संघर्ष करते रहने के लिए प्रतिबद्ध करती है.

धार्मिकयुद्ध, धर्मविधान से प्राप्त युद्ध है, जिसके मूल में यह मान्यता है कि केवल अपना धर्म ही संसार में एक मात्र प्रामाणिक धर्म है. अन्य सभी धर्म शैतानी भटकाव हैं, ईश्वर के विरुद्ध एक अपराध. इस मान्यता से ईमान वालों के लिए यह कर्तव्यविधि प्राप्त होती है कि उन्हें अन्य धर्मों के उच्छेद के लिए निरंतर लड़ते रहना है, ताकि इस धरती पर ईश्वर का राज्य स्थापित हो सके. इस रूप में धर्मिक-युद्ध सभी मिशनरी धर्मों की प्रतिबद्धता है, उसका स्वरूप कुछ भी हो.

इससे सर्वथा भिन्न, **धर्मयुद्ध** के पीछे यद्यपि नैतिक कारण हो सकते हैं, किसी आस्था विग्रह की प्रतिष्ठा या किसी धार्मिकवैमत्य का उच्छेद कतई इसका उद्देश्य नहीं होता. महाभारत का युद्ध राज्याधिकार के बटवारे की समस्या के कारण हुआ था. इसके नैतिक और राजनैतिक निहितार्थ रहे होंगे. किन्तु इसे किसी भी प्रकार से धर्म की समस्या से जुड़ा नहीं कहा जा सकता. इसे धर्मयुद्ध कहा गया है तो केवल इस अर्थ में कि इसमें सहभागी दोनों पक्ष क्षत्रिय थे, और युद्ध में सहभाग उनका शास्त्रविहित धर्म था.

७.३. धर्मशास्त्रों में धर्म-बांधुत्वाश्रित जातीय-अस्मिता (कौम) की अवधारणा का अभाव :

हिन्दुओं के धर्मशास्त्र वर्णाश्रमव्यवस्था के आधार पर धर्म का क्रमशः *सामान्य* और *विशेष* इन दो रूपों में विधान करते हैं. **सामान्यधर्म** के अन्तर्गत वे कर्तव्य आते हैं जिनका निर्विशेष रूप से समस्त समाज के लिए विधान किया गया है, जबकि तत्तद् वर्ण और आश्रम को ध्यान में रखते हुए किए गए कर्तव्यविधान को **विशेषधर्म** कहा गया है. इससे एक विचित्र स्थिति सामने आती है. जहां विशेषधर्म एक देशीय होने के कारण, सम्पूर्ण धार्मिक इकाई के लिए कर्तव्य रूप में उपलब्ध नहीं होते, वहीं धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित सामान्यधर्म इतने सामान्य हैं कि वे अपने सार्वभौमिक अर्थ में किसी भी प्रकार की जातीय चेतना को स्थान नहीं देते.

धर्मशास्त्रों के *'सामान्य-विशेष'*, धर्म का जो वर्गीकृत मानचित्र प्रस्तुत करते हैं, वह सम्पूर्ण मानवजाति को सम्बोधित है, आस्था की किसी अस्मिता विशेष को नहीं. हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों की यह खासियत है कि वे हिन्दू को नाम से भी नहीं जानते. शास्त्रों की इस निर्मम तटस्थता का अनुसरण करते हुए हिन्दूधर्माचार्य भी अपनी आस्था की हिन्दू पहचान के प्रति उदासीन देखे जाते हैं. अपनी पहचान के प्रति यह तटस्थता गंभीर प्रकार की सामाजिक-राजनैतिक विसंगतियों स्रोत रही है. इसके कारण अन्याय के प्रतिकार और धर्मरक्षा के संगठित प्रयास आकार नहीं ले पाते.

७.४. अनन्यगत्या हिन्दू-दायित्वबोध को केवल आपद्धर्म का सहारा :

धर्मशास्त्रों की व्यवस्था को निकट से देखें, तो उसमें, धर्म के *सामान्य* और *विशेष* के अलावा, एक तीसरा कल्प भी सामने आता है जिसे **आपद्धर्म** नाम दिया गया है. यह दायरा है धर्मव्यवस्था में आत्मरक्षा के लिए किए गए अपवादों का. मिशनरी धर्मों के विस्तारवादी आक्रमणों के बीच अस्तित्व के लिए जूझते, मार्गदर्शन तलाशते, अपनी ही आस्था के सामान्य-विशेषों से हताश, हिन्दूधर्म की जातीय अस्मिता और उससे जुड़े दायित्वबोध को सहारा देने के लिए धर्मशास्त्रों में अब भी जो बच रहता है, वह है आपद्धर्म का उपेक्षित सा कोना. **कोई आपत्ति अस्तित्व पर आए संकट से बड़ी नहीं हो सकती. लेकिन आपत्ति की पराकाष्ठा तो धर्म के अस्तित्व पर आया संकट होता है. संकट के बारे में जागृत, अपने समस्त अवरोधक विधिनिषेधों को एक तरफ करके, जब धर्म अपने ऊपर आई आपत्ति का प्रतिविधान करता है तब वह अपद्धर्म कहलाता है.** आपद्धर्म का कोई विधान नहीं होता. वस्तुतः समस्त प्रतिबंधक धर्मव्यवस्थाओं को निलंबित करते हुए अस्तित्वसंकट के प्रतिकार को धर्म में मान्यता देने की व्यवस्था का नाम है आपद्धर्म.

७.५. सिखपंथ का आविर्भाव : आपद्धर्म का निकट निदर्शन :

सिक्खपंथके रूप में धार्मिक युद्ध का अनुमोदन हिन्दूव्यवस्था में आपद्धर्म है, जो किसी भी उत्पीडित धर्मसमुदाय के लिए निर्विशेष रूप से प्राप्त है. इसका एक ही उद्देश्य हो सकता है, और वह है आक्रामक आततातइयों से धर्म की रक्षा. धर्मरक्षा का यह प्रयोजन ही इसे धर्मयुद्ध या यों कहें कि धार्मिकयुद्ध बनाता है. दोनों के बीच एक सूक्ष्म अन्तर है. क्षत्रियों के लिए, केवल क्षत्रियों के लिए शास्त्रों में कर्तव्यरूप में जिसका विधान हुआ है वह धर्मयुद्ध है, जबकि समस्त धार्मिक अस्मिता के लिए कर्तव्य रूप से प्राप्त युद्ध 'धार्मिकयुद्ध' है. **इस धार्मिकयुद्ध की सिद्धि के लिए सिक्ख गुरुओं ने वर्ण और आश्रम के वर्गीकृत आदर्शों को निरस्त करते हुए, हिन्दूसमाज के सामने सन्तसिपाही का आदर्श रखा, जो अपने सन्त रूप में ब्राह्मण था, सिपाही रूप में क्षत्रिय, उद्यमशीलता में वैश्य और सेवाभाव में चतुर्थ वर्ण का संग्रह करता था. यह धर्मयुद्ध के लिए सज्जीकृत समाज का संश्लिष्ट विग्रह था. अपनी अस्मिता के लिए जूझ रहे हिन्दू समाज के लिए सन्तसिपाही का यह आदर्श आज भी प्रासंगिक है.**

८. 'धार्मिकयुद्ध' की आपद्धर्म रूप में मान्यता के निहितार्थ :

सामान्य परिस्थितियों में हिन्दूधर्म किसी भी प्रकार के धार्मिकयुद्ध का अनुमोदन नहीं करता. उनके धर्मविधान — सामान्य और विशेष — किसी भी रूप में धार्मिकयुद्ध का विधान नहीं करते. आततायी उत्पीडन की असाधारण परिस्थितियों में ही धार्मिकयुद्ध कर्तव्य बनता है. स्पष्ट है, ऐसा युद्ध केवल प्रतिरक्षात्मक ही हो सकता है. किसी धार्मिक बिरादरी की प्रसारलिप्सा के लिए इसका सहारा नहीं लिया जा सकता. जब कोई धार्मिक इकाई किसी प्रसारवादी आस्था की महत्त्वाकांक्षाओं का प्रतिरोध करती है, तब वह केवल अपनी संस्कृति और उपासना पद्धति की ही रक्षा नहीं करती, अपितु मानवीय गरिमा और स्वतंत्रता के उन आधारभूत मूल्यों की भी रक्षा करती है जो सभ्यता का पर्याय हैं.

हिन्दू के भगवान् जब ***'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'*** यह कह कर धर्मरक्षा का आश्वासन देते हैं, तो उनका यह आश्वासन केवल हिन्दुओं के लिए नहीं संसार के सभी सज्जनों के लिए है, बिना धर्म और जाति के भेद के. ***परित्राणाय साधूनां'*** का शब्दशः अर्थ है, *'सज्जनों की रक्षा के लिए'*. इसी क्रम में ***'विनाशाय च दुष्कृताम्*** यह कथन दुराचारियों के विनाश का

आश्वासन है, विधर्मियों के विनाश का नहीं. भगवान् श्रीकृष्ण का यह वक्तव्य उन्हें सामी धर्मों के ईश्वर से भिन्न, एक सर्वथा अलग पहचान देता है, जिनमें जहोवा केवल अपनी चुनी हुई कौम की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध है, जिनका अल्लाह अपने उपासकों के लिए अन्य धर्मावलंबियों के प्रति घृणा का न केवल धर्मरूप में प्रतिपादन करता है, अपितु उनके विरुद्ध सतत युद्ध का (जेहाद का) कर्तव्य रूप में विधान करता है. सामी धर्मों की वर्चस्वलिप्सा, संसार में **'अपने उपास्य'** के साम्राज्य की स्थापना की प्रतिबद्धता और उसके लिए युद्ध का विधान धर्म के गरिमामय स्वरूप के विरुद्ध तो है ही, सभ्याचार के आधारभूत मूल्यों के भी प्रतिकूल है.

मानव की अन्तरंग गरिमा, मानववाद की आधारभूत मान्यता है. इससे प्राप्त स्वतंत्रता, समानता और बांधुत्व के मूल्य — ये सभ्याचार के आधारभूत मूल्य हैं जो तय करते हैं कि धर्मशास्त्रों की तत्तद् व्यवस्थाएं सभ्य समाज के लिए कहां तक और किस रूप में स्वीकार्य हो सकती है. इस अर्थ में मानववाद सभी धर्मों का धर्म हैं, सभी धर्मशास्त्रों का अनुशास्ता, उनके पुनराख्यान का प्रवर्तक और परीक्षक. मानववाद के आधारभूत मूल्यों के विरुद्ध जाने वाले धर्मशास्त्रों के विधान — वे शास्त्र किसी भी धर्म के क्यों न हों — सभ्यसमाज में सदा बेचैनी और संदेह का कारण होते हैं, और उसमें आत्मरक्षा के प्रतिरोधक दायित्व का सृजन करते हैं.

सभ्य समाज के इस आत्मरक्षात्मक प्रतिरोध को धार्मिक-युद्ध कहा जा सकता है, तो केवल इसलिए कि संसार में कुछ ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय हैं, जो तलवार के बल पर अपने ईश्वर को सारे संसार से पुजवाना चाहते हैं, जो अन्य धर्मों के विरुद्ध घृणा और उच्छेदपर्यन्त युद्ध का एक तरफा विधान प्रस्तुत करते हैं. ऐसे धर्मों की आततायी महत्वाकांक्षा के विरुद्ध सभ्य संसार का युद्ध धार्मिक-युद्ध ही कहा जाएगा. किन्तु जहां तक सभ्य संसार की बात है वह धर्म के नाम पर किसी प्रकार के युद्ध की अनुमति नहीं दे सकता. उसका धार्मिक आततायों के विरुद्ध लड़ना एक विवशता है, एक परिस्थितिजन्य दायित्व. इसे अपवादधर्म या आपद्धर्म के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है.

९. महाभारत धर्मयुद्ध था, धार्मिक-युद्ध नहीं :

जहां तक महाभारत युद्ध की बात है, यह किसी धार्मिक उद्देश्य के लिए लड़ा गया युद्ध नहीं था. इसे धर्मयुद्ध कुछ विशेष अर्थों में ही कहा गया है. एक क्षत्रियं के लिए युद्ध उसका वर्णधर्म है. वे जब युद्ध करते हैं तो उनके लिए युद्ध धर्मयुद्ध ही होता है, उद्देश्य कुछ भी हो. क्षत्रिय के लिए

युद्धकर्तव्य है यह विधान तो मिलता है किन्तु यह युद्ध किन उद्देश्यों के लिए होना चाहिए इसका कोई स्पष्ट विधान नहीं मिलता. युद्ध को किसी बड़े धार्मिक या सामाजिक उद्देश्य से जोड़ा नहीं गया है. जहां तक महाभारत युद्ध की बात है, वह घरेलू सम्पत्ति के बटवारे को लेकर था, जिसमें भाग लेना क्षत्रियों का, कैरव, पाण्डव और उनके सम्बन्धियों का जन्म से प्राप्त धर्म था.

एक क्षत्रिय के लिए, वह आत्मरक्षा के लिए लड़े तब भी धर्म, दूसरे का राज्य हड़पने के लिए युद्ध करे तब भी धर्म, सम्पत्ति में हिस्सा पाने, मनपसंद राजकुमारी से विवाह करने या सिर्फ अपनी किसी सनक को पूरा करने के लिए युद्ध करे, तब भी वह युद्ध धर्मयुद्ध ही होगा. ऐसा नहीं कि युद्ध उदात्त उद्देश्यों के लिए नहीं लड़े गए. किन्तु युद्ध की वर्णधर्मरूप में अवधारणा उसे निरपेक्ष, निराकांक्ष बना देती है. एक क्षत्रिय के लिए युद्ध की घटना में सहभाग स्वतः धर्म है तो किसी बड़े उद्देश्य का इसमें आधान, पानी में पानी मिलाने की तरह धर्म में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं कर सकता.

१०. वर्णधर्म की अति-विशेष में विकृति :

धर्मयुद्ध की वर्णधर्मरूप में शास्त्रीय अवधारणा एक निरुपाधिक व्यवसाय है. व्यापक, धार्मिक-सामाजिक उद्‌देश्यों के प्रति निरपेक्ष होने से, यह न केवल एक अपर्याप्त आदर्श है, अपितु समाज में विकृतियों को जन्म देने वाला है. इसने आदर्शों के लिए नहीं सनक के लिए युद्ध लड़ने वाले तैयार किए. ऐसे क्षत्रिय जो छोटी छोटी बातों पर अपनी आन के लिए तो मर मिटने को तैयार रहते थे, लेकिन विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा पैरों तले रौंदा जाता देश, जातीयस्वाभिमान, धर्म और राष्ट्र की रक्षा, जिनके लिए कोई खास मायने नहीं रखते थे. महाभारत युद्ध इसलिए भी धर्मयुद्ध था क्योंकि उसमें योद्धा अपनी अपनी सनक के लिए लड़ रहे थे. पाण्डव, कौरव, भीष्म, द्रोण, कर्ण — सभी की अपनी अपनी सनक थीं, प्रतिबद्धताएं अर्थात् धर्म थे. इनमें से प्रत्येक की धर्म की अपनी अपनी समझ थी, दुर्योधन की अपनी और युधिष्ठिर की अपनी. वर्णधर्म के रूप में, जिसे धर्मशास्त्र ***विशेषधर्म*** कहते हैं, युद्धकर्तव्य ***अतिविशेष*** में विकृत हो चुका था.

संग्रह और उपसंहार :

सात श्लोकों के इस लम्बे एकक में सकामधर्माचरण का उपदेश हुआ है. यह जनसामान्य का धर्म है, मरणोपरान्त भी जीवन के सातत्य, दिव्य न्याय, शुभाशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग और नरक के भोगों का आश्वासन देता, यह जन सामान्य का धर्म है, जिसकी लौकिक और अलौकिक उपपत्तियों पर यहां विस्तार से विचार हुआ है. इसकी चर्चा करने के बाद एक श्लोक ('सुखदु:खे समे कृत्वा...') में निष्काम धर्माचरण का उपदेश करते हैं. सकाम और निष्काम, दोनों ही शास्त्रविहित होने से धर्माचरण कहलाते हैं. सकाम धर्माचरण में प्रवृत्तिहेतु होती हैं, कामनाएं. अनुपालन के बदले शास्त्र लौकिक और पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति का दिव्य आश्वासन देते हैं. इस परस्परभाव से प्राप्त हुई आस्था एक संविदा का रूप लेती है, जिसे तत्तद् धर्मों के शास्त्रों में लिखित रूप दिया गया है.

संविदानिबद्ध आस्था धर्म का परमार्थ नहीं हो सकती, यह गीता का निश्चित मत है. दण्ड (भय) और पुरस्कार(प्रलोभन) के प्रवृत्तिनिमित्तों से मुक्त, निरपेक्ष समर्पण ही धर्म का परमार्थ है. वह त्याग सच्चा त्याग नहीं हो सकता, जो किसी इनाम के लिए किया गया हो, जिसमें प्रतिदान की चाहत छिपी हो. अपने शैशव के प्रवृत्तिनिमित्तों का परित्याग करके, निरपेक्ष समग्रता में आस्था के अभ्युत्थान के क्रम को दिखाने के लिए गीता पहले सकाम-धर्माचरण का, फिर निष्काम-धर्माचरण का, अनन्तर कर्मयोग का उपदेश करती है. सकाम धर्माचरण की चर्चा के बाद क्रम प्राप्त है, निष्काम-धर्माचरण का उपदेश. यही अग्रिम एकक के विचार का विषय है.

■ ■ ■

द्वितीय एकक:

(समत्वबुद्धि से धर्माचरण : धर्माचरण की
उच्चतर विधा)

समत्वबुद्धिविषयकोऽयं एक एव श्लोकः। कथ्य-वैशिष्ट्यादुपदेशसंक्रमबिन्दुरूपत्वात्पूर्व-पीठिकारूपत्वाच्च योगस्य महत्त्वपूर्णो विशेषचर्चामर्हत्ययम्।

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥३८॥

सुखदुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, को समान समझ कर, उसके उपरान्त तू युद्ध में अपने को लगा. इस प्रकार तू पाप का भागी नहीं बनेगा.

शास्त्रबुद्धिप्रकरणमिदम्। विहिताचाररूपधर्मस्य प्रसंगप्राप्तत्वात्तस्यैव पक्षे समत्वबुद्ध्युपलक्षित-निष्कामकर्मणः निदर्शनं कारयन् प्रकरणस्य समापनं क्रियते प्रकृते श्लोके। अद्यापि अनारब्धो योगविचारः, 'बुद्धिर्योगे त्विमां श्रुण्वि' त्यग्रिमेण एकोनचत्वरिंशत्तमेन श्लोकेन प्रारप्स्यते तत्। प्रकृते श्लोके वक्ष्यमाणविषयस्यैकदेशीयोपलब्धेर्विचारः कल्पतेऽनुपदविचारसौकर्याय ।

सकामधर्माचरणो हि पूर्वपीठिका निष्कामधर्माचरणस्य। एवमेव निष्कामधर्माचरणं निदर्शनमुखेन प्राथमिकं निर्वचनं कर्मयोगस्य। नेदमाश्चर्यं यदशेषसम्भावनानां समस्यानाञ्च योगस्य पुञ्जीभूतविग्रह-भूतत्वादयं श्लोकः कर्मयोगस्य सूत्ररूपेण प्रतिष्ठितो वर्तते जनमानसे।

१. **किमेतत् सुखदु:खयोः समानीकरणं, लाभालाभयोः जयाजययोश्च। अन्यथाकर्तुमशक्यः सुखदु:खादीनां भेदः, वस्तुभूतत्वात्। कोऽर्थः तयोः समानीकरणस्य । उच्यते – नास्ति**

वस्तुभूतसत्ताविषयकमिदं समानीकरणम्। वस्तुद्वन्द्वनिष्ठमूल्यबोधस्यापलापपरं हि तत्। 'समलोष्ठाश्मकाञ्चने' त्यनेन न समीहते लोष्ठाश्मकाञ्चनद्रव्याणां स्वरूपापलापजन्य-समानीकरणं, मूल्यबुद्धेरपलापे एव तात्पर्यस्य निश्चय:

१.१ भयप्रलोभननिबद्धो हि सामान्यजनस्य धर्म:। दण्डपुरस्कारयो: दिव्यव्यवस्थाश्रिताचारविधानं हि अस्य विग्रहो परमार्थोऽपीति साम्प्रदायिका:। इत: परं प्रतिष्ठितो वर्तते धर्मस्य निष्काम-निराकांक्षकोटि:। स्पष्टं योगोपदेशव्याजेन प्रवर्ततेऽत्र धर्मस्यैकोऽभिनव: परिकल्पो विलक्षणोऽस्य प्रचलितावधारणात:।

१.२. प्राकृतमूल्यानुबंधानां परित्यागो हि समानीकरणं विषयाणामिति पूर्वमुक्तम्। यतो मनोधर्मरूपौ मूल्याधायकोपादानौ रागद्वेषौ, मनस: परिष्कारोऽन्त:करणशुद्धिपर्यायो हि साक्षात्फलं मूल्यानुबंधानां परित्यागस्य।

मूल्यानुबंधानां त्यागेन सिद्ध्यति समत्वबुद्धि, तया कृतं युद्धादिकर्म निष्काम कर्मे'त्युच्यते। निर्बीजत्वान्निष्कामभावेनानुष्ठितै: कर्मै: हेयोपादेयरूपमनोबंधनस्य निर्माणं न भवतीत्याशय:। प्राप्यन्ते तत्रापि सुखदु:खादीनि मनोवस्तूनि, लाभालाभजयाजयरूपाणि बाह्यघटनानि। किन्त्वभीष्टं सुखं दु:खमनभीष्टमिति मूल्यानुबंधस्योत्पादो न भवति। एवं निराकृते मूल्यबुद्धेरलौकिकमूल्ययो: पुण्यपापयोरपि निराकरणं, 'नैवं पापमवाप्स्यसी'ति।

२. वक्तुं शक्यते यन्निष्कामधर्माचरणे, पापपुण्ययो: उभयोर्निराकरणस्य प्राप्तत्वादयुक्तं 'नैवं पापमवाप्स्यसी' त्यर्धसत्यस्य कथनम्। उच्यते। अर्जुनस्य स्वजनवधनिमित्तपापभावस्योपदेश-संदर्भत्वान्नैवं पापमवाप्यसीति पापपरिहार एव प्राप्यते संदर्भानुरोधेन।

३. समत्वसाधना हि कथ्यो विवेच्यश्लोकस्य । 'समत्वयोग-समत्वबुद्धि- समभावे'ति शब्दव्यवहार- विषयोऽयम्। समभावो हि आचरणस्य प्राकृतमूल्यसंश्लेषवियोग:। सीमितार्थे समभावो योगस्य पर्यायेत्यपि वक्तुं शक्यते। वस्तुत:समत्वबुद्धिर्हि योगस्य पूर्वकल्प:, निषेधपर्यायत्वात्संदर्भ- सापेक्षनिदर्शनत्वात्प्रथमं सोपानं योगस्य साधनाया:।

४. समत्वबुद्धिगर्भितस्य कर्मयोगस्य परिकल्पो हि गीताया: मौलिकं योगदानम्। अस्य मौलिकं स्वरूपं जनयति धर्मदर्शनस्य आचारशास्त्रस्य च आधारभूता: जिज्ञासा: अनेकविधविप्रतिपत्तीन् व्यावहारिक- मनोवैज्ञानिक-नैतिकींश्च ।

४.१ असम्भवं सुखदुःखयोःलाभालाभयोः समानीकरणं, वस्तुभूतत्वात्तेषाम्। 'नैवं पापमवाप्स्यसी'ति अर्जुनस्य पापस्याशंकामालक्ष्य पापनिराकरणोपायत्वेन चेत् समत्वोपदेशः, तर्हि अनावश्यकोऽयं, शास्त्रेषु पापनिराकरणाय प्रायश्चित्तव्यवस्थायाःसद्भावत्वात्। विहाय सुसाध्यं विहितोपायं, कः विवेकशीलपुरुषः समत्वबुद्धिसदृशाप्रसिद्धं दुःसाध्यं सेत्स्यतीति व्यावहारिकापत्तिः।

४.२ मनोविज्ञानविरुद्धं समत्वपरिकल्पनं, सुखदुःखस्य चिन्तां विना, लाभहानेराकलनं विना प्रवृत्तेरभावान्मन्दजनेष्वपि। समत्वोपदेशव्याजेन विधीयतेऽत्र प्रमत्ताचरणम्।

४.३. पुनः यदि कश्चिज्जनः सुखदुःखं लाभहानिं चाविचार्य कस्यचिदन्यस्य वधं करोति, किं सः दण्डस्य पापस्य वा भागी नाभविष्यत्। दण्डपुरस्कारं प्रति निरपेक्षाः बहवः जनाः केवलं साहसिकतायाः आस्वादनाय अपराधं कुर्वन्ति। यद्ययं श्लोक आचारसूत्ररूपेण स्वीकृतो भवेत्तर्हि संसारे आचारव्यवस्थायाः सम्पूर्णं वितानं, लौकिकं-धार्मिकञ्च विश्रृंखलितं भूत्वा नष्टोऽभविष्यत् समूलम्।

'*सुखदुःखे समे कृत्वे*'ति गीतायाः लोकोक्तिसदृश बहुश उद्धतश्लोकः। अस्याविचारितप्रयोगः हिन्दूमानसे एकस्यावचेतनादर्शस्य निर्माणं कुरुते, कल्पते यः हिन्दूनां नैतिकसंदेहवादिचरित्रं, दुर्बलास्थामप्रतिबद्धसुविधाजनकाचरणञ्च।

५. इमा एतादृशाश्च बहवः आलोचनाः सौविध्यमूलकव्याख्यानानि च विचाराधीनश्लोकस्य दायभागाः। एतेषामविचारस्यावगाहनाय सन्दर्भस्य संज्ञानमात्रमलम्। सन्दर्भस्तु शास्त्रबुद्धिः, प्रयोजनं तन्निरूपिते धर्माचरणे निश्चयात्मकतायाः सिद्धिः। सकामधर्माचरणेऽविकम्पितभावस्य सिद्धेरनन्तरं प्रकृते श्लोके तस्यैव सिद्धिः क्रियते निष्कामधर्माचरणे। शास्त्रानुशासनाधिकारे प्राप्यते सकामनिष्कामविचारौ। अतः प्रमत्त-तरलित-क्रूराचारेभ्यो नास्त्यत्र कोऽप्यवकाशः, प्रसंगानुशासनबाधितत्वात्। विवेच्यश्लोकविषये कल्पितानि आक्षेपाणि प्रसंगपराङ्मुखबुद्धेरातुर-निष्कर्षाणी' त्यलमतिविस्तरेण।

६. यदा कश्चिज्जनःसंस्थाया व्यक्तेर्वा प्रतिनिधिरूपेण कार्यं करोति, तदा समबुद्धिर्न भवति समत्वयोग इतरजनानां हिताहितविषये समभावस्य स्वभावप्राप्तत्वादविषयत्वात्साधनायाः। पारिश्रमिकं ग्रहीत्वा *जयाजयौ समे* कृत्वा वादे प्रवृत्त वाक्कीलः, हानिलाभनिरपेक्षं कार्यं कुर्वाणः संस्थायाः अधिकारी, अवयस्काभिभाविनः हिताहितौ प्रति तटस्थोऽभिभावकः – एतेषु

एकोऽपि नास्ति समत्वयोगस्य साधकः। इमे तु कर्तव्यं प्रत्यगंभीरतायाः अपराधिनः। गंभीरप्रवृत्तिरेव समत्वसाधनाविषयः, अकृतपर्यायत्वादगंभीरप्रवृत्तेः।

स्वकीये हितसन्दर्भे सहजासक्ति विषये आसक्तिनिराकरणसाधनारूपत्वात्समत्वं योग उच्यते। इतरेषां हितविषये स्वभावप्राप्तत्वात्समत्वस्य बन्धनकारिभावग्रन्थेरपलापस्य साधनाया अप्राप्तत्वान्नास्त्यत्र योगप्रसंगः । स्वात्मनः क्षुद्रात्मभावस्य विखण्डनं इतरेषां हितं प्रत्यात्मभावस्य विस्तारो हि प्रथमो विमर्शः योगस्य, *आत्मवत्सर्वभूतेष्वि'ति*। स्वात्मनः हितं प्रति ताटस्थ्ये सति इतरहितानुबंधस्तु द्वितीयो विमर्शः। तृतीयस्तु स्वपरभावं प्रति पूर्णतटस्थता। स्वपरभेदविमर्श-रहितत्वादनुपलब्धत्वाच्च नैतिकविमर्शायापेक्षितसाधारणीकरणसन्दर्भस्य साधनाया इयं नैतिकानैतिकनिरपेक्षा परानैतिकीकोटिः।

७. प्रसंगविशेषे कृता समत्वबुद्धिचर्चायाः प्रसंगसाहाय्येन प्रतिपालनमपि शक्यम्। किन्तु तन्नास्ति प्रबुद्धजनानां तोषाय। आस्थायां योगस्य संग्रहो हि गीतायाः मौलिकं योगदानं, दूरगामि-क्रान्तिकारिणश्चास्य धार्मिक-नैतिकोपपत्तयः। अस्य स्वरूपोपपत्तिरपेक्षते सविशेषां आधारभूतां गवेषणाम्। ऐतिहासिक-संदर्भानुसंधान-समारम्भा हि सा।

८. आचरणं भोगमूलकपरिकल्पजालेभ्यः कथं मुक्तं भवेदिति समस्या गीताशास्त्रस्योपदेशकस्य सम्मुखमासीत् तादृश्यैवानिवार्यतया यादृश्यासीत् भगवतः तथागतस्य सम्मुखम्। वैशिष्ट्यं यद्गीता समाधानायावश्यकं न मन्यतेऽनात्मवादम्। करोति सा परम्पराया पुनरावीक्षणं, आकलनं तत्र संगृहीतप्रज्ञाया, चिन्तनसूत्राणां चाभिज्ञानं ये उद्धारक-कर्मकौशलानुसंधाने भजन्ते प्रासंगिकताम्।

.१ निकटं निरीक्षेत वैदिक-कर्मव्यवस्थायाः नित्यकर्मस्यावधारणायां समुपलभ्यते निष्कामधर्माचरणस्य विचारबीजम् । अवधेयमत्र नित्यकर्मणः लक्षणम् *'फलाभिसंधिरहितत्वे सति अननुष्ठानस्यप्रत्यवायहेतुत्वम्*। द्विजेभ्यः *अहरहः संध्यामुपासीत* इति विधिप्राप्त- दैनिक-संध्यावंदनादिकर्म प्रसिद्धमुदाहरणं नित्यकर्मणः। स्पष्टमस्तित्वजनितं दायित्वमिदं यद् द्विजत्वादेव प्राप्यते द्विजेभ्यो। वैदिक-कर्मकाण्ड एव विद्यमान आसीदपेक्षितसाधनाबीजं, यस्यानुसंधानाय भगवान् बुद्धः श्रयते अनात्मवाद-सदृशमतिकल्पम्। अन्तःकरणशुद्धिनिमित्तमनोसाधनारूपं नित्यकर्म, वैदिकपरम्परायां निष्काम कर्मणः सहजं निदर्शनम्।

२ गीतायां नित्यकर्मस्योल्लेखो नास्ति। किन्तु सकामधर्माचरणाद्भिन्नायां निष्कामधर्माचरणस्य

प्रस्तुत्यां, नित्यकर्मण एव लक्षणं रूपायितं दृश्यते ' ***सुखदुःखे समे कृत्वे'ति*** **श्लोके। नित्यकर्म हि नैव बन्धनकरं, निष्कामत्वात्। कर्मकाण्डे विजडितां, इमां महत्त्वपूर्णार्थराशिं भूगर्भे निभृतस्वर्णकोषमिव उत्कृष्य, धर्मोद्धारस्याभिनवभूमिकायां तस्याः नियोजनं हि कर्मकाण्डे गीताया अन्तर्दृष्टेः प्रथमा महत्त्वपूर्णा उपलब्धिः। कथं नित्यकर्मलक्षणनैष्कर्म्यस्य विस्तारो नियोजनञ्च वर्णधर्मस्योद्धारे सम्पद्यते, सन्दर्भितः श्लोकोऽस्य सहजनिदर्शनम्। कर्मयोग-सिद्धान्तस्य विकासस्यैतिहासिकक्रमस्य प्रथमं सोपानमिदम्।**

८.३ अत्रैतच्चिन्त्यम् – असार्वभौमिकं शास्त्रविधानं धर्मश्च तद्विहितः,जातीयोद्भवत्वात् सर्वेषां शास्त्राणाम्। श्रीमद्भगवद्गीता कर्मयोगस्योपदेशेनास्थायाः यं सार्वभौमिकं पराशास्त्रीयवैभवं प्रति समाह्वयति, नित्यकर्मलक्षणताटस्थ्यबुद्धेर्विहिताचारे विस्तारस्तु एकः पदक्रमः तस्यां दिशि, निदर्शनमात्रं सम्भावनायाः।

एकक विमर्श :

यहां शास्त्रबुद्धि प्रकरण चल रहा है. प्रसंग है विहिताचरण के द्वारा अविकम्पित मनोदशा की सिद्धि. यह दो प्रकार से सम्भव है, सकाम धर्माचरण के द्वारा और निष्काम धर्माचरण के द्वारा. शास्त्र दो प्रकार से आचरण के प्रेरक बनते हैं : कामना पूर्ति के विधान के रूप में, तथा दिव्य आदेश के निष्काम अनुपालन के रूप में.

शास्त्र कामनापूर्ति के दिव्यविधान हैं, अतः बिना किसी द्वैधीभाव के उनका पालन होना चाहिए, यह प्रथम कल्प है. इसकी चर्चा *'हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'* इस श्लोक के साथ सम्पन्न होती है. अनन्तर *'सुखदुःखे समे कृत्वा .....'* इस एक श्लोक में निरपेक्ष-शास्त्रानुपालन की चर्चा हुई है.

इस श्लोक का अनेकविध महत्त्व है. इसका विलक्षण कथ्य इसे शास्त्रबुद्धि और योगबुद्धि के संक्रमबिन्दु की हैसियत देता है. सन्दर्भ यहां अभी भी शास्त्रबुद्धि का ही है. किन्तु इस सन्दर्भ में रहते हुए काम्यमूल्यों के प्रति निरपेक्षकर्म का विधान इसे योग के प्राथमिक निर्वचन की हैसियत देता है. शास्त्रबुद्धि के ही एक पक्ष में निष्काम के व्यवहार का निदर्शन कराते हुए, प्रकरण का समापन किया गया है, अग्रिम श्लोक ३९ में *'बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु'* इस उपक्रम के साथ योग के जिस

उपदेश का प्रारम्भ होने जा रहा है, उसका आंशिक निदर्शन प्रकृत श्लोक में पहले ही करा दिया गया है. वस्तु सामने रख कर चर्चा हो, तो सुनने और बोलने वाले दोनों को ही सहूलियत होती है.

सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥३८॥

सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय, को समान समझ कर, उसके उपरान्त तू युद्ध में अपने को लगा. इस प्रकार तू पाप का भागी नहीं बनेगा.

योग का यह प्राथमिक निदर्शन, अपनी सजीव प्रस्तुति के कारण इतना प्रभावशाली बन पड़ा है कि कर्मयोग की चर्चा के लिए इसका मुहावरे की तरह प्रयोग होता है. जैसा कि मुहावरों के साथ होता है, इस श्लोक की सतही समझ अनेकानेक विभ्रमों की जन्मभूमि है, गीता के संदेश के बारे में भी और हिन्दूधर्म के बारे में भी. व्याख्या के क्रम में इन पर निकट से विचार करेंगे.

१. *'सुख दुःखे समे कृत्वा....'* :
एक उलझन में डालने वाला परामर्श :

भला यह कैसे सम्भव है? सुख, सुख है, और दुःख, दुःख; भला दोनों समान कैसे हो सकते हैं. यह तो उसी तरह है जैसे कोई कहे काले को सफेद कर दो, सफेद को काला कर दो, भला ऐसा भी कहीं होता है? सुख और दुःख मनोजगत् की वस्तुएं हैं, जैसे कुर्सी, टेबिल आदि बाह्य जगत् की. इन वस्तुओं को व्यवहार के लिए यथावत् स्वीकार किया जाता है, इनमें से एक को दूसरे के समान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका भेद अनुभवसिद्ध भेद है. सुख और दुःख का भेद हमारी मर्जी की बात नहीं है. हमारा बनाया नहीं है. उसका अपलाप भी हमारी मर्जी की बात नहीं और यदि हम यहां तक मानने को तैयार है कि सुख और दुःख के भेद को हम मिटा सकते हैं, तो पुण्य और पाप के भेद को भी मिटा सकते हैं. उसे भी अन्यथा कर सकते हैं. अतः पाप से बचने के लिए सुख और दुःख के भेद का अपलाप क्यों? सीधे सीधे ये क्यों नहीं कहा, ***'पुण्यपापे समे कृत्वा'*** (पुण्य और पाप' को समान करके).

इन आपत्तियों से इतना स्पष्ट हैं कि यहां एक सर्वथा नए प्रकार का जीवन दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है, जो जनसामान्य की समझ के, लेनदेन की नैतिकता पर आधारित, धर्म की समझ

से सर्वथा विलक्षण है. इसमें पूर्वकल्पित है, कर्म के मनोविज्ञान पर आधारित साधना की एक सम्पूर्ण प्रक्रिया. उसकी चर्चा के बिना यह श्लोक कोई अर्थ नहीं दे सकता.

१.१. सुख-दुःख को समान करने का अर्थ :

काम्य विषय दो प्रकार के होते हैं, रागमूलक और द्वेषमूलक. स्वाभाविक लगाव के कारण सुख को रागमूलक विषय कहते हैं. इससे भिन्न दुःख को द्वेष्य कहने का अर्थ है उसके प्रति निसर्ग पराङ्मुखता. प्रत्येक व्यक्ति दुःख से बचना चाहता है, यही दुःख की द्वेषानुविद्धता है.

राग और द्वेष ये दो आधारभूत जैविक वृत्तियां हैं जो विषयों के हेयोपादेयरूप मूल्यविनिश्चय को जन्म देते हुए, तदर्थ व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त कराती हैं. सुख और दुःख को समान करने का अर्थ उनके यथार्थ का अपलाप करना नहीं; उनके भेद का अपलाप करना भी नहीं. इसका अर्थ है, कर्म को क्रमशः राग और द्वेष के वेष्ठनों से मुक्त करना, जो सुखदुःखादि को मूल्यवान् बनाते हैं, उन्हें अभीष्ट और अनभीष्ट बनाते हैं. जब यह कहा जाता है, कि ज्ञानी के लिए 'मिट्टी, लोहा और सोना समान होता है (समलोष्ठाष्मकांचन)' तो यहां समभाव की सिद्धि इन पदार्थों के स्वरूप को नकार कर नहीं, उनकी मूल्यवत्ता को नकार कर की जाती है. दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि वस्तुओं में मूल्यवत्ता राग और द्वेष की मूल जैविक वृत्तियों से प्राप्त होती है.

१.२. प्राकृत मूल्यानुबंधों से विषयों को मुक्त करना ही उन्हें *'समान करना'* है :

सुखदुःख, लाभ और अलाभ, जय और पराजय ये प्राकृत मूल्यद्वन्द्व हैं. इनके बीच समभाव की सिद्धि, इनमें मूल्यबुद्धि के निराकरण के द्वारा ही सम्भव है. मूल्यबुद्धि से तात्पर्य है, इनमें हेयोपादेय बुद्धि. सुख पाने की वस्तु है, दुःख त्याज्य है, यही मूल्यबुद्धि है, जिसके निराकरण के द्वारा समत्व की सिद्धि होनी है.

सुख और दुःख स्वयं में मूल्यवान् नहीं होते. इनमें मूल्यबुद्धि व्यक्तित्व के सूक्ष्म धरातलों से आयातित होती है. अस्तित्वरक्षा मनोजैविक-संघात की, स्वरूप से प्राप्त मौलिक प्रतिबद्धता है. इसमें उपकारक और अनुपकारक सम्बन्ध से राग और द्वेष, इन दो आधारभूत मूल्यों की प्राप्ति होती है. ये उपादान हैं, जिनसे जुड़ कर, सुखदुःख, हानिलाभ, जय-पराजय, मूल्यवान् बनते

हैं. रागद्वेष मन के धर्म हैं जब कि मूल्यबुद्धि एक बौद्धिकविनिश्चय सुखदुःखादि में मूल्यबुद्धि का त्याग, उपादानभूत रागद्वेष के त्याग के बिना सम्भव नहीं है. इनके परित्याग का साक्षात् फल मन का परिष्कार है. इस विधि से मन का परिष्कार करने के बाद किए गए युद्धादि कर्म निष्काम कर्म हैं, जिसका अर्थ है इन कर्मों के द्वारा हेयोपादेयरूप मनोबंधन का निर्माण नहीं होगा. सुख और दुःख होंगे, हानिलाभ भी होंगे, और जय और पराजय भी. लेकिन सुख प्राप्तव्य है, दुःख हेय है, इस मूल्यानुबंध का निर्माण नहीं होगा. यही है सुख और दुःख को समान करना. उक्त रूप में मूल्यानुबंधों से मुक्त कर्म निष्काम कर्म है. पुण्य और पाप भी मूल्य ही हैं, और मूल्यों के निराकरण में उनका निराकरण स्वतः प्राप्त है. इसीलिए कहा '*नैवं पापमवाप्स्यसि*.

२. फलश्रुति : *'नैवं पापमवाप्स्यसि'*

'इस प्रकार तुम पाप के भागी नहीं होओगे' यह समत्वबुद्धि से किए गए धर्माचरण का फल बताया. यहां यह कहा जा सकता है कि निष्कामधर्माचरण में पुण्य और पाप दोनों की ही सम्भावना का निराकरण प्राप्त है. ऐसी स्थिति में ***'नैवं पापमवाप्स्यसि'*** (तुम्हें पाप नहीं प्राप्त होगा) यह कहने का कोई औचित्य नहीं बनता. कहा यह जाना चाहिए कि 'तुम्हें पुण्य और पाप प्राप्त नहीं होंगे'. ध्यान देने का विषय है यहां उपदेश का सन्दर्भ. युद्ध में स्वजनवधनिमित्त पापभाव, अर्जुन का पीछा नहीं छोड़ रहा है. इस पापभाव का परिहार सन्दर्भ की मांग है, जिसे ध्यान में रख कर *'नैवं पापमवाप्स्यसि'* यह आश्वासन अर्जुन को देना जरूरी हो जाता है. यह कथन सन्दर्भ की विवशता है. वास्तविकता यही है कि समभाव से किया गया धर्माचरण पुण्य और पाप दोनों के निषेध की भूमि है.

महाभारत के शान्तिपर्व में यह प्रसंग आता है कि अर्जुन की ही तरह युधिष्ठिर भी युद्ध से हुए स्वजनवध के पाप की आशंका से उद्विग्न हो उठे थे. यह युद्ध के बाद की बात थी. भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें प्रायश्चित्त का मार्ग सुझाते हैं. किन्तु अर्जुन से यह नहीं कहा जा सकता. जो (युद्ध) अभी हुआ नहीं है, होने जा रहा है, उसके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि पहले पाप कर लो, फिर प्रायश्चित्त कर लेना. अर्जुन को तो सीधे यह आश्वासन चाहिए कि युद्ध में भाग लेने पर उसे कोई पाप नहीं लगेगा. युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है, जिसके अनुपालन के साथ लौकिक और पारलौकिक सुखों के आश्वासन जुड़े हैं. लेकिन धर्मशास्त्रों की यह व्यवस्था अर्जुन

लौकिक और पारलौकिक सुखों के आश्वासन जुड़े हैं. लेकिन धर्मशास्त्रों की यह व्यवस्था अर्जुन को आश्वस्त नहीं करती. युद्ध करने से गुरुवधरूप जो पाप की प्रसक्ति हो रही है, वह न हो, *'युद्ध भी हो और पाप भी न लगे'* तभी वह उसमें भाग ले सकता है.

अर्जुन की पापरहित निष्कलंक युद्ध की तलाश, एक ऐसे द्वार को खटखटा देती है जो धर्मशास्त्रों से परे, आचरण की एक नई विधा में प्रवेश देता है. आचरण की एक ऐसी शैली जिसमें पुण्य और पाप दोनों ही अर्थ खो बैठते हैं. लेकिन समस्या पापमुक्त आचरण की ही है. इसलिए यह कहना जरूरी हो गया कि(समभाव से युद्ध करने पर) तुम्हें पाप नहीं लगेगा. कहना यह चाहिए था कि तुम पुण्य और पाप दोनों से मुक्त रहोगे. किन्तु ऐसा कहना अत्युक्ति होती, शास्त्रबुद्धि के सन्दर्भ में भी और अर्जुन की आपत्ति के सन्दर्भ में भी.

शास्त्रबुद्धि की चर्चा में आचरण की जिस नई विधा से परिचय हुआ है, विभागवचन उसका स्पष्ट अभिधान करते हुए, उसे योगबुद्धि नाम देता है : *'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धेर्योगे त्विमां श्रृणु'* (यह तुम्हें सांख्यबुद्धि के बारे में बताया, योग बुद्धि के बारे में सुनो). अग्रिम पंक्ति में योगबुद्धि के सम्पूर्ण फल को बताते हैं, जिसका पूर्वश्लोक में संदर्भ के अनुरोध से केवल आंशिक अभिधान हुआ है. सम्पूर्ण फल इस प्रकार है : *'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि'*.

३. समत्वबुद्धि : योग की अवतरणिका :

आचरण को प्राकृत मूल्यबुद्धि से मुक्त करने का ही नाम है समभाव. गीता सुखदुःख, लाभ-अलाभ और जय-पराजय, के द्वन्द्वों से मुक्त मनोदशा के साथ युद्ध में उतरने की बात कहती है. आचरण की द्वन्द्वमुक्त मनोदशा का ही नाम है समत्वबुद्धि. एक सीमित अर्थ में समभाव को योग का पर्याय कहा जा सकता है. वास्तविकता यह है कि समत्वबुद्धि योग का पूर्वकल्प है, उसकी निषेधार्थक शर्त (negative condition), योग में प्रवेश का पहला सोपान. इस दृष्टि से व्याख्येय श्लोक को योग की अवतरणिका कहा जा सकता है.

कर्मयोग का सिद्धान्त गीता का मौलिक योगदान है. धर्मदर्शन और आचारशास्त्र के लिए असाधारण महत्त्व के इस सिद्धान्त ने अनेक गलतफहमियों को, अनेक भ्रामक व्याख्याओं और आचरण की विसंगतियों को जन्म दिया है. गीता का कोई सिद्धान्त इतना विवादास्पद नहीं है,

जितना कर्मयोग का सिद्धान्त, विशेष कर इसका समत्वबुद्धि पर्याय. इसे ले कर अत्यन्त गंभीर प्रकार के मनोवैज्ञानिक और नैतिक प्रश्न उठाए गए हैं. इनका संज्ञान लेते हुए ही हम इस विवेचना को आगे बढ़ाएंगे.

४. समत्वबुद्धि के बारे में आपत्तियां :

४.१. व्यावहारिक आपत्ति : सुखदुःख को समान करना क्या है, लाभ और अलाभ को समान कैसे माना जा सकता है? आम आदमी तो क्या अच्छे खासे विद्वान् भी उलझन में पड़ जाते हैं. अर्जुन की पाप की आशंका को ध्यान में रखते हुए पापमुक्ति के उपाय के रूप में अगर इसका उपदेश हुआ है तो यह एक असंभव उपाय है. यह समत्व बुद्धि लाएंगे कहां से? यह मिलेगी कहां? अगर पाप से छुटकारा ही इसका प्रयोजन है तो शास्त्रों में हर पाप के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था उपलब्ध है. फिर सुखदुःख को समान करने जैसे, तार पर नृत्य करने की भांति असाध्य, द्रोण पर्वत पर संजीवनी की तलाश की भांति दुष्कर उपाय की खोज में कोई क्यों वक्त बर्बाद करे? इससे बेहतर तो यह होगा कि पाप को, बीमारी की तरह जीवन की एक वास्तविकता मानकर उसके निराकरण के लिए शास्त्रविहित प्रायश्चित्त किया जाए या फिर उसके फल को शान्तभाव से भोग लिया जाए. फलभोग लेने के बाद पाप स्वतः उपक्षीण हो जाता है. पाप से बचने के ये सहज उपाय हैं. इनको छोड़कर, कोई भी समझदार व्यक्ति पाप से बचने के लिए समत्वबुद्धि जैसे अप्रसिद्ध एवं दुःसाध्य उपाय का चुनाव नहीं करेगा.

४.२. मनोवैज्ञानिक आपत्ति : भला सुखदुःख की परवाह किए बिना, लाभहानि की परवाह किए बिना कोई व्यक्ति कर्म में प्रवृत होता है? ऐसा तो पागल ही करते हैं. गीता प्रमत्त आचरण को विधानरूप में प्रस्तुत कर रही है. सुखदुःखादि मौलिक प्रवृत्ति हेतु हैं, जैविक अस्तित्व से जुडे मनोवैज्ञानिक उपादान हैं. इनका अपलाप शरीर में रहते हुए सम्भव नहीं है. सुख और दुःख, ये मूल्यवान् अनुभव हैं जो, जैविकसत्ता के साथ संवाद और विसंवाद से मूल्यवान् बनते हैं. सुख संवादी अनुभव है, दुःख विसंवादी. इनको समान करने का अर्थ है, इनमें संवाद और विसंवाद से प्राप्त मूल्यचेतना का निराकरण. लेकिन अगर ऐसा किया जाता है तो सुख और दुःख की सत्ता का ही लोप हो जाएगा. फिर समान किसे करेंगे. अगर इनका अपलाप करके ही इन्हें समान करना है तो 'सुखदुःखे समे कृत्वा' यह कहने के कोई अर्थ नहीं रह जाते. सुख और दुःख तो

तब समान होंगे, जब रहेंगे. अनुभव में संवाद और विसंवाद से प्राप्त मूल्य जब तक हैं, तब तक सुख और दुःख में उनकी अलग अलग दिशाओं में प्रवृत्तिनिमित्तता भी रहेगी, और यदि उसे इन मूल्यों से रीता कर दिया जाता है तो सुख और दुःख रहेंगे ही नहीं. इस प्रकार सुख और दुःख का समानीकरण एक असंभव कल्प है. यह आपत्ति का मनोवैज्ञानिक पक्ष है.

४.३. नैतिक आपत्ति : पुनः बिना लाभ हानि पर विचार किए, अगर कोई किसी की हत्या कर देता है, या अन्य कोई अनुचित आचरण करता है तो क्या वह दण्ड और पाप का भागी नहीं होगा? ऐसे बहुत से मिल जाएंगे जो पुरस्कार और दंड के प्रति निरपेक्ष रहते हुए केवल साहसिकता के आनन्द के लिए अपराध करते हैं. ऐसों की भी कमी नहीं जो अपने क्रूर अविचारित आचरण को निष्काम कर्म या धर्मयुद्ध का नाम देते हैं, और नैष्कर्म्य को 'प्रेम और युद्ध में सब कुछ जायज है' इस अंग्रेजी मुहावरे का पर्याय बना कर प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं. गीता के इस श्लोक की मानें तब तो संसार में आचार व्यवस्था का सम्पूर्ण वितान, लौकिक और धार्मिक, बिखर कर नष्ट हो जाएगा.

वास्तविकता तो यह है कि दूसरे अध्याय के ३८ वें श्लोक ने जितनी समस्याएं प्रबुद्ध जनमानस में पैदा की हैं, उतनी शायद ही गीता के किसी और श्लोक ने की हों. जहां ईमानदार लोग समत्वबुद्धि को एक असंभव उपाय मान कर इसकी व्यावहारिकता के प्रति शंकालु देखे जाते हैं. वहीं धूर्त और पाखण्डी लोगों के लिए अपने कदाचार और मनमाने आचरण को उचित ठहराने के लिए समत्वबुद्धि से बेहतर कोई सिद्धान्त-कवच नहीं हो सकता. दूध में पानी मिलाओ समत्वबुद्धि से, डालडा में चर्बी मिलाओ समत्वबुद्धि से, लाभ और अलाभ को समान समझ कर टैक्स की हेराफेरी करो समत्वबुद्धि से. शत्रुओं के प्रति हिंसकभाव तो खैर स्वभावप्राप्त होता है, अपनों के प्रति मोहवश, अपनत्व के कारण जो करुणभाव प्राप्त है उसका भी अपलाप कर दो और अपने और पराए का बिना कोई भेद किए सभी का वध करते रहो और अपने को अपनी समत्वबुद्धि के कारण पापमुक्त समझो. **अक्सर लोकोक्ति की भांति उद्धत किया जाता गीता का श्लोक *''सुखदुःखे समे कृत्वा...'*उसके अविचारित प्रयोग और गुमराह करने वाले भाष्य हिन्दू जनमानस की गहराइयों में एक अवचेतन जीवनादर्श का निर्माण करते हैं जिसे हिन्दुओं के नैतिक संदेहवाद, अनास्था, अप्रतिबद्ध-आचरण, और समझौतावादी द्रष्टिकोण के लिए काफी हद तक जिम्मेदार माना**

जा सकता है. यह देख कर हैरानी होती है कि गीता के विद्वान् व्याख्याकार, शास्त्र के इस खतरनाक दुरुपयोग को रोकने और जनता को इस बारे में सावधान करने का कोई प्रयास नहीं करते.

५. आपत्तियों का प्रसंगोपात्त समाधान :

ये और इस प्रकार की अनेक आलोचनाएं तथा सुविधाजनक प्रयोग, विचाराधीन श्लोक के दायभाग बन चुके हैं. ये जिस अविचार की उपज हैं, उसका अन्दाजा लगाने के लिए हमें इससे अधिक और कुछ भी नहीं करना कि प्रकृत श्लोक के प्राकरणिक संदर्भ पर एक सरसरी निगाह डाल लें. प्रकरण है, शास्त्रबुद्धि का. इसकी चर्चा का उद्देश्य है, शास्त्रविहित आचरण में निश्चयात्मकता की सिद्धि. धर्माचरण में (शास्त्रानुपालन) में प्रवृति दो प्रकार से हो सकती है, सकाम और निष्काम. पहले श्लोक ३१ से ३७ तक, अर्जुन को निमित्त बना कर सकाम धर्माचरण में अविकम्पित मनोदशा की सिद्धि की गई. (***स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि***). अनन्तर श्लोक-३८ में इसी की सिद्धि निष्काम धर्माचरण में की गई है.

कर्तव्य में अनिश्चयात्मकता का हेतु है भेदबुद्धि. यह भेद बुद्धि लौकिक और अलौकिक दो प्रकार के मूल्यों से प्राप्त हो सकती है. सुखदुःख, लाभ-अलाभ और जयपराजय — ये लौकिक मूल्यद्वन्द्व हैं, जिनका विचार विधिजन्य कर्तव्यबुद्धि में अनिश्चय और पुनर्विचार को जन्म दे सकता है. अतः संकल्प में '***सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ***' यह कह कर लौकिक मूल्यद्वन्द्वों के भेदविमर्श का निराकरण करते हुए अविकम्पितभाव की सिद्धि की गई.

भेदबुद्धि का दूसरा स्रोत हैं, अलौकिक मूल्य, जो पुण्य और पाप के द्वन्द्व के रूप में भेदबुद्धि को जन्म देते हैं. अर्जुन के मन में प्रारम्भ से ही यह धारणा बन चुकी है कि आसन्न युद्ध पाप है — ***पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः***. लेकिन जब सुखदुःख, लाभ-अलाभ जयपराजय, और पुण्यपाप के सभी प्रवृत्तिनिमित्तों का निराकरण करते हुए केवल शास्त्रबुद्धि से आचरण किया जाता है तब पाप की प्रसक्ति की भी कोई सम्भावना नहीं रहती. यहां तो केवल शास्त्रों की आज्ञा का पालन हो रहा है; आज्ञा का पालन करने वाले के पास, आज्ञा पालन के अतिरिक्त जब अपना कोई प्रवृत्तिनिमित्त (लाभहानि आदि) न हो, ऐसी स्थिति में पुण्य और पाप की जिम्मेदारी भी आज्ञा देने वाले की ही बनती है, पालन करने वाले की नहीं. 'ततो युद्धाय युज्यस्व'

यह वाक्य, पूर्वार्ध में उल्लिखित समस्त लौकिक और पारलौकिक प्रवृत्तिनिमित्तों का परित्याग करके केवल शास्त्रों की आज्ञा को शिरोधार्य करके युद्ध करने की बात कहता है.

कर्म में प्रवृत्ति के अपने निजी कारण न होने से, कर्म की नैतिक परिणतियां, पुण्य और पाप, कर्ता के पास वापस नहीं लौटते, जैसे बिना प्रेषक के पते वाला पार्सल. 'नैवं पापमवाप्स्यसि' यह आश्वासन तो अर्जुन की युद्ध में पाप की आशंका को ध्यान में रख कर दिया गया है. वास्तविकता यह है कि समभाव से किया गया कर्म, पुण्य और पाप दोनों से मुक्ति का आश्वासन है.

इस चर्चा का महत्त्वपूर्णपक्ष है इसका सन्दर्भ, जिसकी उपेक्षा किए बिना ऊपर कहे गए समत्वबुद्धि के बारे में अनेकविध सुविधाजनक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते. विवेच्य श्लोक का प्रसंग धर्माचरण का है. इसमें जिस आचरण की बात की गयी है, वह सुख, लाभ, जय आदि के लौकिक प्रवृत्ति निमित्तों से तो मुक्त होगा, लेकिन शास्त्र की आज्ञारूप जो निमित्त है, उससे मुक्त नहीं होगा. अतः इसमें प्रमत्त, अनैतिक मनमाने और क्रूर आचरण प्रसंग से ही बाधित हैं. समत्वयोग के बारे में अव्यावहारिकता के जो आक्षेप लगाए जाते हैं, वे प्रसंगपराङ्.मुख बुद्धि के आतुर निष्कर्ष है, इससे अधिक कुछ नहीं.

६. विशेष विचार :

६.१. समत्वयोग : व्यक्तित्व के रूपान्तरण की साधना : यह सही है कि मनो-जैविक धरातल पर अनुभव और मूल्य परस्पर अन्तर्गुम्फित होते हैं, इस तरह कि उन्हें अलग करना तो दूर उन्हें अलग करके देखा भी नहीं जा सकता. अनुकूल-वेदना में सुख और सुख में प्रवृत्ति, ये जीवन के अर्थ से प्राप्त अविभाज्य मूलवृत्ति है, जिसे अवयवों में विभाजित करने का अर्थ है, उसे नष्ट करना. समानीकरण की बात तो दूर, दुःख सुख को हेयोपादेय मूल्यों से अलग करके देखा भी नहीं जा सकता,

उक्त मनोवैज्ञानिक आपत्ति व्यक्तित्व के एक सीमित मनोजैविक सन्दर्भ में सही है. लेकिन जब हम उच्चतर चेतना में प्रवेश करते हैं, मनोजैविक संघात के मूल में, इसके दृष्टा और अनुमन्ता रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं, तो पूरा सन्दर्भ बदल जाता है, और सन्दर्भ के साथ बदल जाते हैं आकलन. व्यापक सन्दर्भ की चेतना में मनोजैविक-संघात अपनी निर्णायक

हैसियत को खो देता है, स्वयं उपकार्य बन जाता है. यहीं से प्रारम्भ होती है, उसके सन्दर्भ से प्राप्त रागद्वेषादि में, तन्निरूपित सुखदुःखादि मूल्यों में अवमूल्यन की प्रक्रिया, इस हद तक कि उन्हें अलग करके देखा जा सकता है और उपयुक्त साधना के द्वारा उनका निराकरण करते हुए समानीकरण को भी साधा जा सकता है.

साक्षात् संघात से प्राप्त होने के कारण, आधारभूत मूल्य हैं राग और द्वेष. इनके साथ संवाद के द्वारा सुख और दुःख के अनुभव, लाभ और हानि, जय और पराजय के निर्णय मूल्यवान् बनते हैं. सुखदुःखादि को समान करने की साधना, इन्हें मूल्यों से रीता करने की साधना है जो उपादानभूत राग और द्वेष के परित्याग के बिना सम्पन्न नहीं हो सकती. यतः राग और द्वेष मन के धर्म हैं, इनके परित्याग का साक्षात् फल मन का परिष्कार है. यह परिष्कार सम्पूर्ण जीवनदृष्टि को बदल देता है.

यह राग और द्वेष ही हैं, जिनके कारण हम अपने को दूसरों से विशिष्ट समझते हैं. समत्व की साधना के द्वारा इनका क्षरण होने से *'मैं दूसरों के बीच विशिष्ट हूं'* यह भाव दुर्बल होता जाता है. प्रतिबन्धकभाव के विगलित होने से दूसरों के प्रति सहज समभाव और करुणा की निष्पत्ति होती है.

दूसरों के प्रति समभाव की प्राप्ति धार्मिक नैतिक और राजनैतिक विधान के द्वारा भी सम्भव है. किन्तु वह निरोध के रूप में होती है, सहज शील के रूप में नहीं. उसे सुनिश्चित करने के लिए पुलिस और न्यायालयों की जरूरत पड़ती है. समत्व की साधना के द्वारा प्राप्त समभाव सम्पूर्ण व्यक्तित्व के रूपान्तरण का परिणाम होता है. यह सहज शील के रूप में प्रतिष्ठित होता है. इसका प्रवर्तन किसी विधि की, किसी निरोध की अपेक्षा नहीं रखता.

सुख और दुःख को समान करने का अर्थ कोई तराजू से तोल कर समान करना नहीं है. यह मन के परिष्कार की साधना है जो सुखदुःखादि मूल्यद्वन्द्वों के बीच शुरू जरूर होती है, लेकिन सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय को समान समझ लेना भर इसका प्रयोजन नहीं है. यह तो केवल प्रारम्भबिन्दु है उस साधना का जिसे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के रूपान्तरण में पर्यवसित होना है.

६.२. समभाव का अर्थ अगंभीरता नहीं :

जब हम किसी व्यक्ति या संस्था के प्रतिनिधि के रूप में काम कर रहे होते हैं, और उस हैसियत से जो निर्णय हम लेते हैं, यह समझते हुए कि वे साक्षात् या परोक्ष रूप में हमारे निजी हितों को प्रभावित नहीं करते, उस समय लाभ और हानि की परवाह किए बिना आचरण करना अनैतिक है. फीस ले कर हारजीत की परवाह किए बिना मुकदमा लड़ने वाला वकील, संस्था की लाभ-हानि का ख्याल किए बिना निर्णय करने वाले उसके पदाधिकारी, किसी नाबालिग अभिभावी के हित-अनहित की अनदेखी करने वाला अभिभावक, शत्रु और मित्र दोनों को निर्द्वन्द्व भाव से लड़ा कर नष्ट कर देने की योजना बनाता राजनेता — इनमें से कोई भी समत्व का साधक नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उनका आचरण इसका आभास दे सकता है, और वे स्वयं अपने को तसल्ली दे सकते हैं कि वे समत्वभाव में प्रतिष्ठित कर्मयोगी हैं. वस्तुतः ऐसे लोग कूटकर्म के या अगंभीरता के या इन दोनों के दोषी होते हैं.

समत्व का अर्थ अगंभीरता नहीं है. कर्तव्य के प्रति गंभीर व्यक्ति ही समत्वयोग और तन्मुखेन कर्मयोग का साधक हो सकता है. बंधनकारी भावानुबंधों से कर्तव्य कैसे मुक्त हो, इस साधना का नाम है समत्वयोग. ये हानि-लाभ और जय-पराजय से जुड़े भाव ही हैं जो आत्मा और कर्म के बीच उस ग्रन्थि का निर्माण करते हैं, जो भावी कर्मों का प्रवृत्ति हेतु बनते हुए अपने को अभ्यास के द्वारा सुदृढ़ करता रहता है. यह भावग्रन्थि ही अहंकार है, आत्मा का प्राकृत रूप और कर्मबंधन का सम्बन्धी.

६.३. समत्वाचार : दायरे और नैतिकता :

अहंकार और फलासक्ति अन्योन्याश्रित हैं. आत्मा और कर्मफल के बीच की ग्रन्थि है अहंकार. यह अहंग्रन्थि आत्मा को बंधनयोग्य आकार देती है, और उसे बंधन के दूसरे सम्बन्धी कर्मफल से बांधती है. अहंकार में फलासक्ति स्वभाव से प्राप्त है. मतलब यह कि अपने लाभ में आसक्ति और अलाभ में वितृष्णा प्रत्येक अहंकार में स्वभावप्राप्त है. किन्तु अपने लाभ और अलाभ के बीच समभाव स्वभाव से नहीं प्रयास से (साधना से) प्राप्त किया जाता है. इससे भी भिन्न स्थिति वहां है जहां अपने हानि और लाभ की नहीं, दूसरे के लाभ और हानि की बात है. *दूसरे के लाभ और हानि* के प्रति तटस्थता स्वभावप्राप्त है. इस सहज तटस्थता के वाबजूद

यह आचरण समत्वयोग की कोटि में नहीं आता, क्योंकि यह बंधनकारी भावग्रन्थि के बौद्धिक अपलाप की प्रक्रिया से प्राप्त नहीं है. सच तो यह है कि दूसरों के हित के प्रति तटस्थता अपने स्वार्थों के प्रति गाढ़ी तन्मयता का ही दूसरा रूप है.

अपने क्षुद्र-आत्मभाव का विमूल्यन, दूसरे के हित के प्रति वही भाव जो अपने हित के लिए है, यह समत्वबुद्धि का प्रथम विमर्श है. मोटे तौर पर यह *आत्मवत् सर्वभूतेषु* इस नैतिकसूत्र का ही पुनराख्यान है. अपने हित के प्रति तटस्थभाव और दूसरे के हित के प्रति गंभीरता, यह समत्वबुद्धि का दूसरा विमर्श है. पूर्ण तटस्थता – अपने और पराए सभी हितों के प्रति – यह तीसरा विमर्श है. इस अवस्था में अपने पराए का भेद नहीं रहता, इसलिए साधारणीकरण पर आधारित नैतिकता के सिद्धान्त के लिए इसमें कोई अवकाश नहीं बनता.

जिस आचरण का प्रवर्तन पहले प्राकृत उद्रेगों के द्वारा होता था, वह पहले शास्त्रबुद्धि के अधिकार में पहुंचता है, धर्माचरण बनता है. अनन्तर समत्व के प्राथमिक विमर्श में शुद्ध नैतिकबुद्धि का विषय बनता है. समत्वबुद्धि के अन्तिम विमर्श में शुद्धान्तःकरण स्वयं विधायक बन कर बैठता है. यहां आचरण सहज स्फूर्त होने से, स्व-परभाव- निरपेक्ष होने से, नैतिक नहीं, अनैतिक भी नहीं, परानैतिक होता है. इस सम्पूर्ण उपक्रम का बोझ अपने ऊपर लिए है, गीता का पौर्वापर्य निरपेक्ष सा दिखता यह अकेला श्लोक. इस बहुतलीय स्पष्टीकरण को समझे बिना इस श्लोक की व्याख्या की जाए तो इसकी अर्थसम्पदा का खुलासा तो होगा नहीं, अनर्थ की ही सम्भावना ज्यादा है.

७. प्रसंगसापेक्ष समाधान की अपर्याप्तता :

यतः समत्वबुद्धि की चर्चा यहां प्रसंग विशेष में की गई है, अतः प्रसंग की सहायता से उसका बचाव भी किया जा सकता है. लेकिन इससे निष्कामकर्मयोग के सिद्धान्त को ले कर जो समझ की समस्या है वह समाप्त नहीं होती. सामान्यजन तो क्या प्रबुद्ध जनों के मन में भी इसके अर्थ और व्यावहारिकता को ले कर एक अजीब ऊहापोह की स्थिति देखी जाती है. समत्वबुद्धि, तन्निरूपित योग की साधना को नैतिक मूल्यों के प्रति तटस्थता के सिद्धान्त के रूप में देखा जाता है. इसके कारण कुछ आलोचक तो हिन्दूधर्म को नैतिकताविहीन, यहां तक कि अनैतिक कहने में भी नहीं हिचकते.

इसमें संदेह नहीं कि धर्मदर्शन के क्षेत्र में गीता का यह अनूठा योगदान है. आस्था में 'किताबी नैतिकता' के स्थान पर या उसके समनन्तर, वैयक्तिक साधना और अनुसंधान की प्रतिष्ठा करने वाले इस सिद्धान्त की धार्मिक और नैतिक उपपत्तियां इतनी आधारभूत और क्रान्तिकारी हैं कि इसके कारण एकआयामी पुस्तकपंथों का बेचैन हो उठना स्वाभाविक ही है. इसे देखते हुए समत्वयोग, तदुपलक्षित कर्मयोग का सिद्धान्त, आधारभूत तलस्पर्शी अध्ययन की अपेक्षा रखता है. सिद्धान्त के विकास के ऐतिहासिक क्रम का विवरण.ही ऐसे अध्ययन परिकल्प का प्रापम्भ बिन्दु हो सकता है.

८. कर्मयोग के सिद्धान्त के विकास का क्रम :

हमारा आचरण वासनामूलक परिकल्पों के जाल से कैसे मुक्त हो, और कैसे वह हमारी तात्कालिक समस्याओं से जुड़ कर सार्थक बने, यह समस्या गीताशास्त्र के उपदेष्टा के सामने उतनी ही अनिवार्यता के साथ आती है जितनी भगवान् बुद्ध के सामने रही होगी. किन्तु गीता का वैशिष्ट्य यह है कि उसने समाधान के लिए अनात्मवाद का सहारा लेना जरूरी नहीं समझा. उसने परम्परा को नये सिरे से देखा, कर्मकाण्डों के रूप में विजड़ित पड़ी चिंतन सामग्री का आकलन किया, और उन तत्त्वों को पहचाना जो समस्या के समाधान में सहायक हो सकते थे.

८.१. 'नित्यकर्म' की वैदिक अवधारणा :

'कर्मयोग' का ऐतिहासिक विचारबीज : धर्मशास्त्रों में, कर्म का वर्गीकरण, नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मो के रूप में किया गया है. इनमें नित्यकर्म की परिभाषा ध्यान देने योग्य है. ऐसे कर्म जिनके करने से विशेष फल नहीं होता, किन्तु जिनके न करने से प्रत्यवाय (पाप) लगता है नित्य कर्म कहलाते हैं. द्विज के लिए संध्यावंदनादि कर्म इसी श्रेणी में आते हैं. ये एक प्रकार के अस्तित्वजनित दायित्व हैं जो एक द्विज को द्विज होने के कारण प्राप्त होते हैं. गीता में जिसे निष्काम-कर्म के रूप में प्रतिपादित किया गया है, उसका निदर्शन हमें कर्मकाण्ड व्यवस्था में ही नित्यकर्म के रूप में मिल जाता है.

संध्या वंदनानादि, प्रत्येक हिन्दू के लिए प्राथमिक नित्यकर्म है, जिनमें पांच से दश वर्ष की आयु के बीच उपनयन संस्कार के साथ अधिकार का सृजन होता है. नित्यकर्म में अधिकार

का अर्थ है, एक जिम्मेदार नैतिक आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ. व्यक्ति की पहली जिम्मेदारी स्वयं अपने प्रति होती है, अपने व्यक्तित्व के परिष्कार की जिम्मेदारी. अस्तित्वजन्य होने से यह अन्तरंग दायित्व है. इसकी तुलना में पुण्यपाप के मूल्यों सहित सभी दायित्व बहिरंग हैं, उपार्जित हैं. व्यक्तित्व का परिष्कार, शरीर की स्वच्छता की तरह एक निरपेक्ष, अन्तरंग मूल्य है; इसे पुण्य का नाम देने का अर्थ होगा इसका अवमूल्यन करना, इसके अंतरंग स्वरूप को नकारना. अपने अस्तित्व के प्रति दायित्व एक आधारभूत दायित्व है. इसकी उपेक्षा आत्मघात के समान है, और आत्मघात पाप है. इसीलिए यह कहा गया है कि नित्यकर्म से किसी पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, न करने पर पाप लगता है.

व्यक्तित्व के प्रति दायित्व व्यक्तित्ववान् होने से उत्पन्न होता है, इसका निर्वाह करके हम अपने प्रति अपनी जागरूकता को, अपनी निष्ठा को व्यक्त करते हैं, यही इसका फल है. इसके लिए किसी अतिरिक्त फल की, किसी पुण्य की अपेक्षा करना कुछ उसी तरह होगा जैसे कोई व्यक्ति इस बात के लिए प्रशंसा और पुरस्कार की कामना करे कि वह अपने बीबी बच्चे का भरण पोषण कर रहा है. नित्यकर्म से व्यक्तित्व का परिष्कार होता है, कोई पुण्य नहीं होता, पुण्य के लिए यह किया भी नही जाता, ठीक उसी तरह जैसे अपने घर की सफाई करना, बीबी बच्चों का भरण पोषण करना, यह व्यक्ति की सामाजिक सत्ता से प्राप्त दायित्व है, जिसके करने के लिए वह किसी इनाम की, किसी प्रशंसा, मान्यता या पुण्यार्जन की अपेक्षा नहीं कर सकता. नित्यकर्म करने से पुण्य नहीं मिलता इसका यही आशय है.

८.२. नित्यकर्म के विचारमूल का समत्वयोग में रूपान्तरण :

गीता में नित्यकर्म का उल्लेख नहीं है. किन्तु सकाम धर्माचरण से भिन्न, समत्वयोग को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उसमें नित्यकर्म के वैचारिक उपादानों को सहज पहचाना जा सकता है —

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

यहां नित्यकर्म का लक्षण — अनुष्ठान में लाभ की अनपेक्षा, और अननुष्ठान में पाप — एक ऐसे युद्धकर्म में विस्तार को प्राप्त हो रहा है, जो एक क्षत्रिय के लिए शास्त्रविहित होने से

उसका वर्णधर्म अर्थात् स्वधर्म भी है. एक क्षत्रिय के लिए युद्ध करना धर्म है, युद्ध से विरत होना पाप, यह धर्मशास्त्र की व्यवस्था है. यहां समत्व का उपदेश, धर्मशास्त्र की व्यवस्था की ही पुष्टि करता है. अन्तर केवल इतना है कि प्राकृत उत्प्रेरकों का विसर्जन करते हुए, यहां शास्त्राज्ञा, केवल शास्त्राज्ञा ही उत्प्रेरक रूप में प्रतिष्ठित होती है. इस प्रकार अनुष्ठान में हानिलाभ के प्रति निरपेक्षभाव और अननुष्ठान में पापबुद्धि, नित्यकर्म के ये तत्त्व समत्व की साधना में स्पष्टरूप से प्राप्त हैं.

नित्यकर्म के लक्षण का वर्णधर्म में विस्तार, उस युद्धकर्म में अतिशय उत्पन्न कर रहा है, जो पहले से ही धर्म है. यह अलग बात है कि इस धर्म को ले कर अर्जुन के मन में अनेक आशंकाएं हैं. इन आशंकाओं को ध्यान में रख कर पहले से ही प्राप्त स्वधर्म में नित्यकर्म की अनुष्ठानविधि के द्वारा समत्वबुद्धिरूप उस अतिशय की सिद्धि की गई है जो संदेहों के दलदल में फंसे स्वधर्म का उद्धार करता है. यहां समत्वयोग धर्म के उद्धारक की भूमिका में सामने आता है.

कर्म में कामनासंसर्ग ही बन्धन है. नित्यकर्म निष्काम होने से बन्धनकारी नहीं होता. यह महत्त्वपूर्ण अर्थराशि नित्यकर्म के कर्मकाण्ड में विजड़ित, जमीन में दबे सोने की तरह पड़ी थी. उसका धर्म के व्यापक संदर्भ में उन्मोचन, धर्मोद्धार की अभिनव भूमिका में उसका नियोजन, —संक्षेप में कर्मयोग का परिकल्प, गीता की महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक उपलब्धि है, जो उसकी पैनी अन्तर्दृष्टि और सर्जनात्मक प्रतिभा को रेखांकित करती है. किस प्रकार नित्यकर्म की निष्कामवृत्ति का वर्णधर्म में विस्तार और उसके उद्धार में नियोजन हुआ है, सन्दर्भित श्लोक इसका सहज निदर्शन है. कर्मयोग के सिद्धान्त के विकास के इतिहास का यह प्रारम्भिक चरण है.

९. समत्व की साधना :

आस्था के परापुस्तकीयवैभव की ओर एक कदम : बुद्धि के नित्यकर्मलक्षण परिष्कार का वर्णाश्रम धर्म में विस्तार, उसे व्यापक संदर्भ और भूमिका देता है किन्तु यह व्यापक संदर्भ भी है तो विध्यर्थ का ही. नित्यकर्म और वर्णधर्म दोनों ही शास्त्रविधान से प्राप्त धर्म हैं. कोई भी पुस्तकपंथ, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, अपने जातीय उद्भव के कारण धर्म का सार्वभौमिक अर्थ नहीं हो सकता. श्रीमद्भगवद्गीता आस्था के जिस पुस्तकनिरपेक्ष पराशास्त्रीय, वैभव की ओर हमारा आवाहन करती है, नित्यकर्मलक्षण 'समत्व' का विहिताचार में विस्तार, उसकी दिशा में सिर्फ एक कदम है, सम्भावना का निदर्शन मात्र.

इससे आगे जा कर योग की एक समग्र, सार्वभौमिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठा की गई है. यह श्रीमद्भगवद्गीता के धर्मचिन्तन की अनन्य उपलब्धि है, जिसके बारे में उसका कहना है – ***स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*** (इस धर्म का थोड़ा सा भी अनुष्ठान महाभय से मुक्त करता है.). धर्म का यह साधनाकल्प शास्त्रनिबद्ध धर्मों का निषेध नहीं करता. समत्वयोग का प्रथम निदर्शन, गीता में धर्माचरण के रूप में ही कराया गया है. इस से सिद्ध है कि कर्मयोग की साधना शास्त्रीय धर्मों को अपनी परिधि के बाहर नहीं मानती. किन्तु जहां शास्त्रों का मार्गदर्शन अपर्याप्त है, जहां उनके बहुत्व में एकत्व के आधार की तलाश है, वहां कर्मयोग आस्था के एक निर्द्वन्द सिद्धान्त के रूप में सामने आता है. यह बात आगे व्याख्या के क्रम में स्पष्ट होती जाएगी.

■ ■ ■

सन्दर्भ-ग्रन्था:

१. महाभारतम् - गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०२६

२. महाभारतम् - भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट, पूना

३. आनन्दगिरिकृतव्याख्यासंवलित श्रीमच्छाङ्करभाष्ययुता-श्रीमद्भगवद्गीता-नीलकण्ठी-मधुसूदनी- भष्योत्कर्षदीपिका- श्रीधरी-भिनवगुप्ताचार्यप्रणीतव्याख्यासनाथीकृता-सम्पादक, वासुदेवशास्त्रीपनसीकर, मुम्बई, १९३६

४. श्रीमद्भगवद्गीता-शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेता- परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली- १९९२

५. महाभारत ममांसा-श्री चिन्तामणिविनायक वैद्य, हरियाणा साहित्य अकादमी चंडीगढ़- १९९०

६. श्रीमद्भगवद्गीता-शाङ्करभाष्यम्, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. १९४८

७. गीताविज्ञानभाष्य-भूमिका-मोतीलालशर्मा गौड़ - दी न्यू एशियाटिक वैदिक रिसर्च सासाइटी, जयपुर - १९३९

८. साधक संजीवनी-टीका, स्वामी रामसुखदास, गीता प्रेस, गोरखपुर-सं. २०५१

८. गीता-दर्शन - ओशो - रेबेल पब्लिशिंग हाउस, पूना - १९९२

९. हिन्दी ज्ञानेश्वरी - हिन्दी साहित्य-कुटीर, बनारस - सं. २००३

१०. **ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्** - भामती,कल्पतरु,परिमल सहितम् - निर्णयसागरप्रेस, मुम्बई- १९३८

११. **मनुस्मृतिः, मन्वर्थदीपिकया विराजिता** - पण्डित-पुस्तकालय, काशी - सं.२००४

१२. **कुर्आन शरीफ़** - शेरवानी संस्करण - लखनऊ किताब घर - लखनऊ १९९१

१३. **पवित्र बाइबिल अर्थात् पुराना और नया नियम** - बाइबिल सोसाइटी आफ इण्डिया, बेंगलोर

१३. हिन्दूधर्म का गूढ़ रहस्य या ब्राह्मणशाही की ऊहापोह - डा. भीमराव अम्बेडकर -कल्चरल पब्लिशर्स, - लखनऊ - १९९४

१४. **भजन किसका करें** - स्वामी अड़गड़ानन्दजी - श्री परमहंस आश्रम, शक्तेशगढ़, चुनार, राजगढ़ रोड, मिर्जापुर -२००२

"Thoughts on Pakistan" Vol.1, B.R. Ambedakar, Cultural Publishers, Lucknow - 1995

१५. "Hindutva" - V.D. Savarkar, Veer Savakar Prakashan, Bombay - 1969

१६. "Pilgrim without Boundaries", Ravi Ravindran, Satya Nilayam Publication, Chennai - 600041

शब्दानुक्रमणिका

(ग्रन्थ में प्रयुक्त कठिन शब्दों का कोष)

अ-आ

अकल्पितकल्प	कल्पनातीत unimaginable
अनुशास्ता	आदेश देने वाला dispenser
अनन्तर्भावी	जिसका अन्तर्भव न किया जा सके irreducible,
अनपायी	जिसे अलग न किया जा सके inseparable
अनुमाप्य	अनुमाप के योग्य measurable
अनैकान्तिक	अनियत Indeterminable
अनन्यगत्या	अनिवार्य रूप से invariably
अनन्याश्रयत्व	एक के अतिरिक्त अन्य का आश्रय न लेना undevided dedication
अनिर्बन्ध	स्वतंत्र,अबाधित unobstructed concomittance
अनुपसंहारी	अनिर्णीत inconclusive
अनुध्यान	ध्यान का तारतम्य meditation
अनुपद	ठीक बाद में आने वाला the next in order
अनुस्यूत	अन्तर्भावित involved, intertwined
अनुपपन्न	उलझन भरा inexplicable
अन्तर्निरीक्षण	आत्मनिरीक्षण, introspection
अन्योन्याश्रित	परस्पर निर्भर depending on one another
प्रतिपत्ति	ज्ञान knowledge
अभ्युपगमवाद	परीक्षण के लिए किसी सिद्धान्त को स्वीकार करना accepting for the sake of argument
अविकृतपरिणामवाद	कारण के अविकारी रहते हुए उससे कार्य की उत्पत्ति the principle of immutability of the cause

अस्तित्व	सत्ता existence
अशाश्वतवादी	बौद्ध, जो आत्मा को शाश्वत नहीं मानते, the buddhists, nihilists
अप्रतियोगी	अविरोधी not counterpositive of negation
अभिनिवेश	आसक्ति, लगाव attachment,
अप्रमेय	ज्ञान का अविषय not knowable
अन्वय	सम्बन्ध, जोड़ relation, relatedness
अदृष्ट	प्रारब्ध, जिसे देखा नहीं जा सकता unseen
अविकम्पित	निर्द्वन्द्व unhesitating
अप्रत्याख्येय	जिसका निषेध करना सम्भव न हो irrefutable
अधिष्ठान	आधार ground
अविविक्त	अविशेषित, अस्पष्ट विशेषार्थ से रहित unspecified
अचिन्त्य	अचिन्तनीय unthinkable
अविनाभावी	नियत-सहचार, concommitance
अनैकान्तिक	अनियत, अव्यवस्थित Indeterminable
अभ्यूह	उपनियम, corollary
अवगाहन	समझ comprehension
अर्थावगति	अर्थ को गृहण करना To comprehend the meaning
अवसित	परिसमाप्त determined
अलक्ष्य	अदृश्य invisible
अध्याहार	पहले कहे का आगम to bring in an earlier statement in an explanation
असमाहार्य	जिसका संग्रह न हो सके inconsistent
अतिरेक	आधिक्य excess
अपरिमेय	जिसे नापा न जा सके immesurable
अप्रयुज्य	प्रयोग में आने से बचा हुआ unused
अस्थैर्योत्स	अस्थिरता का स्रोत The source instability
अप्रतर्क्य	तर्कबुद्धि से परे beyond reason
अपवाह	अनुनियम corollary

अपूर्व	संचित कर्मों का कोष, (विशेष कर यज्ञ कर्मों का) destiny, accumulated values specially of sacrificial acts
अवान्तर	गौण, मध्यवर्ती secondary
अपथगामी	धर्मभ्रष्ट heretic
आक्षिप्त	लाक्षणिक अर्थ implied meaning
आगन्तुक	बाहरी, सांयोगिक accidental, not internal
आच्छन्न	ढका हुआ covered
आनुषंगिक	संलग्न, अध्याहार्य related, implied
आन्वयिक	सम्बन्धविषयक pertaining to relation
आपातरमणीय	मोहक, सहज आकर्षक facinating
आप्तपुरुष	विश्वसनीय व्यक्ति reliable person
आप्त-आलम्बन	विश्वसनीय आधार reliable ground
आभोग	विस्तार expanse
आभ्यन्तर	अन्तरंग inner
इ -औ	
इतिकर्तव्यता	विधि के क्रियान्वयन का तरीका mode of action
इन्द्रियवित्त	इन्द्रियों की निर्विकल्प उपलब्धि sense data
इयत्ता	सीमा limit
उत्तरकल्प	बाद का रूप subsequent mode
उत्प्रेरक	प्रवर्तक drive
उत्संग	गोद lap
उपक्रम	उद्यम, प्रयत्न industry, initiative
उपक्रमित	समारब्ध initiated
उपपत्ति	प्राप्ति, निगमन deduction
उपस्कर	सहायक सामग्री accessories
उपवर्णन	विशेष विवरण details
उपान्त	सान्निध्य proximity
एकत्वापादक	एकीभाव का आधान करने वाला unifying principle

ऐकान्तिक	अव्यभिचरित सहचार unswerving relationship
औत्पत्तिक	मौलिक originative
क -घ	
कर्तृत्व	कर्तृभाव doership
कथंकार	कर्म करने की रीति mode of work
कर्षित(व्याख्या)	खींचा हुआ, खींच तान कर की गई व्याख्या strained interpretation
कामात्मवाद	कामनाओं को ही परमार्थ मानने वाला मत the view which upholds desires as the essence of life
कषायमुक्त	निर्मल, दोषमुक्त free from blemishes
कुयोग	गलत प्रयोग undesirable application
गत्यात्मक	गतिशील dynamic
गुम्फित	गुथा हुआ interwoven
गुह्योपासक	गुप्त साधना करने वाले mystics
च -झ	
चूडान्तोपलब्धि	चरम उपलब्धि highest achievement
जहदजहल्लक्षणा	लक्षणा का प्रकार विशेष a mode of determining the secondary meaning of a sentence
त- न	
तादात्म्य	स्वरूप identity
तादात्म्यभाव	स्वरूप-चेतना, आत्मभाव identification
तितिक्षा	कष्टसहिष्णुता endurance, forbearance
तत्त्वमीमांसा	तत्त्वविचार metaphysics
धर्माभास	धर्म का दिखावा appearance of faith different from its reality
धर्मसम्मोह	कर्तव्यविभ्रम confusion about faith
निर्वैयक्तिक	व्यापक, जो व्यक्तिगत न हो impersonal
निगमन	तर्कित निष्कर्ष deduction
निदर्शन	उदाहरण, उदाहरण के द्वारा सिद्ध करना example, demonstration
निमित्त कारण	कार्य का साधक उपकरण instrumental cause

नयतिवाद	सब कुछ पूर्वनिर्धारित है ऐसी मान्यता determinism
निरापद	अविकल, सहज unobstructed
निःश्शेष	निरवशेष, जिसका कुछ न बचे, समग्र, without any remainder, entire
निदिध्यासन	ध्यान meditation
निष्पत्ति	उद्भव, परिपाक birth, production, consummation
निदान	रोग का लक्षण symptom
निवर्तक शर्त	किसी निषेध के द्वारा कही गई शर्त negative condition
निष्कृष्टार्थ	अन्तिम निष्कर्ष, निचोड़ consummate meaning
निरवयव	अवयव-रहित, अविखण्डनीय without parts
निर्व्यलीक	निर्दोष immaculate
निरोधप्रसूत	(नैतिक) अनुशासन से प्राप्त begotten of moral constraint
निपात	घटित होना To happen
नृतत्त्वशास्त्रीय	मानवशास्त्र से सम्बन्धित anthropological
नैरन्तर्य	निरन्तरता continuity
परप्रत्ययनेयबुद्धि	जिनकी बुद्धि दूसरों के भरोसे चलती है Led by others
परातलीय	तल-मूल का अध्ययन करने वाला शास्त्र, meta-discipline
परापुस्तकीय	पुस्तक (शास्त्रों) से परे, trans-scriptural
परिकल्प	विचार, सिद्धान्त concept, hypothesis
परिनिष्ठित	प्रतिष्ठित settled
परिवेशोन्मुख	परिवेशचेता environment -oriented
परिवृत्त	प्रत्यावर्तित, पीछे मुड़ा हुआ looking back, reflexive
परिस्फुटित	पूरी तरह विकसित, सुव्यक्त, evolved, expressed
पारतंत्र्यानुबंध	परतंत्रता में बांधने वाला
पुनरुक्ति	कहे हुए को दुहराना (एक शैलीदोष) repetition
पुरागाथाकल्पित	पुरागाथाओं में जिसकी कल्पना की गई As imagined in mythology
पुस्तकपंथ	शास्त्रनिष्ठ धर्म scripture -based faith
पूर्वकल्पित	अन्तर्निहित सिद्धान्त A pre-supposed notion
पूर्वकल्प	पूर्वानुमन्यसिद्धान्त A pre-supposition

पौर्वापर्य	पहले और बाद के क्रम orders prior and posterior
प्रज्ञावाद	बुद्धिवाद intellectualism
प्रतिज्ञात	साध्य रूप में प्रस्तुत स्थापना basic premise
प्रतिध्रुव	विपरीत ध्रुव anti-counter
प्रतिबद्धता	वैचारिक निष्ठा commitment
प्रतिबन्धक	बाधक obstructive
प्रतिमाकरण	आकार देना, मानवीकरण To mould, To personify
प्रतियोगी	सम्बन्धी, निषेध का विषय counter-positive (of negation)
प्रतीत्यसमुत्पाद	कार्यकारणभाव-विषयक बौद्धमत The buddhist theory of causation
प्रतीयमान	दृश्य apparent
प्रत्यवाय	वैदिक कर्म के विधिपूर्वक न किए जाने से उत्पन्न दोष, sin ensued due to flawed performance of vedic ritual
प्रत्याख्यान	खण्डन refutation
प्रत्यागम	वापसी a come back
प्रध्वंसाभाव	वस्तु के नष्ट होने से उत्पन्न उसका अभाव negation due to destruction of a thing
प्रवृत्तिनिमित्त	उत्प्रेरक drive, motive
प्रसक्ति	संयोग, सम्भावना का घटित होना application, conclusion
प्रस्थान	प्रारम्भबिन्दु point of departure
प्रस्थानपीठ	प्रस्थानभूमि station for departure
प्रागभाव	उत्पत्ति से पूर्व कार्य के अभाव का नाम name of negation prior production of an effect
फलश्रुति	किसी अनुष्ठान के फल को बताने वाले वाक्य utterances specifying munificences of an act
फलाभिसंधि	फल में आसक्ति attachment to the fruit of an act
बुद्धिकल्प	विचार concept
भोक्तृत्व	भोक्ता होने का भाव enjoyership
भेदप्रतियोगी	भेद का विषय The counter of difference

भेदोपहित-तादात्माभाव भेदविशिष्ट स्वरूपबोध identity in difference
भैक्ष्यचर्या भिक्षाटन mendicancy
भोगायतन शरीर body

य -व

यथार्थीकरण सम्भावना का साकार होना realization of a possibility
यादृच्छिक सांयोगिक accidental
रैखिकक्रम रेखा के आकार का अनुसरण करता विकास(व्याख्या) का क्रम linear order
लोकापवाद लोकनिन्दा infamy, disreputation
लक्षण व्यावर्तक गुण, परिभाषा attribute, definition
वर्तुल गोल, गोलाकार circular
वस्तुगर्भ तथ्य fact
वस्तुनिष्ठ तथ्यपरक factual, objective
वस्तुसंवादी वस्तुसमरूप(ज्ञान) (knowledge)corresponding with fact
विग्रह शरीर, प्रतिमा body, image
विच्युति पतन decline
वितृष्णा अरुचि dislike
विधेयात्मा अनुशासन का क्षेत्र(व्यक्तित्व) subject of discipline
विनियोग विधि का प्रयोग, परामर्श application
विपर्यस्त विपरीत, उलटा upside down
विपरिणाम विकार vitiation
विरूद्धार्थग्रन्थि एक अभिव्यक्ति में विरोधी अर्थों का गुम्फन paradox
विसंगति विरोध inconsistency
विसंवाद विरोध inconsistency
विसृष्ट विसर्जित, छोड़ा हुआ released
वैकारिक विकारधर्मी वैकृतिक subject to modification
वैनाशिक अशाश्वतवादी, बौद्ध Buddhists, nihilists
व्यतिरेकी भिन्न divergent
व्यतिरेकमुखेन भेदमूलक निर्वचन, differentiative description

व्याख्याकल्प	व्याख्या की विधि method of interpretation
व्यामोह	विभ्रम delusion
व्यवहारलक्षण	व्यवहारोपयोगी लक्षण, कामचलाऊ परिभाषा working definition
श -ह	
शाश्वतवादी	आत्मा को शाश्वत मानने वाला one who upholds immutability of the soul
शील	नैतिक सम्पदा virtue
श्रेयोपपत्ति	श्रेय की प्राप्ति realization of the good
संकोच	संकुचन contraction
संघात	संग्रह conglomerate
संबोध्य	जिसे सम्बोधित किया जाए the person addressed
संवाहक	(विचार या भावनाओं के) संचार का माध्यम medium, channel
संविदानिबद्ध	समझौते से बधा हुआ contractual relationship
संवेद्य	ज्ञान का विषय object of knowledge
समाध्युपलक्षित	समाधि के द्वारा संकेतित indicated by samadhi (yogic-experience)
समीक्षार्ह	दोषपूर्ण, आलोचनीय flawed, criticizable
समीक्षार्हता	आलोचना के योग्य inviting criticism
सम्पीडित	सारभूत, अर्थ गौरव से युक्त compressed , pregnant with meaning
सर्वोपसंहारी	निर्णायक all conclusive
सातत्य	निरन्तरता continuity To explain,
स्वरूपलक्षण	स्वरूपविमर्श से प्राप्त लक्षण essential definition
स्फुटीकरण	व्याख्या करना, विवरण देना To bring out inner significance
स्वरूपोपपत्ति	स्वरूप का युक्तियुक्त विवरण explanation of an identity
स्वारस्य	रहस्य Quintessence
हेयोपादेय	हानि और लाभ के विषय object of aversion and pursuit

■ ■ ■

लेखक के प्रकाशित ग्रन्थ :

1. **The Concept of self-luminosity of Knowledge in Advaita-Vedanta**

2. **Re-Visiting Sakuntalam -- A Commentary on Goethe's Sakuntala-Epigram**

3. श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम् (प्रथमो भागः)

4. श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम् (द्वितीयो भागः)

5. श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम् (तृतीयो भागः)

प्रकाश्य ग्रन्थ :

१. श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यभूमिका

३. श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम् (चतुर्थो भागः)